'हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय' अश्क जी द्वारा समय-समय पर कहानी के सम्बन्ध मे लिखे गये सुविचारित एवं सुनियोजित लेखो, आलोचनाओं, परिचयात्मक टिप्पणियों, व्यक्तिगत सम्मतियो और आशंसाओं का एकत्र संकलन है।

निश्चय ही यह पुस्तक कहानी की शास्त्रीय व्याख्या से सम्बद्ध नही है। अश्क जी एक तरह से हिन्दी कहानी की सम्पूर्ण रचना-यात्रा के साक्षी रहे हैं। और इस तरह कहानी के विकास के विभिन्न पहलुओं पर व्यक्त किये गये उनके विचार एक ऐतिहासिक दस्तावेज की हैसियत रखते हैं।

हिन्दी कहानी :
एक अन्तरंग परिचय

सम्पादन

सम्पादक-मंडल : नीलाभ प्रकाशन

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद-१

आमुख

•

'हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय' श्री उपेन्द्रनाथ अश्क द्वारा समय-समय पर कहानी के सम्बन्ध में लिखे गये सुविचारित एवं सुनियोजित लेखों, आलोचनाओ, परिचयात्मक टिप्पणियों, व्यक्तिगत सम्मतियो, और आशंसाओं का एकत्र संकलन है। अब यह एक सर्वमान्य तथ्य-सा बन गया है कि हिन्दी कहानी के क्षेत्र में पिछले चालीस वर्षों से अश्क जी ने जितना सक्रिय और अनवरत परिश्रम किया है, उतना उनके किसी दूसरे समकालीन ने (सम्भवतः) नही। अश्क जी की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होने कहानी की किसी भी रूढि में बँध कर अपनी रचनात्मक सक्रियता को कुंठित नही होने दिया। अनुभव-समापन के बाद अनुभव के नये क्षितिजों की उसी तत्परता से खोज (बाह्य और आन्तरिक) उनके कहानी-लेखन के विकास में हर जगह मिलेगी। नये अनुभवो की खोज का यह उत्साह और संलग्नता उन्हें उनके समकालीनो से लगातार अलग करती चलती है। और इसीलिए जब दूसरे, आज इतिहास का एक पृष्ठ बन कर सुरक्षा की दीवारो में कैद हो गये है, अश्क जी अपनी उसी निरन्तरता से, नित नये जोखिम उठाते चल रहे हैं और तरह-तरह के विवादों का केन्द्र बने हुए हैं। निश्चय ही यह विवादास्पदता एक अग्रिम जीवन्तता का लक्षण है।

जाहिर है कि रचनात्मक दृष्टि से सक्रिय कोई भी लेखक अपनी रचना की आन्तरिक माँगो और उसकी उपपत्तियो, उसके इतिहास और उसके विकास, उसकी प्राप्तियो और उपलब्धियो पर भी साथ-साथ विचार करने के लिए समय-समय पर अपने को विवश पाता है। अश्क जी की यह पुस्तक कहानी सम्बन्धी विचार की इसी अनिवार्यता को द्योतित करती है। **अश्क जी न तो पेशेवर आलोचक हैं न आलोचना को उसके उसी रूप मे वे कोई विशेष महत्व देते** हैं। बल्कि इसकी जगह कृति की विवेचनात्मक अनिवार्यता से उद्भूत विचार-शृंखला को अभिव्यक्ति देने के आग्रह को वे अधिक महत्व देते है। किसी भी कृति की **विवेचनात्मक अनिवार्यता** से जो आलोचना-सामग्री उद्भूत नही है, वह कही-न-कही, किन्ही गलत आग्रहो को अवश्य ही प्रश्रय देगी और अक्सर ऐसी ही आलोचना साहित्य-क्षेत्र मे एक गलत विवाद और कभी-कभी अपनी अतिवादी, पूर्व-नियोजित, स्वार्थपरक पक्षधरता के कारण कुछ समय तक के लिए एक गलत इतिहास का निर्माण करती है। इस तरह की पक्षधरता और गलत विवाद और इस तरह के गलत इतिहास का खण्डन करना हर सच्चे,

रचनाधर्मी कलाकार का अधिकार है। . हिन्दी कहानी-लेखन के क्षेत्र में पिछले दशक मे कुछ-कुछ इसी तरह की स्वार्थ-परक पक्षधरता के कारण अनेक भ्रामक धारणाओ और तथ्यहीनताओं को प्रश्रय मिलता रहा है। 'हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय' में इन भ्रामक धारणाओं का पूर्णतः पर्दाफाश किया गया है, और जो अभिसंधियाँ आलोचना के नाम पर पाठक, लेखक और कहानी के विकसनशील इतिहास के इर्द-गिर्द रची जाती रही हैं, उनसे अलग, कहानी के विकास का एक सच्चा, तथ्यपरक और कलात्मक लेखा-जोखा इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी कहानी के विकास से सम्बद्ध विविध संस्थानों, युगो, धारणाओ एवं व्यक्ति कहानी-लेखकों के बारे में पहली बार यह पुस्तक इतनी निर्ममता और साथ ही इतनी आत्मीयता से अपना तटस्थ विवरण प्रस्तुत करती है।

निश्चय ही यह पुस्तक कहानी की शास्त्रीय व्याख्या से सम्बद्ध नही है। श्री उपेन्द्रनाथ अश्क एक तरह से हिन्दी कहानी की सम्पूर्ण रचना-यात्रा के साक्षी रहे है। प्रेमचन्द के ज़माने से लिखना शुरू करके वे आज सन् १९६७ मे भी उतनी ही सक्रियता से कहानी लेखन में निरत है। इस तरह कहानी के विकास के विभिन्न युगो और विभिन्न पहलुओं पर व्यक्त किये गये उनके विचार एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ की हैसियत रखते हैं। पुस्तक के विभिन्न अध्यायों के देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। प्रेमचन्द युग तथा उसके बाद विकसित और उद्भावित अनेक आन्दोलनो और कहानी के वस्तु तथा शिल्प सम्बन्धी परिवर्तनो पर उन्होने अत्यन्त सतर्कता से अपनी लेखनी चलायी है। 'नयी कहानी' आन्दोलन के तथ्यों, उसकी आन्तरिक दुर्बलताओ, और उपलब्धियो पर यदि अश्क ने विस्तार से प्रकाश डाला है तो साथ ही उन्होने सातवें दशक के कहानी-आन्दोलनो की भी उतनी ही निर्ममता से समीक्षा प्रस्तुत की है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिन्दी-कहानी के सम्बन्ध मे एक कहानीकार द्वारा, कहानी के समस्त पहलुओं पर विचार की अनिवार्य सार्थकता से उद्भूत यह पहली पुस्तक है और अपने नाम के अनुरूप ही पाठक, आलोचक एवं शोध-छात्रो तथा नये कहानी-लेखकों के सामने हिन्दी कहानी की अन्तरंग यात्रा को प्रस्तुत करती है और इस तरह एक नये कोण से वचार-विनिमय और रचना-सक्रियता को प्रोत्साहित करती है।

'नीलाभ प्रकाशन' के सम्पादक मंडल के अतिरिक्त, ग्रन्थ के सम्पादन मे जिन मित्रो ने सहायता दी है, उनके प्रति आभार प्रकट करना उनके सौजन्य और सौहार्द्र को झुठलाना होगा।

—प्रकाशक

संकेत

प्रारम्भ

नयी-कहानी

पत्र-परिचर्चा

हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय

प्रारम्भ

प्रसंग परिचय

●

अश्क जी १९२६ से उर्दू कहानी-क्षेत्र में आये (इससे पहले वे पंजाबी और उर्दू में कविता किया करते थे)। १९३३ से वे हिन्दी में भी छपनें लगे। लेकिन '२६ से '३६ तक के इन वर्षों में, यद्यपि उन्होंने ५० से ऊपर कहानियाँ लिखीं (भले ही वे हिन्दी में न छपी हों) कहानी-सम्बन्धी उनके विचारों का कोई आभास हमें नहीं मिलता।

इस संदर्भ में उनका पहला लेख—जिसे पुस्तक में हम 'कहानी कला-१' शीर्षक से दे रहे हैं—१९३८ में लिखा गया। यह हिन्दी कहानियों के एक संकलन में भूमिका स्वरूप छपा। इस लेख के दो वर्ष बाद उन्होंने, उसी विषय पर, दूसरा लेख लिखा जो प्रस्तुत संग्रह में 'कहानी कला-२' के नाम से संकलित है। यह हिन्दी में 'कहानी' (वर्ष ३, अंक १) में छपा औ र उर्दू में 'अदबे लतीफ़' में प्रकाशित हुआ। प्रकट है कि कहानी कला-सम्बन्धी अपनें तात्कालिक विचारों को उन्होने इस दूसरे लेख में और भी स्पष्ट रूप दिया। इस लेख का आधार स्पष्टतः पहला लेख है (एक पैरा दोनों में लगभग एक-सा है।) पर उस पहले लेख में व्यक्त धारणाओं को नये दृष्टान्त दे कर उन्होंनें और भी अच्छी तरह इस दूसरे लेख में समझाया है।

इन दो लेखों से हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक काल की, कला-शिल्प सम्बन्धी मान्यताओं का भली-भाँति पता चलता है। लेकिन कहानी के शिल्प और वस्तु के सम्बन्ध में स्वयं अश्क जी के विचारों की जो झलक इन आरम्भिक लेखों में मिलती है, उसकी अनुगूंज बार-बार उनके बाद के लेखों में सुनायी देती है—विशेषकर कहानी की सोद्देश्यता तथा शिल्प के सौष्ठव को ले कर—इसी कारण इन्हें प्रस्तुत संग्रह में संकलित किया जा रहा है।

इस खण्ड के दो शेष लेख लगभग दस वर्ष के अन्तराल पर लिखे गये। प्रकट ही जीवन और सृजन के संघर्ष ने अश्क जी को अपने कथा-सम्बन्धी विचार फिर व्यक्त करने का अवसर नहीं दिया।

१९५० के करीब उन्होने 'आधुनिक हिन्दी कहानी' सम्बन्धी वार्ता कदाचित आकाशवाणी, इलाहाबाद के लिए लिखी। इसका महत्व इतना ही है

कि इससे कथा-क्षेत्र में १९४८ से '५० के लगभग कार्यरत लेखकों का पता चलता है, जिनमें अधिकांश आज मौन हो गये है, अथवा कभी-कभी एक-आध साँस छोड़ कर जीते रहने का आभास दे देते हैं।

'हिन्दी कथा-साहित्य में गतिरोध' १९५५ में लिखा गया। 'नया साहित्य' लखनऊ में छपा और बाद में लेखक के संस्मरण-निबन्ध-संग्रह 'रेखाएँ और चित्र' में संकलित हुआ। प्रसंगवश वह इस संग्रह में लेखक के संशोधन के साथ संकलित किया जा रहा है।

हिन्दी कहानी साहित्य के इतिहास में इस लेख का विशेष महत्व है। क्योंकि न केवल इस लेख से हिन्दी कथा-क्षेत्र में तथाकथित 'नयी कहानी आन्दोलन' से किंचित पहले की स्थिति का आभास मिलता है, वरन् लगभग तीस वर्ष तक कहानियाँ लिखते रहने के बाद इस लेख में अश्क जी ने खुल कर और स्पष्ट रूप से अपने समकालीनों के सम्बन्ध में पहली बार लिखा है। चूँकि वे स्वयं इस तथाकथित गत्यवरोध के जमाने में भी न केवल सतत लिखते रहे, वरन् उन्होंने 'बच्चे,' 'टेबल लैण्ड,' 'मिस्टर घटपाण्डेय,' 'काले साहब,' 'चारा काटने की मशीन', 'दालिए,' 'ज्ञानी,' 'लिरंजाइटिस' और 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' जैसी सशक्त और प्रसिद्ध कहानियाँ लिखीं, जिनकी बुनियाद पर नये कहानीकारों ने अपने सृजन की भीतें उठायीं।

इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि अश्क जी ने ही १९५६ में 'संकेत' के माध्यम से 'नये कथाकारों' को पहली बार संकलित रूप से छापा और उनके सम्पादन में छपी कहानियों का उल्लेख बार-बार नयी कहानी-आन्दोलन के संदर्भ में आया। अश्क जी में अपार जिज्ञासा, गुण-ग्राहकता और रसज्ञता है। हिन्दी-उर्दू साहित्य में शायद ही कोई ऐसा लेखक होगा जिसने उनकी तरह पूर्ववर्तियों, समकालीनों और परवर्तियों की रचनाओं का, रस ले कर, इतनी गहराई से, अध्ययन किया हो और जो रचनाएँ भायीं हो, उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की हो। यही कारण है कि जब उनके पदचिह्नो पर चलने वाले लेखक पुराने पड़ते दिखायी देते हैं, अश्क जी स्वयं आज भी नये है और कथा-क्षेत्र के हर आन्दोलन के साथ रहते हुए भी उन्होने नितान्त निरपेक्ष भाव से उसका जायजा लिया है और आन्दोलनो में आगे आने वालों का पथ प्रशस्त किया है। इस पुस्तक में संकलित 'नयी कहानी' और 'सातवें दशक की कहानी' वाले लेख इस कथन के साक्षी हैं।

●

कहानी कला-१

●

कहानी उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव।
सृष्टि के प्रारम्भ में जब एक सुनाने वाले को दूसरा सुनने वाला मिला, तभी शायद कहानी ने जन्म लिया। आखिर अपनी अपूर्ण परिभाषा मे कहानी है ही क्या ?—किसी घटना का वर्णन-मात्र !—मनुष्य के जीवन मे जब भी पहली घटना घटी, सुनाने के लिए जब भी उसके पास कुछ हुआ, सुनने के लिए जब भी उसे कोई मिला, तभी कहानी ने जन्म लिया।

ज़रा कल्पना कीजिए कि प्राचीन काल का कोई व्यक्ति, जो नही जानता कि यह जो विशाल पृथ्वी उसके सामने खुली पडी है, सहस्रों वस्तुएँ और पदार्थ पैदा करने की क्षमता रखती है; नही जानता, किस प्रकार हल चलाया जाय, बीज बोया जाय और पृथ्वी से अन्न उपजाया जाय; और, जिसकी पेट-पूजा का एकमात्र आधार मृगया है।—कल्पना कीजिए कि आदि काल का ऐसा ही कोई पुरुष किसी हिंस्र पशु के शिकार को निकलता है। उस पशु के पीछे वह बहुत दूर तक चला जाता है—झाड़ियो से उलझता, झाड़-झखाड़ को पार करता; अंत में ऐसी जगह आ जाती है कि पशु आगे नही बढ़ सकता। पलट कर, शत्रोरभिमुख हो, वह द्वन्द्व को तैयार हो जाता है। दोनो एक-दूसरे पर झपटते हैं। युद्ध होता है। शिकारी घायल तो हो जाता है, पर अपने शिकार को वह मार गिराता है और अपने घाव की परवाह न करके अपने निवास-स्थान को वापस आ जाता है। अब यदि उसका एक भी साथी है, शिकारी को बात करनी आती है और उसका साथी उसकी बात समझने की योग्यता रखता है, तो यह स्वाभाविक है कि वह अपने साथी को, उस हिंस्र पशु से अपनी मुठभेड़ की कहानी सुनाये।

सुनाने के लिए जिसके पास कोई घटना है, कंठ जिसका मूक नही है, वह उसे सुनायेगा ही, और जो वह सुनायेगा वह किसी-न-किसी रूप में कहानी ही की सूरत लेगा। अब यदि वह शिकारी बातूनी है, या शिकार मे अपनी सफलता पर गर्व से फूला नही समाता, तो वह उस घटना को बढ़ा-चढ़ा कर और भी ज्यादा दिलचस्प बना कर बयान करेगा।

यहीं अपरिपक्व कहानी में कला का समावेश होता है।

फिर ज्यों-ज्यों मानव जाति का इतिहास पुराना होता जाता है, जीवन में व्यापकता और विविधता आती जाती है ; घटनाएँ अधिक होती हैं, सुनाने के लिए बहुत तरह से बहुत कुछ होता है ; कहानी भी व्यापक और विभिन्न रूप धारण करती जाती है। आज के युग मे कहानी उतनी ही व्यापक है जितना कि जीवन, और कला उतनी ही सुघरी हुई है जितनी की सुघड़ता !

प्राचीन हिन्दी कहानी

कहानी के बीज, जैसा कि मैंने कहा, आदि-काल के उस शिकारी की कहानी में भी हैं। वे हैं—घटना और उस घटना की मनोरंजकता। यदि घटना दिलचस्प नही, तो सुनने वाला ऊब जायगा और कोई और बात सुनने की इच्छा करेगा। यह मानव-स्वभाव है। कहानी जब सुनायी जाती थी, तब उस काल के कहानी सुनाने वालों को, और बाद को जब लिखी जाने लगी तो उस काल के आरम्भिक लेखकों को, इस बात का ज्ञान था। यही कारण है कि हमें प्राचीन काल की कहानियाँ, आज की कला के अनुसार, चाहे कितनी ही अस्वाभाविक तथा काल्पनिक लगे, हम उनके एक गुण से इनकार नही कर सकते—और वह गुण है उनकी मनोरंजकता। प्राचीन सस्कृत साहित्य की कहानियाँ, अध्यात्मविषयक हों अथवा सामाजिक, उनमें दिलचस्पी ज़रूर थी। इस सम्बन्ध में हम पंचतंत्र और बैताल-पचीसी का नाम ले सकते है। अरब और फारस की कहानियों मे भी यह दिलचस्पी कम नही थी। अलिफ़-लैला आज भी उतनी ही दिलचस्पी से पढी जाती है। उर्दू के प्रारम्भिक काल की कहानियों पर नज़र डालिए, 'फ़िसाना-ए-आजाद' और अन्य तत्कालीन कृतियाँ खूब मनोरजक हैं। लेखकों ने दिलचस्पी पैदा करने के लिए अपनी कहानियों को कौतूहल-प्रधान बनाया या उन में हास्य-रस का पुट दिया। मनोवैज्ञानिक विश्लेपण आपको वहाँ न मिलेगा। इसके कई कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि उस समय कहानी को साहित्य का अंग नहीं माना जाता था। कविता का बोलवाला था। कहानियाँ लिखी नहीं जाती थी, सुनायी जाती थीं और चूँकि सुनाने वालों के सामने उनके श्रोताओं की दिलचस्पी मुख्य ध्येय था, इसलिए वे अपनी कहानी को अधिक-से-अधिक कौतूहल-पूर्ण बनाते थे। मनोवैज्ञानिक विश्लेपण के लिए तब कोई जगह नही थीं। आज यदि हमें कहानी मे कोई बात समझ न आये, तो हम दो पृष्ठ उलट कर उसे फिर पढ़ सकते हैं। तब ऐसी बात न थी। कहानी कहने वालों के सामने श्रोताओं को मन्त्र-

मुग्ध बैठाये रखना आवश्यक था; इसलिए घटना के बाद घटना का वर्णन करके वे श्रोताओं के कौतूहल को बढ़ाये जाते थे। पहले क्या हुआ, यह सोचने का अवकाश श्रोताओं को न मिलता। आगे क्या होगा, इसकी उत्सुकता बनी रहती। ज्यों-ज्यों कहानी बढ़ती, रहस्य और भी गहरा और भी जटिल होता जाता, यहाँ तक कि जब कहानी समाप्त होती, लोग 'वाह-वाह' कर उठते और ऐसी उत्तम कहानी गढ़ने के लिए सुनाने वाले की प्रशंसा करते। बाद को जब कहानी लिखी जाने लगी तो उसका यह गुण वैसे-का-वैसा बना रहा।

हिन्दी मे कहानी की सबसे पहली पुस्तकें अपने अत्यन्त अपरिपक्व रूप में वैष्णवकाल, अर्थात् १६वीं शताब्दी में गोकुलनाथकृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के नाम से मिलती हैं। इनके बाद संवत् १६८० (विक्रमीय) में जटमल ने 'गोरा-बादल की कथा' रची, जिसका आधार एक ऐतिहासिक घटना थी। इसके बाद १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक गद्य में कोई पुस्तक नही मिलती। इसका यह मतलब नहीं कि उस समय घटनाएँ नहीं होती थी, या कहानी सुनने-सुनाने की रुचि न थी। कारण यह था कि लोग जो कुछ सुनना या सुनाना चाहते थे, काव्य द्वारा सुनना-सुनाना चाहते थे। 'प्रेम-मार्गी सूफी-शाखा' के कवियों ने पद्य में ही कहानियाँ लिखी। जायसी का 'पद्मावत' इसका उत्तम उदाहरण है। गद्य मे कहानी न लिखे जाने का दूसरा कारण यह भी था कि उस समय आज की तरह छापेखाने की सुविधाएँ उपलब्ध न थी, इसलिए कहानी अपने साहित्यिक रूप मे सामने न आ सकी। जो भी हो, १६वी-१७वी शताब्दी के बाद १९वी शताब्दी मे ही हिन्दी-गद्य को कुछ उत्तेजना मिली।

हिन्दी-गद्य के विकास का एक बड़ा कारण ब्रिटिश-राज्य की स्थापना थी। अंग्रेज-शासको ने यह अनुभव किया कि भारतीय भाषाओं का ज्ञान उनके लिए परमावश्यक है। कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना १७९१ में हो चुकी थी। इसी कॉलेज के कुछ अध्यापको को हिन्दी-गद्य मे पुस्तकें लिखने के लिए प्रेरित किया गया। गद्य के विकास के परिणामस्वरूप कहानी की कुछ पुस्तकों का आविर्भाव हुआ। इसी कॉलेज के पंडित लल्लूलाल जी ने, न केवल प्रेमसागर ही लिखा, वरन् तीन कहानी ग्रन्थों—'बैतालपच्चीसी,' 'सिंहासनबत्तीसी,' और 'माधोनल'—की भी रचना की। ये तीनों संस्कृत से अनूदित हैं। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के दूसरे अध्यापक श्री सदल मिश्र थे। ये भी आरम्भिक गद्य के प्रतिष्ठापको में गिने जाते है। इन्होने 'चन्द्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' नाम की कहानी-पुस्तक लिखी। यह भी संस्कृत से

अनूदित है। इसी समय सैयद इंशा अल्लाह खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। यह मौलिक रचना है। इसकी भाषा सरल और हृदयग्राही है।

इन आरम्भिक रचनाओं के पश्चात् 'हरिश्चन्द्र युग' में संस्कृत से जो अनुवाद हुए, उन्हें देख कर एक बात का आभास अवश्य मिलेगा और वह यह कि वे सब के सब प्रायः अध्यात्म-विषयक थे। मनोरंजकता उनमें थी, पर उनका बड़ा गुण उनका अध्यात्म-विषयक होना था। यों भी, जैसा कि हमने कहा, प्राचीन कहानियाँ, घटनाओं के कहने या मानव जीवन के रहस्यों पर प्रकाश डालने के लिए उतनी नहीं लिखी जाती थी, जितनी धर्म-प्रचार के लिए। ब्राह्मण, उपनिषद, महाभारत आदि मे ऐसी ही कहानियाँ मिलती है। बाइबल में दृष्टान्तों और उपाख्यानो द्वारा ही धर्म के तत्व समझाये गये हैं। हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियाँ भी ऐसी ही थीं—चाहे वे गद्य की हों या पद्य की।

कहानी को महज कहानी के लिए, केवल मनोरंजकता के लिए, लिखने का श्रेय हिन्दी में बाबू देवकीनन्दन खत्री को है, और इस उद्देश्य से पुराने कहानी कहने वालो की तरह उन्होंने अपनी रचनाओ को कौतूहल-प्रधान बनाया। 'चन्द्रकान्ता संतति,' 'भूतनाथ,' 'वीरेन्द्र वीर' और 'कुसुम कुमारी' आदि उपन्यास इसी तरह के है और इतने दिलचस्प, कि आज भी चाव से पढ़े जाते हैं।

आधुनिक कहानी

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। 'चन्द्रकान्ता संतति' तथा इसी प्रकार की कौतूहल-प्रधान कहानियाँ हर उम्र मे नहीं पढी जाती। जीवन में एक समय आता है, जब सब कुछ सुनहला दिखायी देता है। कोई गम नहीं, दुख नही, उत्तरदायित्व का बोझ नहीं, तब ऐसी चीजें पढने मे मन लगता है।

पर ज्यों ही हम, जीवन की यथार्थताओं के संघर्ष में आते है; स्वप्न जब हमारे स्वप्न नही रहते; तभी हम ऐसी कहानियों से ऊब उठते हैं। तब हम कोई ऐसी चीज़ चाहते है, जो हमारे सामने जीवन की यथार्थता को खोल कर रख दे; हमारे सुख-दुखों का दिग्दर्शन कराये; हमारी विपत्तियों में हमें सान्त्वना दे, हमारी कठिनाइयों मे हमारा पथ-प्रदर्शन करे और हमे जीवन को, मानव को, समझने में सहायता दे। साहित्य के इतिहास मे भी जिस समय वे कौतूहल-पूर्ण, मनोरंजनमात्र का या धर्म का पहलू लिये हुए, कहानियाँ लिखी गयीं, तब जीवन-संघर्ष अपेक्षा कृत कम जटिल था; जीविका का प्रश्न भी आज ऐसा

विकट न था ; लोगों के पास समय भी काफ़ी था, तब लोग बैठे धर्म-ज्ञान की चर्चा कर सकते थे, कौतूहल-पूर्ण कहानियाँ पढ़ और सुन सकते थे। पर आज, जब धर्म में, आत्मा-परमात्मा तक में लोगों की उतनी आस्था नही रही ; जब जीवन-संघर्ष ने सपने देखने वाले युवक को एकदम प्रौढ बना दिया है और रोजी-रोटी की चिन्ता ने उसके पास समय नही छोड़ा, यह आवश्यक था कि पुरानी कौतूहलपूर्ण लम्बी-लम्बी कहानियों का स्थान छोटी भावपूर्ण, जीवन से मेल खाने वाली कहानियाँ लेती। अब तक हम कहानी को उसके व्यापक अर्थ में लेते रहे हैं, जिसमें साधारण छोटी घटना से ले कर 'चन्द्रकान्ता-सतति' तक भी कहानी है, पर यही से छोटी कहानी नाम की एक नयी चीज आती है, जो अपनी पृथक् कला रखने के साथ ही आज की आवश्यकताओ को पूरा करती है।

"हमें यह मानने में संकोच न होना चाहिए कि छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने की यह कला हमने यूरोप से ली है। कम-से-कम इसका आज का विकसित रूप तो पश्चिम ही का है। यह माना कि हमारे यहाँ प्राचीन संस्कृत-साहित्य में भी कहानी थी, पर अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की भाँति साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गयी। हमने प्राचीन से जौ भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं उनका उल्लंघन करना वर्जित था, अतएव काव्य और नाटक की भाँति कथा में भी हम आगे न बढ़ सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है, जब तक उस में कुछ नवीनता न लायी जाय। एक ही तरह का काव्य, एक ही भाँति के नाटक पढ़ते-पढ़ते आदमी थक जाता है और वह नयी चीज चाहता है, चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो यह इच्छा हुई नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि जड़ीभूत हो गयी। पश्चिम प्रगति करता रहा। उसे नवीनता की भूख थी और मर्यादाओं की बेड़ियों से चिढ़! जीवन के प्रत्येक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की, असंतोष की, बेड़ियों से मुक्त हो जाने की छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रान्ति मचा दी। शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं। पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा साहित्य में विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो, पर शैली तो बिलकुल ही बदल गयी। 'अलिफ़-लैला' उस समय का आदर्श था, उसमें बहुरूपता

थी, वैचित्र्य था, कौतूहल था, रोमांस था, पर उसमें जीवन की समस्याएँ न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य रूप में इतना स्पष्ट न था।"

ऊपर का यह लम्बा उद्धरण स्व० प्रेमचन्द के एक प्रख्यात लेख से है। हिन्दी साहित्य के महारथियों में वे ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस सत्य को जाना और हिन्दी को आज की आवश्यकताओं के अनुसार कहानियाँ दी। उनसे पहले 'सरस्वती' तथा 'इन्दु' में कुछ लेखकों की सुन्दर कहानियाँ निकलीं, पर उनकी गिनती नहीं के बराबर है। श्री विशम्भरनाथ कौशिक, श्री ज्वालादत्त शर्मा, श्री जिज्जा, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह तथा स्व० जयशंकर प्रसाद की कोई-कोई कहानी मिलती है, पर स्व० प्रेमचन्द ने उनसे बहुत पहले उर्दू में लिखना आरम्भ कर दिया था, यद्यपि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में वे १९१६ मे आये। पढने को, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, उन्होने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'फ़िसाना-ए-आज़ाद' पढ़ा था, पर उनके अन्दर सृजन् की जो शक्ति तडप रही थी, वह अनुकरण मात्र से संतुष्ट न रह सकती थी। वर्तमान युग की जरूरतों को समझते हुए साहित्य के इस नये पाठक के मन ही की चीज़ उन्होंने उसे देने का प्रयास किया।

वर्त्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण और जीवन के यथार्थ स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। मनुष्य के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह स्वयं अपनी समझ में नही आता। किसी-न-किसी रूप मे वह अपनी ही अलोचना किया करता है, अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इस लिए हुआ कि मनुष्य अपने-आप को समझे। प्राचीन काल मे धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ मनुष्य को आत्मा और परमात्मा के झगड़ों मे व्यस्त रखती थी। धर्म और कर्म से पृथक् मानकर, अपने-आप को समझने की प्रवृत्ति उसमें न थी, फिर अपने पड़ोसी को, समाज को समझने की तो वात ही दूर रही। पर आज का मनुष्य अपने-आपको, अपने पड़ोसी को, अपने समाज को समझने के लिए सतर्कता से प्रयत्नशील है, इसलिए उसकी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक सत्य और जीवन की यथार्थ अनुभूतियो पर अवलम्बित हैं।

मनोवैज्ञानिक-सत्य क्या है? इसके दो-एक उदाहरण स्व० प्रेमचन्द ने अपनी एक पुस्तक की भूमिका में दिये हैं।

'साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनो-

वैज्ञानिक-सत्य है।' इस आवेग मे पिता के मनोवेगो को चित्रित करना आजकल के कहानीकार का उद्देश्य है।

'बुरा आदमी भी बुरा नहीं होता। उसमें कहीं-न-कहीं अवश्य देवता छिपा हुआ होता है। यह मनोवैज्ञानिक-सत्य है।' उस देवता को खोल कर दिखा देना आधुनिक युग के कहानीकार काम है।

'विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है, यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंक कर तैयार हो जाता है; उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है; उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं, यह मनोवैज्ञानिक-सत्य है।' आज का कहानीकार कल्पना-मात्र पर अपनी कहानी की भित्ति खड़ी न करके किसी ऐसे ही मनोवैज्ञानिक-सत्य पर उसकी नीव रखेगा और कला के दूसरे उपकरणों की सहायता से उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करेगा, सजीवता लायेगा।

मानव-जीवन में ऐसे बीसियों मनोवैज्ञानिक-सत्य है। एक घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यो को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है। कहानीकार यदि अपनी कहानी मे इसको सफलता के साथ दिखा सके तो कहानी उच्च कोटि की बनेगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को उत्तम बनाने का सबसे बडा साधन है। नित्य नये दिन जीवन मे ऐसी समस्याएं उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वन्द्व आख्यायिका को चार चाँद लगा देता है।

'न्याय-प्रिय जज को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने किसी व्यक्ति की हत्या की है—वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे या अपने जीवन के सिद्धान्तों की हत्या कर डाले? कितना भीषण द्वन्द्व है! पश्चाताप ही ऐसे द्वन्द्वों का अखंड-स्रोत है। एक भाई ने अपने भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे गिड़गिड़ा कर और अवधि माँगते देख कर क्या उस क्रूर के मन में तनिक भी पश्चाताप न होगा? यदि ऐसा न हो तो वह मनुष्य नहीं।' ऐसे द्वन्द्वो का चित्रण भी कहानी को अच्छी बनाता है।

अब हम जरा उस घटना को लें, जिसका संकेत हमने प्रारम्भ मे किया है। उस घटना को यदि वह शिकारी उसी तरह वर्णन कर देगा, तो वह घटना का एक वर्णन-मात्र ही रह जायगी, कहानी न बनेगी। अब यदि उस घटना में किसी मनोवैज्ञानिक सत्य का समावेश कर दिया जाय—जब शिकारी उस हिंस्र पशु को मार लेता है, तो उसे मालूम होता है कि वह

मादा है और उसके मरने के साथ उसके बच्चे भी मर गये हैं। तब अपने इस कृत्य पर उस दुर्दान्त व्यक्ति के मन में भी, भाव प्रवण होने के नाते, जो पश्चाताप होता है, यदि उसका जिक्र भी वह अपने साथियों से करे, तो वह घटना घटना-मात्र न रह जायगी, उसमें कहानीपन आ जायगा और यदि आज का कोई कुशल कहानीकार उस पश्चाताप को ले कर कहानी लिखेगा और उस शिकारी के हृदय पर उस घटना का जो प्रभाव पड़ा और जिस प्रकार उस घटना ने उसके जीवन के रुख को पलट दिया, उसका उल्लेख करेगा तो वह एक बहुत सुन्दर कहानी बन जायगी—मनोविज्ञान और यथार्थता का पहलू लिये हुए।

कहानी की कला

पिछले सौ वर्षों में कहानी-कला ने निश्चित रूप धारण कर लिया है। जिस प्रकार नाटक और उपन्यास की अपनी-अपनी कला है, इसी प्रकार अब कहानी की भी अपनी निश्चित कला है। यह ठीक है कि सौ वर्ष पहले तो स्वयं यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। उच्च कोटि के सामाजिक, ऐतिहासिक तथा दार्शनिक उपन्यास लिखे जाते थे, छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान नही था। हाँ भूतों और परियों की कहानियाँ लिखी जाती थीं, पर इसी एक शताब्दी मे, बल्कि इससे भी कम समय में छोटी कहानी ने साहित्य के और सभी अंगो पर विजय प्राप्त कर ली है और स्व० प्रेमचन्द के कथनानुसार यह कहना अत्युक्ति नहीं कि जैसे किसी जमाने में कविता ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है; और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान कलाकारों के उर्वर मस्तिष्क और अथक परिश्रम के कारण। हिन्दी में भी यद्यपि पैंतीस-छत्तीस वर्ष पहले आज की गल्प को कोई जानता भी न था, पर आज कोई ही ऐसी पत्रिका होगी, जिसमे एक-दो कहानियाँ न दी जाती हों। हिन्दी-कहानी को एक दम अज्ञात स्थान से निकाल कर इतने ऊँचे शिखर पर पहुँचा देने का श्रेय स्व० प्रेमचन्द को ही है।

परिभाषा : छोटी कहानी क्या है ? इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त कुछ नही कहा जा सकता कि साहित्यिक भाव-व्यंजना का यह सबसे ठीक और संतोष-जनक साधन है।

एक अंग्रेज लेखक की राय में कहानी एक पात्र के जीवन की वह महत्वपूर्ण घटना है जिसकी संक्षेप में नाटकीय ढंग से अभिव्यंजना की गयी हो।

एक दूसरे लेखक का मत है कि : कहानी संकट या उलझन में पड़े हुए पात्रों का कलापूर्ण वर्णन है, जिसका कोई निश्चित परिणाम हो।

एक तीसरे आलोचक का कहना है कि : कहानी किसी घटना के सुन्दर ढंग से वर्णन करने का नाम है।

इसी तरह विविध आलोचकों ने अपने अपने मतानुसार कहानी की विभिन्न परिभाषाएँ की है। हिन्दी मे भी कहानी क्या है? यह बताने का प्रयास किया गया है। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का मत है कि : घटनात्मक इकहरे चित्रण का नाम कहानी है और साहित्य के सभी अंगों के समान रस उसका आवश्यक गुण है।

दूसरे लेखकों ने कहानी की लम्बाई तथा दूसरे लक्षणों के विचार से उसकी सीमाएं निर्धारित करने का प्रयास किया है। मैं कहानी को परिभाषाओं की जंजीरों में बाँधने के पक्ष मे नही। समय-समय पर कहानी की परिभाषाएँ बदलती रही हैं। कल जो कहानी लिखी जाती थी, आज नहीं लिखी जाती और कौन जानता है कि हम आज की कहानियों के अनुसार लघु-कथा की जो परिभाषा देते हैं, वह कल के समाज को ग्राह्य होगी या नही? आरम्भ में किसी घटना को उत्तम ढंग से वर्णन करने को ही कहानी कहते थे। आज तक घटना एक तरह की कहानियों का मुख्य अंग रही है और अब भी है, किन्तु स्व० प्रेमचन्द जी के शब्दो मे गल्प का आधार अब घटना नही, भीतरी या वाहरी द्वन्द्वो की अभिव्यक्ति है। उसमे घटनाएँ भी आ सकती हैं और नहीं भी आ सकती। कितनी ही ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमे घटना इतनी प्रधान नहीं जितना चरित्र-चित्रण या वातावरण। तब कहानी को केवल घटनात्मक इकहरा चित्रण कह कर हम किस तरह संतुष्ट हो बैठ सकते है।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने लिखा है : वर्तमान युग की छोटी कहानी एक प्रकार की गद्य-कविता है, जो वास्तविक जीवन के आधार पर खड़ी होती है। जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्ष से उल्टा-सीधा चलता रहता है। इस सुवृहत चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति के प्रदर्शित करने में ही कहानी की विशेषता है।

जोशी जी कवि भी हैं। वे कहानी को भी कविता के रूप में देखते है।

जोशी जी का कथन वहुत से अंशों मे सत्य है। कल क्या होगा इसे कौन जानता है, पर कहानी की धारा को देख कर यह कहा जा सकता है कि :

आधुनिक छोटी कहानी एक ऐसी रचना है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य या मानव-जीवन अथवा समाज की किसी समस्या पर रखा गया

हो। और जो बिना इधर-उधर भटके सीधी अपने ध्येय पर पहुँच जाय। और यदि उसमें कोई घटना वर्णित है तो उसका चित्रण इकहरा और रस पूर्ण हो।

कहानी की यह परिभाषा मेरे विचार में काफ़ी व्यापक है। इसमे घटना-प्रधान, मनोवैज्ञानिक सत्य पर अवलम्बित अथवा जीवन की किसी वास्तविक घटना पर आश्रित—सब प्रकार की कहानियाँ आ सकती हैं, इसके साथ ही अच्छी कहानी के सबसे बडे गुणों—रस (दिलचस्पी) और कथानक के गठन का निर्देश भी इसमें कर दिया गया है।

इस रस तथा दिलचस्पी को, जो एक विद्वान समालोचक के मतानुसार कहानी का प्राण है, प्राप्त करने के लिए कुछ आवश्यक उपकरणो की आवश्यकता है। इन उपकरणों मे प्रधानता वस्तु की रहती हैं।

कथानक : कहानी घटना-प्रधान हो अथवा चरित्र-प्रधान, कथानक अथवा प्लाट उसका आवश्यक अग है। यह दूसरी बात है कि कही यह सारी कहानी पर छाया होता है और कहीं वातावरण अथवा चरित्रो के पर्दे में छिपा हुआ। किसी कहानी मे वातावरण और चरित्र इसके सामने गौण रूप धारण कर इसके सहायक बनते हैं और कही यह स्वय गौण हो उनका सहायक वन जाता है। किन्तु विचार-प्रधान तथा जीवन के किसी दृश्य को ले कर लिखी गयी कहानियों को छोड़ कर (अर्थात् उन कहानियों को छोड़ कर जिन मे कथानक नही, वरन् विशाल जीवन का कोई दृश्य मात्र वर्णित है, जैसे श्री जैनेन्द्र की 'पढ़ाई' या 'जनता') शेष मे कथानक के विना पाठको का मनोरजन नही हो सकता। रही विचार-प्रधान कहानियाँ, तो वे प्रत्येक पाठक के लिए होती भी नही। विद्वान तथा मननशील पाठक ही उनसे लाभ उठा सकते हैं। प्लाट उनमें भी नही के बराबर होता है। श्री जैनेन्द्र की 'रानी महामाया', 'नारद' आदि ऐसी ही कहानियाँ है। जीवन के किसी दृश्य को ले कर लिखी जाने वाली कहानियो मे भी घटना के नाम पर एक मध्य सी परिस्थिति होती है और उसी का यथार्थ चित्रण इन नाम-मात्र की कहानियों का गुण होता है। अन्तिम बिन्दु का वहाँ सर्वथा अभाव रहता है।

कुछ लोग जो कथानक अथवा घटना को कहानी का मुख्य अंग मानते हैं, इनको 'कहानी' का नाम देने के लिये तैयार नही। वे इन्हें कहानी और निबन्ध के बीच की चीज़ समझते हैं। कुछ भी हो, इन दो प्रकार की कहानियों को छोड़ कर शेष का प्रधान अंग कथानक होता है।

यहाँ एक बात और याद रखनी चाहिए और वह यह कि घटना कथानक का पर्यायवाची शब्द नहीं, घटना को यदि बीज कहे तो कथानक फला-फूला पौधा है। घटना यदि नींव है तो कथानक उस पर निर्मित प्रासाद है।

कथानक का महत्व : शरीर के लिए जिस प्रकार ढाँचे की आवश्यकता है, उसी प्रकार कहानी के लिए कथानक की। जबड़े की हड्डियाँ न हों तो कितना भी माँस चेहरे को सुन्दर नही बना सकता। यही हाल दूसरे अंगों का है। विचार-प्रधान अथवा दूसरी तरह की घटना-रहित कहानियाँ किसी-न-किसी रूप में कथानक रखती है, चाहे वह दृश्य अथवा परिस्थिति जिस पर कथानक निर्मित है, कितनी भी छोटी अथवा अप्रत्यक्ष क्यों न हो। किन्तु जैसे एक पहलवान के शरीर का ढाँचा एक नाचने वाले के ढाँचे से अलग होता है, इसी तरह कथानक भी लेखक की इच्छा के अनुसार विभिन्न रूप धरते हैं। एक ही घटना अथवा परिस्थिति से एक लेखक विचार-प्रधान कहानी बना देता है, दूसरा घटना-प्रधान, तीसरा चरित्र-प्रधान और चौथा वातावरण-प्रधान। कथानक के साथ दूसरे उपकरण मिल कर लेखक की इच्छा के अनुसार कहानी तैयार करते हैं। लेकिन महत्व की बात यही है कि चाहे कहानी कैसी ही हो, कथानक उसका एक मुख्य अंग रहता है। एक समालोचक ने कहा है : यदि सुनाने के लिए कुछ नहीं तो शेष रहा ही क्या ?

कथानक का गठन : आधुनिक कहानी का सबसे बड़ा गुण उसके कथानक का गठन है। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा, वह सीधी अपने ध्येय की ओर जाती है, इधर-उधर नही भटकती, रास्ते मे किसी प्रकार की रुकावट, अनावश्यक विस्तार, अप्रासगिक बातचीत सब उसे असह्य हैं। पंक्ति के साथ पंक्ति, पैरे के साथ पैरा, ऐसे गठा होना चाहिए जैसे जंजीर की कड़ियाँ। कोई पंक्ति उसमें से निकाली न जा सके, कोई बढायी न जा सके। और प्रवाह उसमें नदी का-सा होना चाहिए, बस पाठक शुरू करे कि बहता ही चला जाय। कहानी मे यह गुण प्लाट के गठन से आता है और प्लाट का गठन कहानी के आरम्भ, मध्य और अन्त पर निर्भर है। यहाँ दो-चार शब्द इन तीनों के सम्बन्ध मे कह देना अनुचित न होगा।

इससे पहले कि आरम्भ के सम्बन्ध में कुछ कहा जाय, एक और उपकरण के सिलसिले मे, जिसका सम्बन्ध आरम्भ से ही है, दो बातें कहना मैं जरूरी समझता हूँ और वह है कहानी का 'शीर्षक'।

शीर्षक : दिलचस्पी के विचार से जिसे स्व० प्रेमचन्द्र ने कहानी की आत्मा कहा है, कहानी का शीर्षक काफ़ी महत्व रखता है, आकर्षक सुन्दर शीर्षक पाठक को एक साधारण कोटि की कहानी पढ़ने के लिए विवश कर सकता है और फुसफुसा तथा कला-हीन शीर्षक एक सुन्दर कहानी को भी पाठक के अध्ययन से वचित रख सकता है।

आधुनिक काल मे उपन्यास की अपेक्षा कहानी के इतनी उन्नति करने का कारण समयाभाव है और इसी समयाभाव के कारण कहानी का शीर्षक और भी महत्व रखता है। साहित्य मे दिलचस्पी रखने वाला एक बेकार व्यक्ति शीर्षक की इतनी परवाह न करके भी केवल समय काटने के लिए कहानी पढ़ सकता है, पर जरा उस व्यक्ति की कल्पना कीजिए जिसके पास उतना समय नही, वह तो वही कहानी पढ़ेगा जो उसे पहली दृष्टि में आकृष्ट कर ले। और यही शीर्षक महत्व प्राप्त करता है।

कहानी का शीर्षक उत्तेजक, आकर्षक, मनोरजक, साकेतिक तथा प्रेरक होना चाहिए—ऐसा कि जिसे देखते ही कम-से-कम पाठक कहानी को पढ़ना शुरू कर दे—फिर कहानी के आरम्भ पर है कि वह उसे पकड़ ले, विकास पर है कि उसे अपने साथ बहा ले जाय और अन्त पर है कि उसे मन्त्र-मुग्ध बैठा दे। कहानी अच्छी हो और शीर्षक अच्छा न हो तो वह याद नही रहती। यादगार कहानियों के शीर्षक भी यादगार होते है।

आरम्भ : भाषण-दाताओं के लिए एक पुराना आदेश प्रसिद्ध है—उठो, भाषण दो और बैठ जाओ! कहानी के आरम्भ, मध्य और अन्त के लिए भी ये तीनों शब्द उपयुक्त हैं।

'उठो' जिस चुस्ती और स्फूर्ति का द्योतक है, वही कहानी के आरम्भ में होनी चाहिए। कहानी की पहली पक्तियाँ ही ऐसी हों जो पाठक को पकड़ लें, उन्हें पढ़ते ही पाठक अपने दिल मे कहानी के सम्बन्ध मे कुछ आशाएँ बना ले, कुछ प्रश्न उसके मन में उठ आयें कुछ तसवीरें उसके सामने खिच जाँय।

आरम्भ की पंक्तियाँ ऐसी हों जो बहुत थोड़े मे बहुत कुछ कह जाँय, जो पाठक के कौतूहल को, उसकी उत्सुकता को जगा दें। इसके साथ पहली पंक्तियों से ही पाठक को पता लग जाय कि यह कैसी कहानी पढने जा रहा है। उसकी कहानी विचार-प्रधान है, या घटना-प्रधान; देहात से सम्बन्ध रखती है या नगर के जीवन से; काल्पनिक है या यथार्थ का चित्र! यदि पहिले पैरे

ने उसे आकृष्ट न किया तो व्यस्त पाठक के लिए यह कठिन है कि वह आगे बढ़े। वह पृष्ठ पलटने लगेगा।

मध्य या विकास : और जब एक बार पाठक कहानी आरम्भ कर ले, और आरम्भ की पंक्तियाँ उसे पकड़ लें, तो उसकी मनोरजकता को बनाये रखने का कर्तव्य कहानी के मध्य भाग, अथवा विकास पर है। भाषण-कर्ता से जो कहा गया है—भाषण दो—तो उसका अभिप्राय यह है कि वह बिना किसी लम्बी भूमिका के, बिना इधर-उधर भटके, व्यर्थ के हेर-फेर को छोड कर, सीधा अपने विषय के सम्बन्ध मे बोले। कहानी के विकास मे कहानी-लेखक का भी यही आदर्श होना चाहिए। उसे सतर्क रहना चाहिए कि उसकी आरम्भ की पक्तियाँ जो दिलचस्पी अकुरित कर चुकी है, वह अनुकूल आहार न पाने से मुरझा न जाय।

प्रवाह : मध्य भाग का पहला गुण उसका प्रवाह है। यह प्रवाह सब से पहले वर्णन-शैली की सुन्दरता से आता है। वर्णन-शैली के कई अवयव हैं। भाषा की चुस्ती, उपयुक्त शब्दों तथा मुहावरों का उपयुक्त स्थान पर प्रयोग, वाक्यों का विन्यास, उपयुक्त खण्डों में कथानक की विभक्ति, गठन, अप्रासंगिक शब्दों तथा वाक्यों का बहिष्कार और गहरी अनुभूति—ये सब वर्णन-शैली को वर्णन-शैली बनाते हैं और शैली ही वह चीज़ है, जिससे लेखक लेखक में अंतर का पता चलता है।

सम्भाषण : विकास में जिस दूसरी बात से खूबी पैदा होती है, वह सम्भाषण है। वास्तव में यह वर्णन-शैली का ही एक अग है। सम्भाषण से कहानी में चुस्ती और नवीनता पैदा होती है। यदि कहानी एक ही तरह चली जाय तो हो सकता है कि पाठक ऊब जाय। उपयुक्त अवसर पर चन्द वाक्य कथानक मे जान पैदा कर देते हैं। सम्भाषण सजीव, संक्षिप्त और प्रासंगिक होने चाहिएं। कुछ कहानी-लेखक तो सम्भाषण ही से कहानी का आरम्भ, विकास, चरित्र-चित्रण तथा अत करते है। हिन्दी मे 'कौशिक' जी की कहानियाँ अपने सम्भाषण के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रेमचन्द की कहानी मे सम्भाषण अत्यन्त सजीव होते हैं। आधुनिक कहानी में,सम्भाषण को काफ़ी स्थान प्राप्त है।

चरित्र-चित्रण : इसके अतिरिक्त एक और गुण भी है जो साधारणतया कहानी के इस विकास में ही पैदा किया जाता है और वह है चरित्र-चित्रण।

केवल घटना-प्रधान कहानियों को छोड़ कर, जीवन की अनुभूतियो पर निर्भर शेष सब कहानियों की कसौटी चरित्र-चित्रण ही है। बहुत-सी कहानियाँ ऐसी है, जो अपने उत्तम चरित्र-चित्रण के कारण आज तक प्रसिद्ध हैं। ऐसे लेखक भी कम नहीं, जिनका नाम अब तक केवल इसीलिए अमर है कि उन्होने कुछ अमर चरित्र साहित्य को दिये। उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द का कमाल, सीधी-सरल भाषा लिखने, अलकारों और उपमाओं का उचित प्रयोग करने मे उतना नही, जितना होरी, सूरदास, प्रेमशंकर, ज्ञानशंकर ऐसे चरित्र पेश करने में है और यदि साहित्य मे उनका नाम अमर रहेगा तो यह इन्ही अमर चरित्रों के कारण।

चरित्र-चित्रण तभी सफल कहा जा सकता है जब लेखक अपनी इच्छा के अनुसार पाठकों के मन में किसी पात्र के प्रति सहानुभूति, प्रेम तथा उपेक्षा पैदा कर सके, जो स्मृति-पट से मिटाये न मिटे।

वातावरण : वर्णन-शैली का एक गुण वातावरण पैदा करना भी है। शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास और वर्णन के ढंग से वातावरण पैदा किया जाता है। कुछ कहानियाँ वातावरण-प्रधान होती हैं। उनमे लेखक ऐसा वातावरण पैदा कर देते हैं कि पाठक अपने आप को भूल कर उनमे गुम हो जाता है। रस से वातावरण कुछ भिन्न है। कहानी को पढते-पढते किसी घटना, स्थान, अथवा दृश्य का वर्णन लेखक इस तरह करता है कि पाठक पर आतक छा जाता है, या उसका हृदय धड़कने लगता है, या उसे रोमांच हो आता है और उसे भूल जाता है कि वह कुछ पढ़ रहा है ; उसे किसी चीज़ का ज्ञान नही रहता और कहानी का वातावरण उसके मन-प्राण पर छा जाता है। रस महसूस करने की, आनन्द उठाने की चीज़ है और रस मे ज्ञान जरूरी है। वातावरण का गुण विस्मृति है। मरने के बाद अशान्त रहने वाली आत्माओं की कहानियों में ; खून, डाके और चोरी की दास्तानों मे ; यथार्थता से दूर, रूमानी कथाओं मे प्राय: वातावरण की प्रधानता होती है।

अंतिम बिन्दु : अब रहा दिलचस्पी का क्षण-प्रतिक्षण बढ़ते जाना—यह बात कहानी मे जिन उपकरणो की सहायता से पैदा की जाती है उनमें पहला स्थान असमंजस और 'अतिम बिन्दु' को प्राप्त है। कथानक जिस स्थल में अपने चरमोत्कर्ष पर होता है उसे 'अतिम बिन्दु' कहते हैं। कथानक की दिलचस्पी के लिए यह जरूरी है कि अतिम बिन्दु अत के समीप हो, क्योंकि अतिम बिन्दु के बाद दिलचस्पी घटनी आरम्भ हो जाती है। आरम्भ के बाद अतिम बिन्दु तक

पाठक की उत्सुकता, उसका असमंजस बना रहना चाहिए। आगे क्या होगा, आगे क्या होगा, ऐसा ही उसका मन सोचता रहे, कि अंत आ जाय।

अंत : कहानी का अंत उतना ही महत्व रखता है, जितना कि मध्य तथा आरम्भ। यदि आरम्भ ठीक तथा स्वाभाविक है, मध्य या विकास भी संतोषजनक है, पर अंत सर्वथा अस्वाभाविक है, तो पाठक असंतुष्ट हो पुस्तक पटक देगा। इसलिए आवश्यक है कि अत्यन्त अप्रत्याशित होते हुए भी कहानी का अंत स्वाभाविक दिखायी दे, जीवन से मेल खाये, सम्भाव्य हो, असम्भव न हो। जिसे पढ़ने के बाद पाठक यह न कहे कि ऐसा हो ही नही सकता, बल्कि उसका मन कहे कि ऐसा हो सकता है।

अंत पर जा कर पाठक को संतोष मिलना चाहिए। उसे महसूस होना चाहिए कि कहानी पढ़ने पर उसने जो इतना समय लगाया है, वह व्यर्थ नहीं गया। यदि कहानी हास्य-रस की है तो पाठक का हृदय अंत पर कहकहा मार उठे; दुःख की है तो रो उठे; विस्मयजनक है तो आश्चर्यान्वित रह जाय; लोमहर्षक है तो उसे रोमांच आ जाय; किसी नुक्ते को उजागर करती है तो पाठक उस पर सोचने को विवश हो।

कुछ कहानियाँ ऐसी होती हैं जो अपने अंत के कारण पाठक के मन में अंकित हो जाती है। स्व० प्रेमचन्द जी की कहानियाँ—'शतरंज के खिलाड़ी,' 'गुल्ली-डन्डा,' 'नशा,' 'बडे भाई साहब,' ऐसी ही कहानियाँ हैं, जो अंत में दी गयी एक या दो पंक्तियों के कारण ही पाठक के स्मृति-पट पर अमिट छाप स्थापित कर जाती हैं।

लम्बाई : अंग्रेज़ी साहित्य के आरम्भिक काल के एक प्रसिद्ध कहानीकार ने कहानी की एक बड़ी ही अपूर्ण परिभाषा देते हुए कहा था : कहानी उस चीज़ को कहते हैं, जो आधे घंटे से ले कर डेढ़ घंटे तक आसानी से पढ़ी जा सके।

आधुनिक युग के एक महान अंग्रेज़ लेखक ने अभी एक जगह कहानी की परिभाषा देते हुए उसे ऐसी ही सीमाओं में बांधने का प्रयास किया है : छोटी कहानी एक कल्पित रचना है, जो एक घंटे के अन्दर पढ़ी जा सके, पढ़ने में दिलचस्प हो और उसमें प्रवाह काफ़ी हो।

किन्तु कहानी को किसी भी सीमा में बांधा नही जा सकता। साधारण अच्छी कहानी के लिए ऐसी सीमा चाहे निर्धारित कर दी जाय, पर इसे नियम नही बनाया जा सकता। बंगाल के प्रसिद्ध कलाकार शरत बाबू की

कुछ कहानियाँ—'राम की सुमति,' 'बिन्दो का लल्ला,' 'बड़ी दीदी' काफ़ी लम्बी हैं ; स्व० प्रेमचन्द की कहानियाँ—'बेटों वाली विधवा,' 'सोहाग का शव,' 'डामुल का कैदी,' 'फ़ातिहा,' बड़ी कहानियाँ हैं। जैनेन्द्र की 'स्पर्धा' तथा 'फाँसी' भी लम्बाई मे कम नही।

कहानी की कसौटी लम्बाई नही, वरन कथानक का गठन तथा लक्ष्य का सीधा रहना है। यदि कहानी आरम्भ से अंत तक, बिना इधर-उधर भटके, पात्र के जीवन की किसी घटना का चित्रण, बिना मनोरंजकता की हत्या किये, पेश करती है, तो चाहे वह सौ पृष्ठ तक की भी क्यों न हो, वह लघुकथा है, अन्यथा नही।

इससे पहले कि कहाना और उपन्यास के अन्तर के संदर्भ में मैं कुछ कहूँ, यहाँ मैं एक बात स्पष्ट कह देना चाहता हूँ। ऊपर अच्छी कहानी के जो गुण अथवा लक्षण दिये गये है, यह आवश्यक नही कि एक ही कहानी में वे सब पाये जायँ। वे ऐसे उपकरण है, जिनकी सहायता से कहानी-लेखक अपनी रचना को सुन्दर बनाता है। यह सब उसकी इच्छा और कुशलता पर निर्भर है कि वह किस कहानी में किस उपकरण की सहायता लेता है। कुछ कहानियाँ घटना-प्रधान, कुछ वातावरण-प्रधान और कुछ चरित्र-प्रधान होती हैं और कुछ केवल इसलिए सुन्दर होती हैं कि उनकी भाषा बड़ी ओजमयी, सुन्दर और लालित्य-पूर्ण होती हैं। एक से अधिक उपकरणो की सहायता से अपनी कहानी में एक साथ कई गुण पैदा कर देना, अत्यन्त निपुण कलाकारो का ही काम है।

कहानी और उपन्यास

कुछ लोग यह समझ बैठे हैं कि कहानी उपन्यास का संक्षिप्त रूप है, अथवा वह उपन्यास का ढाँचा है। यह धारणा सर्वथा भ्रम-पूर्ण है। कहानी-लेखक अपनी कहानी का आधार एक घटना अथवा कुछ घटनाओं पर रखता है। पर उपन्यास में ऐसी बीसियों घटनाएँ, केवल आकस्मिक अथवा आनुषगिक रूप से आ सकती हैं। इसका तात्पर्य यह नही कि किसी कहानी अथवा उपन्यास का एक ही 'उद्देश्य' नहीं हो सकता। जिस प्रकार विविध पेड़-पौधों से विभूपित उद्यान और एकान्त में खड़ा अकेला पेड़ एक ही धरती से अपनी खुराक लेते हैं, पर दोनों में बहुत अंतर है, इसी प्रकार एक ही उद्देश्य से पलने वाले उपन्यास और कहानी मे भी भारी भिन्नता है।

एक उदाहरण दे कर मैं अपनी बात को स्पष्ट करने का प्रयास करता हूँ ।

कोई व्यक्ति ऐसे विद्वान वैद्य का चरित्र-चित्रण करना चाहता है, जो अपने काम में निपुण है और जिसके हाथ में परमात्मा ने निरोग करने की अद्‌भुत और मस्तिष्क में प्रखर बुद्धि दी है, किन्तु उसका जन्मजात लोभ उसके मार्ग की वाधा वन जाता है और वह लोगों का उतना उपकार नही कर सकता।

अव यदि लेखक उपन्यासकार है, तो वह अपने उपन्यास को तव से आरम्भ कर सकता है, जब कि भावी वैद्य अभी बच्चा ही है। वह उसके पिता का चरित्र भी खीच सकता है, जो लोभी, कजूस और मितव्ययी है और चाहता है कि ये 'गुण' उसके पुत्र में भी पैदा हो जायँ ; पाठशाला, स्कूल और कॉलिज मे उसकी आदतों का वर्णन कर सकता है और उसके व्यवसाय के के आरम्भिक काल का भी उल्लेख कर सकता है। उसी उपन्यास में वह उसके प्रेम की उपकथा भी जोड़ सकता है ; वता सकता है कि किस प्रकार धन की खातिर उसने उस प्रेम को ठुकरा दिया। वह उसके एक भाई का चरित्र खीच सकता है, जो उसके विपरीत, उदाराशय है ; उस उदाराशय भाई के प्रति उसकी उपेक्षा दिखा सकता है और यदि चाहता है कि अत में पाठको के हृदय में उसके लिए सहानुभूति पैदा हो जाय तो कोई ऐसी घटना दे सकता है, जिससे उसके हृदय को ठोकर लगे और वह प्रायश्चित करे और उस जीवन की झाँकी भी दिखा सकता है, जब कि उसमें इतना अन्तर आ गया है कि रुपया उसके लिए महत्व की चीज नही रहा और वह घूम-घूम कर देहात में दवाई वाँटता है।

पर कथाकार तो ऐसा नहीं कर सकता। उसे उस वैद्य के जीवन की एक अथवा कुछ प्रमुख घटनाओं को लेना होगा और उन्ही का कला-पूर्ण वर्णन करके उसके चरित्र को, उसके विचारों को पाठकों के सामने रखना होगा। और इसी मे पाठक को कुछ क्षणों के लिए अपने आप को भुला देना होगा।

इस सूरत में वह कहानी सम्भवतः वहाँ से आरम्भ करेगा, जब उक्त वैद्य को किसी पार्टी में सम्मिलित होने का निमन्त्रण आता है और वतायेगा कि किस प्रकार वैद्य को समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त है और किस प्रकार उसकी ख्याति उसके नगर की सीमाओं को पार करके प्रान्त भर मे फैल चुकी है। उस सभा मे जाने के लिए वह वहुत उत्सुक है, क्योकि वहाँ एक ऐसे लखपति से उसका परिचय होने की सम्भावना है, जिस का रोग असाध्य हो गया है और उसके एक मित्र ने उसे उससे मिलाने को कहा भी है। तव उस

शाम को, जब वह उस सभा के लिए तैयार हो कर जाने लगता है, एक ग़रीब अहीरिन अपने मरणासन्न इकलौते बच्चे को गोद में लिये उसे दिखाने आती है और उससे दया की भीख माँगती है...।

इस सरल सी घटना के चित्रण से वैद्य की धन लोलुपता के कारण उतना ही नाटक, कौतूहल, उत्सुकता, विस्मृति पैदा की जा सकती है जितनी हज़ार पृष्ठों पर बिखरे हुए बड़े उपन्यास मे। ज़रूरत केवल लेखक के उर्वर मस्तिष्क और उसके कलम के ज़ोर की है।

उपन्यास में कई नस्लो, देशों, द्वीपों, महाद्वीपों का वर्णन, बिना उपन्यास की सीमाओं का उल्लघन किये, किया जा सकता है। बीसियों पात्र एक साथ वहाँ आ सकते हैं—जैसे प्रेमचन्द की रंगभूमि तथा प्रेमाश्रम में! कहानी में यह निबिड़ता नहीं चलती। कहानी और उपन्यास में जो अंतर है उसे स्व० प्रेमचन्द ने बडी सुन्दरता से एक जगह दिखाया है·

"गल्प एक रचना है, जिससे जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव का प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य होता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास, सब उसी एक भाव का पुष्टीकरण करते है। उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा बृहद रूप दिखानें का प्रयास नहीं किया जाता। न उपन्यास की भाँति उसमें सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह रमणीक उद्यान नहीं, जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं, बल्कि एक गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपनें समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

आज कहानी बड़ी तीव्रगति से प्रगति कर रही है, यद्यपि काव्य, उपन्यास और नाटक के मुकाबिले में उसे किंचित हेय दृष्टि से देखा जा रहा है, इस विधा को आलोचकों ने मान्यता नहीं दी, पर पाठक जैसे दिन-पर-दिन व्यस्त होते जा रहे हैं और जिन्दगी जैसे जटिल से जटिलतर हो रही है, वह दिन दूर नही, जब साहित्यिक विधा के रूप में कहानी अपनी स्वतन्त्र सत्ता पा जायगी और कोई आश्चर्य नहीं यदि वह सभी विधाओं को पीछे छोड़ कर आगे निकल जाय। तब उसकी कला में क्या विकास आयेगा और उसमें कैसे प्रयोग होंगे, यह अभी कह सकना कठिन है।

१९३८

कहानी कला-२

●

'उठो, बोलो और बैठ जाओ !'

किसी ने व्याख्यानदाता को यह बहुमूल्य परामर्श दिया है। (और इसका उल्लेख मैंने अपने पहले लेख मे किया है) कथाकार के लिए भी यह उपदेश कम महत्व नहीं रखता।

जिस प्रकार अच्छे वक्ता से यह आशा रखी जाती है, कि तत्काल अपना वक्तव्य आरम्भ करके, जो कुछ उसे कहना है, साफ शब्दों मे कह कर वह बैठ जाय—न आरम्भ में व्यर्थ की भूमिका बांधे, न श्रोताओ को इधर से उधर घुमाये-फिराये, और न अंत को ही अनावश्यक तौर पर तूल दे, इसी प्रकार कथाकार से भी यही आशा रखी जाती है कि वह भी सफल वक्ता की भाँति, पहले वाक्य ही से पाठक की दृष्टि पकड़ ले और फिर ज्यों-ज्यों कहानी को विस्तार दे उस दृष्टि की दिलचस्पी मे वृद्धि करता जाय और अंतिम बिन्दु (क्लाइमेक्स) पर पहुँच कर इस तरह फौरन कहानी को खत्म कर दे कि जो प्रभाव वह अपने पाठक पर डालना चाहता है, वह पूरी शिद्दत के साथ उसके मन, मस्तिष्क पर डाल दे।

एक सफल कहानी का उल्लेख करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है :

'...इसी तरह कहानी भी वही प्रिय होती है, जिसे पढ़ कर हमारे हृदय में एक मीठा दर्द, एक मादक बेचैनी पैदा हो जाय। कुछ ऐसी परेशानी और हैरानी जैसे हमारी कोई प्यारी चीज़ खो गयी है, जैसे हम किसी स्वर्गीय-सदन में गुम हो गये हैं....'

इसी अवस्था को एक प्रसिद्ध अँग्रेज़ी आलोचक ने तुष्टि (satisfaction) का नाम दिया है। किसी सफल कहानी को पढ़ कर पाठक को अपूर्व तुष्टि का आभास होना चाहिये। उसे महसूस होना चाहिए कि कहानी पढ़ कर उसे प्रसन्नता हुई है और यद्यपि स्वय कहानी की थीम (theme) अथवा उसके

आधारभूत विचार से चाहे उसका मतभेद हो, पर लेखक ने उस थीम के साथ पूरा-पूरा न्याय किया है।

पाठक के मन-मस्तिष्क पर कथा द्वारा वांछित प्रभाव डालने के लिए कथाकार को सावधानी से काम लेना पड़ता है। 'क़िस्सा तोता मैना' से चल कर कहानी चूँकि अपनी प्रौढ़ावस्था को पहुँच गयी है, इसलिए इसकी कला में भी परिपक्वता आ गयी है। समयाभाव ने, अनुभव ने, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने, जीवन की आवश्यकताओ ने इसकी कला को पूर्ण बना दिया। यहाँ तक कि कहानी की कला आज विज्ञान के दर्जे तक पहुँच गयी है।

यह बात नही कि इस विधा मे अब किसी तरह की प्रगति हो नहीं सकती। प्रगति का पथ सदैव खुला है। उर्वर-मस्तिष्क उसमें नित नयी मौलिकता ला सकता है। किन्तु यह प्रगति, यह नवीनता हमें उन्ही दोषों की ओर न ले जाय, जिन्हें हम पार कर आये हैं—प्रगतिशील कथाकार को इस बात की तरफ से सावधान रहना चाहिए।

यदि आज कहानी फिर अलिफ़-लैला की कथाओ की भाँति अव्यवस्थित, बेरब्त, शबे-फिराक की तरह लम्बी और सामजस्यहीन हो जाय; अथवा उसमें जीवन को, चरित्र-चित्रण को कोई स्थान न मिले तो हम उस अपनी नवीनता पर गर्व न कर सकेंगे। विज्ञान की एक थ्यूरी दूसरी थ्यूरी को ग़लत साबित कर देती है, यह ठीक है, किन्तु प्रतिपादित विषय को वह आगे ही बढ़ाती है, पीछे नहीं ले जाती।

यहाँ मैं संक्षिप्ततया कहानी तथा उसके विभिन्न अवयवो का जिक्र करूँगा। इसकी कुछ वैसी ज़रूरत तो न थी, किन्तु इधर हिन्दी और उर्दू साहित्य में कुछ अजीब धाँधली-सी मची हुई है; कभी प्रगतिशीलता, कभी नवीनता और कभी मौलिकता के नाम पर बहुत-सी रचनाएँ, जो कहानी से कहीं दूर हैं, पाठकों पर ठोंसी जा रही हैं। सफल कहानी, जिस परिश्रम और निष्ठा की माँग करती है, नये लेखकों की तन-आसानी, उनका आलस्य प्रायः उससे कन्नी कतरा जाता है और वे मात्र छाया-चित्र, मात्र इम्प्रेशन, मात्र घटना अथवा दृश्य-वर्णन, सौष्ठव और अनुपात रहित जीवन की किसी झाँकी को अथवा चुस्त सम्भाषण या तारतम्य रहित रहस्य-मय अथवा दार्शनिक वार्तालाप को किसी घटना के साथ जोड़ कर, उसे कहानी का नाम दे कर पाठक के सामने पेश कर देते हैं। इसका परिणाम न केवल यह होता है कि कला की उत्तम कृतियाँ गुमनामी मे पड़ी रहती हैं, बल्कि पाठको की रुचि भी बिगडती है और वे अच्छी और बुरी कहानी मे तमीज़ नही कर पाते।

'पंजाब हिन्दू होटल' लाहौर में एक बार मैं खाने की मेज़ पर बैठा था कि मेरे पास एक ख़ाली कुर्सी पर एक सूट-बूट धारी युवक (कदाचित होटल के मैनेजर से) एक स्थानीय दैनिक पत्र का सडे एडीशन ले कर बैठ गये और पृष्ठ देखने लगे, मेरी दृष्टि एक पृष्ठ पर पड़ी। स्व० प्रेमचन्द की एक कहानी 'नशा' कही से उद्धृत करके छापी गयी थी। मैंने कहा, यह पढ़िए सुन्दर चीज़ है। वही बैठे-बैठे वे पढ़ने लगे, और पढ़ भी गये, पर प्रशंसा का एक वाक्य भी उनके मुँह से नही निकला और मौन रूप से एक दूसरी कहानी पढने लगे। उस कहानी को जैसे वे पी गये और खत्म करके उन्होने तुष्टि की साँस ली और कहा —'वाह' !

मैं खाना खा चुका था। हाथ धो कर रुमाल से पोछते हुए मैंने उनसे राय पूछी. (मुझे उनकी रुचि का पता तो लग चुका था, पर मैं रह न सका, शायद मैंने इसे इस महान कलाकार का नही अपना अपमान समझा)।

हँसते हुए कहने लगे, "मुझे तो यह चीज़ पसन्द आयी है।"

और वह चीज़, मैं जानता हूँ, उक्त पत्र के सम्पादक श्री नानक चन्द 'नाज़' की थी, जो सम्पादक होने के साथ 'गप-शप-निगार' (हास्यरस के दो कालम लिखने वाले) 'पत्र के अपने कवि' और 'कहानीकार' थे और प्रायः प्रेमचन्द की कहानियो मे कला और भाषा के दोष निकाला करते थे, किन्तु स्वय अभी अछूतोद्धार और विधवा-विवाह से आगे नही बढ़ पाये थे।

बातों-बातो मे कहावी के उस 'पारखी' युवक की शिक्षा का पता लिया तो मालूम हुआ कि एम० ए० हैं (फ़िलासफ़ी के या अर्थ-शास्त्र के, यह अब मुझे याद नहीं) पर यह सुन कर मैं हैरान रह गया था।

औसत पाठक को कहानी की कला के बारे मे कितना ज्ञान होगा। अब आप उसका अनुमान लगा सकेंगे। अस्तु।

थीम

उन कहानियो के अतिरिक्त, जो मात्र पाठक की दिलचस्पी, समय का गला घोंटने मे उसे सहायता देने, अथवा उसकी निम्न-भावनाओं तथा वासनाओं की तुष्टि के लिए लिखी जाती हैं, शेष आधुनिक कहानियाँ किसी-न-किसी थीम पर अवलम्बित होती हैं; फिर चाहे वह थीम मनोवैज्ञानिक हो, सामाजिक हो, राजनीतिक हो, आर्थिक हो या महज़ रूमानी ! यही आधारभूत विचार, कहानी की जान होता है। इसी पर कहानीकार कहानी के प्रासाद की नींव रखता है। प्रायः यह थीम किसी घटना को लिये हुए होती है—कभी एक वाक्य, एक शब्द, या एक विचार अथवा प्रतीक में भी निहित होती है,

और वह वाक्य, वह शब्द, वह विचार अथवा प्रतीक अज्ञात रूप से सारी-की-सारी कहानी पर छाया होता है। मनोवैज्ञानिक कहानियों में यह थीम, जैसा कि स्व० प्रेमचन्द ने लिखा है : 'किसी मनोवैज्ञानिक सत्य को लिये हुए होती है।'

जज दयानतदार है, अपनी दयानतदारी के लिए वह दूर-नज़दीक प्रसिद्ध है, अचानक उसका अपना लड़का हत्या के अपराध में उसके सामने पेश होता है। जज असमंजस में पड़ जाता है। उसका यह असमंजस मनोवैज्ञानिक सत्य है और कहानी का आधारभूत विषय बन सकता है।

मेरा भाई रूखी तबीयत का युवक है, मेरी पत्नी की बीमारी मे वह मेरी कुछ भी सहायता नही करता, मेरे बच्चे से भी उसका व्यवहार रूखा है, मेरी पत्नी मर जाती है, मैं पागल-सा हो जाता हूँ, लेकिन उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, मैं उसे पाषाण कहता हूँ, किन्तु उसे मेरे बच्चे से मुहब्बत हो जाती है (पत्नी की बीमारी में वही जो उसकी देख-भाल करता है इसलिए) और जब मेरा वह बच्चा मर जाता है तो मेरा वही पत्थर-दिल भाई फूट-फूट कर रो उठता है।

इसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर, मानव हृदय के इन्हीं दो पहलुओं पर मैं अपनी कहानी की नींव रख सकता हूँ।

विज्ञ पाठक के लिए यह ज़रूरी है कि वह कहानी को पढने के बाद देखे कि उसकी थीम क्या है ? और फिर जाने कि कहानीकार ने उस थीम के साथ कहाँ तक न्याय किया है ?

कथानक

थीम को यदि हम बीज कह लें तो प्लाट अथवा कथानक को पौधा कहेंगे। यह थीम, यह मनोवैज्ञानिक सत्य, या मात्र वह घटना जिसमें यह मनोवैज्ञानिक सत्य है, अपने में कुछ भी नही। मनोवैज्ञानिक सत्यो से भरी हुई घटनाएँ जीवन में बिखरी पड़ी है, किन्तु सुनाने पर प्राय: वे अत्यन्त फीकी और रस-हीन प्रतीत होती हैं और क्षण-भर के लिए भी मन को नही बाँधती। आधारभूत विचार की इस नीव पर कथानक का प्रासाद निर्मित करने की ज़रूरत होती है—उस कथानक का, जो ठीक तरह से शुरू हो, ठीक तरह विस्तार पाये और ठीक तरह खत्म हो। ईंट-पर-ईंट इस तरह रखी जाय कि कहीं कुछ टेढापन, कही कुछ ऊबड़-खाबडता न रह जाय, और समुचित प्रासाद बन कर अपनी भव्यता से मन-प्राण को उल्लसित कर दे और कलाकार के लिए अनायास ही कृतज्ञतापूर्वक हृदय से प्रशंसा के शब्द निकल जायें।

यही प्लाट वास्तव में कहानी होती है, शेष प्रसाधन तो इस पौधे को सींचने के लिए इसे सुन्दर फूल और स्वस्थ फल लाने में सहायता देने के लिए होते हैं।

आजकल वहुत-से लेखक प्लाट-रहित कहानियों में विश्वास रखने लगे हैं और किसी घटना को दिलचस्प शब्दों मे बयान कर देने को ही वे कहानी समझते हैं और प्रायः कहानियाँ दृश्य-वर्णन से अधिक महत्व नहीं रखती। इसका कारण यह नही होता कि वास्तव में कथानक में वे विश्वास नहीं रखते, बल्कि वे अपनी तन-आसानी के कारण कथानक के सुन्दर निर्माण की कोशिश नही करते। प्रेमचन्द और शरतचन्द्र प्लाट के सम्राट हैं। साधारण-से-साधारण थीम के इर्द-गिर्द वे इस प्रकार प्लाट का जाल बुनते हैं कि आदमी प्रशंसा किये बिना नही रहता और फिर उनके कथानक अलिफ़-लैला की तरह के कथानक नही होते, वे मात्र घटनाओ का इन्द्रजाल नहीं होते, वरन उनकी नीव अनुभूतियों, यथार्थताओं और मनोवैज्ञानिक सत्यों पर टिकी होती है।

आधारभूत विचार की बुनियादों पर कथानक का प्रासाद तैयार करना आसान काम नही। इस पर काफी श्रम करना पडता है। कहानी कहाँ से आरम्भ हो, कैसे बढे और कहाँ खत्म हो और किस प्रकार उसमे अंत तक पाठक की दिलचस्पी, उसकी उत्सुकता बनी रहे?—इन सब बातों पर कथाकार को भली-भाँति सोच-विचार करना पड़ता है।

कई कहानियाँ, मैं देखता हूँ, बड़ी अच्छी थीम को लिये हुए होती हैं, किन्तु लेखक उसके साथ न्याय नहीं कर पाता। यह बात नये लेखकों के बारे में ही नहीं कही जा सकती, पुराने लेखक भी प्रायः समुचित्त परिश्रम न करने अथवा दूसरी ग्रन्थियों के कारण अपनी कहानी की थीम को सफल कहानी में परिणत नही कर पाते।

फिर कई कहानियाँ बड़ी अच्छी तरह शुरू होती हैं पर मध्य तक जाते-जाते उनमें वह बात नही रहती और अंत पर जा कर पाठक असन्तुष्ट हो कर पत्रिका फेक देता है, प्रायः वह अंत तक पहुँच भी नही पाता। ऐसी ही एक कहानी मैंने दिल्ली के प्रसिद्ध उर्दू मासिक साक़ी के कहानी-अंक में देखी थी—'माघरे'।

कहानी, माघरे—एक गरीव भोली-भाली देहाती लड़की—के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से आरम्भ होती है। उसका विवाह छोटी उम्र मे ही हो गया है और जब वह वयस्क होती है तो सुनती है कि उसका पति बाहर काम पर

गया है, तब अपने पति का एक काल्पनिक चित्र वह अपने मस्तिष्क के चित्र-पट पर बना लेती है—किस प्रकार वह घोड़े पर चढ़ कर और सिर पर तुर्रे वाला साफा बाँध कर उसे लेने आयेगा—वह सोचती रहती है।

प्रतिदिन वह उसकी प्रतीक्षा करती है, अपनी फटी-पुरानी ओढ़नी को दो-दो तीन-तीन बार धोती है—एक नौकर-चाकर की पत्नी वह है न इसलिए! और गायों-बछड़ों को ले जाते-लाते समय उसकी आँखें दूर सड़क पर किसी के आने की बाट जोहा करती हैं।

और एक दिन जब वह इसी तरह दूर सड़क की ओर देख रही थी उसने देखा :

उसकी दृष्टि के अन्तिम विवश बिन्दु पर एक श्वेत धब्बा-सा दिखायी दिया। वह इस बढ़ते हुए धब्बे को बड़े ग़ौर से देखती रही। उसे याद आया कि जब नज्जो का पति आया था तो उसने उसे दूर पेडों की पंक्ति में ही देख लिया था। उसने सोचा शायद नज्जो की दृष्टि उससे तेज़ है। वह देखती रही, देखती रही, यहाँ तक कि उसकी दृष्टि सिमट कर अत्यन्त निकट आ गयी। एक युवक श्वेत तुर्रेदार पगड़ी, नये-नये कपड़े पहने माघरे के पास से गुज़रने लगा। माघरे ने गौर से देखा, आँखें झपकी, मली, दोबारा देखा। यह तो वही था जिसके स्वप्न वह मुद्दत से देख रही थी, बिलकुल उसके स्वप्नों के राजा-सा। उससे न रहा गया। उसका पति और उसके पास से यों निकल जाय? नज्जो ने भी तो अपने पति के साथ सड़क पर उपले थापते बातें की थीं। वह उठी, घूंघट निकाला—'ऐ भाई घोड़े वाले!' उसने आवाज़ दी।

घोड़ा रुक गया।

वह घूंघट निकाले झिझकती, इठलाती, शरमाती, सिमटती-सिमटाती, पग-पग पर रुकती उसके समीप पहुँची।

'तुम इस सामने वाले गाँव मे जाओगे न भाई।' (गाँव में अपरिचित को बुलाने का यही सीधा तरीका है।)

'हाँ!'—सवार ने यो ही कह दिया।

'क्या मंगू ग्वाले के यहाँ?'

'नही!'

'नहीं?' माघरे ने हैरानी से पूछा (उसे अपने स्वप्नों के प्रासाद धराशायी होते दिखायी दिये)।

सवार ने क्षण भर अर्थ-पूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा। 'क्या कहा मंगू ग्वाला? हाँ-हाँ, उसी के यहाँ जा रहा हूँ'—उसने कहा।

'वही ना, जिसकी एक लड़की है माघरे।'

'माघरे, हाँ माघरे, उसी के यहाँ।'

'जिसका पति बहुत देर हुए परदेश में गया हुआ है।'

'हूँ!' उसने कुछ समझते हुए कहा।

'माघरे तो मेरा ही नाम है।' (उसकी वाणी में उल्लास और कम्पन था)।

'तुम, अरे, तुम ही माघरे हो!'

और वह जो वास्तव में उसका पति नही था, उसे फुसला कर ले जाता है।

पाठक समझते होगे कि यह कहानी का अन्तिम बिन्दु है। नही यह कहानी, जो यहाँ समाप्त हो जानी चाहिए थी, शबे-फिराक़ की तरह तूल पकड़ लेती है, और अन्त तक सचमुच हास्यास्पद हो जाती है—सक्षेप मे, वह व्यक्ति माघरे को घर ले जाता है, माघरे को अपनी भूल का पता चलता है, पर वह विवश है, तब उसका पहला पति ढूँढ़ता वहाँ आता है, उसके घर नौकर रहता है, दोनो भागते हैं, वह उनका पीछा करता है, एक झाड़ी में छिप कर उसके असली पति को मार देता है, फिर माघरे को ले कर भागता है, माघरे उसकी हत्या कर देती है, और उसका घोड़ा ले कर भागती है, नदी में गिर पड़ती है, अपने भाई द्वारा बचायी जाती है (उसे वह जानती नही) और वही यौवन की उमंग में उससे गर्भवती हो जाती है। घर जाने पर उसे अपनी ग़लती का पता लगता है। भाई फाँसी लगा कर मर जाता है और वह स्वयं पागल हो जाती है।

और इस तरह वह कहानी, जो अत्यन्त सुन्दर मनोवैज्ञानिक ढग से आरम्भ हो कर प्रथम कोटि की कहानी बन सकती थी, निरर्थक घटनाओ के इन्द्रजाल मे अपना उद्देश्य खो बैठती है।

कारण वही है, लेखक ने न कोई थीम बनायी है, और न किसी तरह के कथानक पर विचार किया है, न उसका कोई उद्देश्य है—जैसे भी बन पड़ा वह कहानी को बढाता चला गया है।

फिर ऐसी कहानियों की कमी नही जो शुरू अच्छी तरह नही होती पर अन्त की ओर जाते-जाते सम्हल जाती हैं।

कथानक का गठन और उद्देश्य

कथानक को दिलचस्प, युक्ति-युक्त और सफल ,बनाने में दो गुण सहायता देते हैं—पहला उसका गठन और दूसरा उसके उद्देश्य का निश्चय।

प्लाट के गठन से अभिप्राय यह है कि उसके आरम्भ, मध्य और अन्त में ऐसा सामंजस्य हो कि पाठक का ध्यान इधर-से-उधर न भटके, उसे यह न मालूम हो कि कोई कड़ी बीच से टूट गयी है, उसमें कोई ऐराटी क्लाइमेक्स (अन्तिम-बिन्दु-विरोधी घटना) न हो, सीधी वह अपने अन्तिम बिन्दु तक चली जाय।

उद्देश्य के निश्चय से तात्पर्य यह है कि घटनाओं के इन्द्रजाल में लेखक उस मनोवैज्ञानिक सत्य, उस आधारभूत थीम को न भूल जाय जो उसकी कहानी का आधार है। यदि लेखक की दृष्टि उसके उद्देश्य पर जमी रहेगी तो वह कच्चे मसाले मे से भली-भाँति काट-छाँट कर सकेगा; कोई घटना चाहे कितनी भी यथार्थ, कितनी भी मनोवैज्ञानिक क्यों न हो, पर यदि उसके उद्देश्य तक वह उसे नही पहुँचाती, या उसकी कहानी के प्रवाह में बाधक बनती है, तो वह उसे छोड़ देगा।

पंजाब केसरी स्व० लाला लाजपतराय जब भाषण दे कर बैठते थे तो श्रोता निमिष मात्र के लिए मन्त्रमुग्ध-से बैठे रह जाते थे और हृदय के किसी कोने मे यह इच्छा होती थी कि काश वे कुछ देर और बोलते !

सफल कहानियाँ भी पाठक पर ऐसा ही प्रभाव छोड जाती हैं। पहले वाक्य ही से उसकी दृष्टि को पकड़ कर, क्षण-क्षण उसकी उत्सुकता बढ़ाती हुई वे इस प्रकार खत्म हो जाती हैं, कि प्राय: समाप्ति के बाद भी कितनी ही देर तक पाठक सोचता रह जाता है और उसकी कल्पना की दुनिया आबाद हो जाती है।

किन्तु यह सब कुछ यों ही नही हो जाता। इसके लिए लेखक को परिश्रम तथा सोच-विचार करना पड़ता है। कौन जानता है कि अपनी कहानी 'हीरे का हार' का अन्त सोचने में, और सारी कहानी में बड़ी सफ़ाई के साथ उस अन्त को छिपाये रखने में प्रसिद्ध फ़्रांसीसी कथाकार मोपासाँ को कितना सोच-विचार न करना पड़ा होगा ?

चरित्र-चित्रण

वह प्रभाव, जो श्रोता को या पाठक को मन्त्रमुग्ध कर देता है, सारे के सारे भाषण अथवा कहानी के समस्त अवयवों का सामूहिक प्रभाव होता है। स्व० प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा :

'जब दिलचस्पी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है तो वह तासीर बन जाती है।' थीम के चुनाव, कथानक के गठन, उद्देश्य की स्थिरता के अतिरिक्त सम्भाषण, वातावरण और चरित्र-चित्रण को भी कहानी की सफलता में बड़ा दखल है। प्रायः उपयुक्त सम्भाषण पात्रो के चरित्रो को प्रकट रूप से आँखो के सामने खोल कर रख देता है। एक-दो वाक्य वह बात पैदा कर देते हैं कि लेखक की ओर से वर्णित पूरे-का-पूरा पैराग्राफ़ भी नहीं कर सकता। फिर चन्द वाक्यों से वांछित वातावरण पैदा करके लेखक अभिलषित प्रभाव पैदा कर देता है।

रहा चरित्र-चित्रण—तो वास्तव में कहानी का यही अवयव है जो उसे पुरातन आख्यायिका से अलग करता है। सारी-की-सारी चद्रकान्ता पढ़ जाइए किन्तु एक व्यक्ति भी अपने चरित्र के कारण आपके मन या मस्तिष्क पर अंकित न रहेगा। दूसरी ओर प्रेमचन्द की कहानियो मे शतरज के 'खिलाडियो', कफ़न के 'चमारो', नमक के 'दारोगा'; टैगोर के 'काबुली वाला', 'पोस्टमास्टर' और शरत की 'बड़ी दीदी' तथा 'बिन्दो' को भूल जाना असम्भव है।

कला, कला के लिए है—मैं इसमें विश्वास नहीं रखता। कला जीवन के लिए है और जीवन को बेहतर बनाने के लिए है—यही मेरा विश्वास है। यदि कोई कहानी जीवन का चित्रण नही करती, जीवन को समझने में हमारी सहायता नही करती, तो वह दिलचस्प हो सकती है, कला के दृष्टिकोण से उत्तम भी हो सकती है, पर जीवन के लिए उसका कोई लाभ नही।

किन्तु जीवन के लिए लाभकर बनाने के लिए यह ज़रूरी नही कि उसमें उपदेशों के मोती बिखेर दिए जायँ, भाषण झाड़ दिये जायँ। उत्कृष्ट कलाकार वही होगा, जो कहानी को जीवन के समीप रखते हुए भी कला के स्तर को गिरने न देगा। थीम के चुनाव और उसके ट्रीटमेंट तथा कुछ सकेतो के द्वारा यह सब कुछ हो सकता है। कला क्या है ? किसी ने नही कहा है कि संकेत के अतिरिक्त यह कुछ भी नही।

इसके अतिरिक्त शब्दो की चुस्ती तथा भाषा का प्रवाह, व्यग्य तथा परिहास विचारो की मौलिकता तथा अभिनवता, घटनाओं की वास्तविकता तथा यथार्थता, अनुभूतियों का पैनापन तथा वह ईश्वरदत्त प्रतिभा, जिससे लेखक मानव-हृदय की गहराइयों मे पैठ जाता है, कहानी को वास्तव में प्रभावोत्पादक बनाते हैं।

एक भ्रान्ति

यदि कोई कहानी यह प्रभाव नही पैदा करती तो निश्चय ही लेखक ने उपरोक्त

बातो में से किसी पर ध्यान न दिया होगा। प्रफन्न कहानी में विज्ञ पाठक को उपरिलिखित गुणो में से अधिकांश मिल जायँगे।

किन्तु जिस प्रकार हम बेंच को मेज़ नहीं कह सकते इसी प्रकार केवल इम्प्रेशन, छाया-चित्र, अथवा केवल किसी दृश्य अथवा सैर के चुस्त वर्णन को, अथवा महज़ सम्भाषण को कहानी नही कह सकते।

साथ ही जिस प्रकार मेज़ की एक टाँग (वह अपने में चाहे कितनी भी सुन्दर क्यों न हो) मेज़ नही कहला सकती, इसी तरह कहानी के उपरिलिखित अवयवों में से कोई एक कहानी नहीं कहला सकता। और यह भ्रान्ति जितनी जल्दी भी हो, दूर हो जानी चाहिए।

यहाँ पर शायद पाठक कुछ उच्च कोटि की ऐसी कहानियों के नाम गिनायें, जिसमें कथानक उतना नहीं होता। स्व० प्रेमचन्द की 'कफ़न' तथा 'मनोवृत्तियाँ', ऐसी ही कहानियाँ हैं। इस सम्बन्ध मे मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि ऐसी कहानियो मे प्लाट, बिलकुल ही न हो, यह बात नही होती, केवल लेखक के उद्देश्य में अतर होता है, और इसी कारण कुछ कहानियाँ 'चरित्र-प्रधान', 'वातावरण-प्रधान' या 'कथानक-प्रधान' होती हैं, किन्तु ये कहानियाँ होती हैं, इनके आरम्भ, मध्य तथा अन्त में सामंजस्य होता है और कथानक का स्थान यहाँ डिज़ाइन (बिनावट) ले लेती है, कहानी से भिन्न कोई और चीज वे नही होती।—श्री धर्मप्रकाश आनन्द की 'मियाँ-बीबी', 'यह भी वह भी', उर्दू मे श्री कृष्णचन्द्र की 'बे-रंगो-बू' तथा राजेन्द्र सिंह बेदी की 'दस मिनट बारिश मे' ऐसी ही कहानियाँ हैं।—इन सब कहानियों में घटनाओं और विचारों का क्रम ऐसे रखा जाता है कि वे कहानी के केन्द्रीभूत विषय, उसकी थीम को और भी उजागर करते हैं। प्लाट का स्थान यहाँ डिज़ाइन ले लेता है।

आधुनिक हिन्दी-कहानी

यद्यपि उर्दू मे प्रेमचन्द १९०१ में ही मौलिक कहानियाँ और उपन्यास लिखना आरम्भ कर चुके थे, पर हिन्दी मे आधुनिक ढंग की कहानी को जन्म लेने में सात-आठ वर्ष लग गये।

आधुनिक हिन्दी-कहानी का इतिहास प्रयाग से निकलने वाली प्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' से आरम्भ होता है। १९०० में इंडियन प्रेस के उत्साही संस्थापक श्री चिन्तामणि घोष ने नागरी प्रचारिणी सभा के परामर्श से 'सरस्वती' को जारी किया और इसके पहले अंक ही से इसमें सुन्दर कहानियाँ निकलने लगी। पहले-पहल इसमें बंगाली के अनुवाद प्रकाशित हुए, फिर मौलिक कहानियाँ छपने लगी। हिन्दी की पहली वास्तविक कहानी 'दुलाई वाली' है। इसे मिरज़ापुर में रहने वाली एक बंगाली महिला ने लिखा जो उन दिनों 'वंग महिला' के नाम से बराबर सरस्वती में लिखा करती थीं।

किन्तु 'दुलाई वाली' का प्रकाशन एक आकस्मिक घटना ही है, क्योंकि इसके बाद महीनो तक कोई सुन्दर कहानी नही निकली।

१९०९ में काशी से 'इन्दु' नामक एक मासिक पत्रिका निकलनी आरम्भ हुई, जिसमें हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कवि श्री जयशंकर प्रसाद ने अपनी पहली कहानी 'ग्राम' लिखी। हिन्दी-कहानी का असली उत्थान १९११ ही से आरम्भ होता है। इसके बाद चन्द ही वर्षों में श्री चतुरसेन शास्त्री, स्व० प्रेमचन्द, श्री चडीप्रसाद हृदयेश, श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, श्री सुदर्शन आदि अच्छे-अच्छे लेखक हिन्दी में कहानी लिखने लगे।

प्रसाद जी हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कवि और नाटककार के रूप मे प्रसिद्ध है, परन्तु हिन्दी-कहानी को भी उनकी देन कम नही। कला, कला के लिए है, इस सिद्धान्त में उनका विश्वास था, इसलिए उस समय की सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थिति को अपनी कहानियो का विषय न बना, अपनी प्रखर कल्पना के सहारे, प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर, उन्होने कला

के बड़े सुन्दर चित्र उतारे। उनकी कहानियाँ काल्पनिक, भाव-प्रधान, रूमानी, सरस और कलामयी हैं।

प्रसाद के बाद हिन्दी-कहानी के आरम्भिक युग के दूसरे कथाकार प्रेमचन्द हैं। प्रेमचन्द जी १९१६ में हिन्दी में उतरे। वे उस समय तक उर्दू मे कई उपन्यास और बीसियों कहानियाँ लिख चुके थे। आते ही वे अपनी यथार्थ और सामाजिक कहानियों से हिन्दी-जगत पर छा गये। प्रसाद और प्रेमचन्द में वही बुनियादी अंतर है जो कला के सुन्दर को शिव से और कला के शिव को सुन्दर से बेहतर समझने वालो में। प्रसाद अपनी आस-पास की दुनिया और उसकी परिस्थिति को भूल कर भारत के प्राचीन काल में रमते थे और उस युग का अत्यन्त रूमानी चित्रण करते थे, प्रेमचन्द आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ की दुनिया मे रहते थे और सोद्देश्य लिखते थे। उनकी अधिकांश कहानियों की पृष्ठभूमि उस समय का समाज था, उसकी कुरीतियों और बुराइयों पर वे बड़ी बेर्दी से चोट करते थे और आगे के लिए रास्ता बताते थे।

प्रसाद और प्रेमचन्द की शैलियों में जो अंतर था, वह उनके अनुवर्ती कलाकारों में अनवरत रूप से चला आया और आज भी वर्तमान है। यद्यपि प्रसाद की शैली मे लिखने वाले उत्तरोत्तर कम और प्रेमचन्द की शैली में लिखने वाले उत्तरोत्तर बढते गये हैं।

प्रसाद और प्रेमचन्द के समकालीनों में जिन लेखकों ने हिन्दी को कुछ अच्छी कहानियाँ दी उनमे चतुरसेन शास्त्री, पं० विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, पं० ज्वालादत्त शर्मा, प० गोविन्दवल्लभ पन्त, श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह, श्री सुदर्शन, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, श्री वाचस्पति पाठक और श्री विनोदशंकर व्यास के नाम उल्लेखनीय है। इनमें श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री पाठक और व्यास, प्रसाद जी का अनुकरण करते हैं और उग्र को छोड़ कर शेष सब प्रेमचन्द का।

उग्र जी ने १९२२ में लिखना आरम्भ किया। उनकी कहानियाँ भिन्न-भिन्न शैलियों का उदाहरण है। भाषा-शैली, कल्पना, आकर्षण सब कुछ उनका अनूठा है। उनकी एक कहानी 'दोजख की आग' में उनकी शैली का नमूना देखिए :

'मेरी एक बीवी थी। गुलाब की तरह खूबसूरत, मोती की तरह आबदार, कोहेनूर की तरह बेशकीमत, नेकी की तरह नेक, चांद की तरह सादी, लड़कपन की हँसी की तरह भोली और जान की तरह प्यारी।

'मेरे एक बच्चा था। चाँदनी-सा गोरा, नये चाँद-सा प्यारा, युवती-सा कोमल, प्रेम-सा सुन्दर, चुम्बन-सा मधुर, आशा-सा आकर्षक और प्रसन्न हँसी-सा सुखद।

'मेरी एक माँ थी। मसजिद की तरह बूढी, आम की तरह पकी, दया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह करुणामयी, खुदा की तरह प्यारी और कुरान की तरह पाक।'

प्रेमचन्द के समकालीनों में अब प्रायः सब-के-सब लिखना बन्द कर चुके हैं। केवल उग्र ही कभी-कभी लिखते हैं। यद्यपि वे राजनीतिक पत्रकारिता मे उलझ गये हैं। तो भी कभी-न-कभी उनकी एक-न-एक कहानी देखने को मिल ही जाती है। वही फडकती हुई भाषा, वही मौलिक उपमाएँ और वही चुटीलापन।

हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कवियों मे केवल प्रसाद ही ने कहानी को अपने विचारों की अभिव्यक्ति का साधन नहीं बनाया, उनके बाद आने वाले हिन्दी के तीनों विख्यात कवियों श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, श्री सुमित्रानन्दन पन्त और श्रीमती महादेवी वर्मा ने हिन्दी-गद्य को कुछ बहुत सुन्दर कहानियाँ दी। यद्यपि महादेवी की कहानियाँ कम और संस्मरण अधिक हैं और पंत की कहानियाँ गद्य के वावजूद पद्य हैं। महादेवी तो अब भी कभी-न-कभी एक-आध संस्मरण लिख देती हैं, शेष दोनों कवि भी, जहाँ तक कहानी का सम्बन्ध है, अब प्रायः मौन हैं। लेकिन निराला की लम्बी कहानी या कहे कि लघु उपन्यास बिल्लेसुर बकरिहा हिन्दी साहित्य की अमर रचना है, ऐसा मेरा मत है।

प्रेमचन्द, प्रसाद, इनके परवर्ती और अनुवर्ती लेखक हिन्दी में मौलिक कहानी को प्रतिष्ठित कर चुके थे। साहित्य के हर विभाग मे प्रगति हो चली थी। संसार के अन्य देशों के साहित्य की हमे यथेष्ट जानकारी हो रही थी। बंगाल से वंकिमचन्द्र चटर्जी, टैगोर और शरत बाबू के उपन्यास और कथाएँ हिन्दी में आ गयी थी। इन सब देशी और विदेशी लेखको का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर न पड़ता, कैसे सम्भव था। अतः १६२४ के बाद नये कहानीकार नवीन भावनाओं को ले कर हिन्दी के कहानी-क्षेत्र मे उतरे। इन में इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, बलराज साहनी, कमला चौधरी, होमवती देवी, रामवृक्ष बेनीपुरी, पहाड़ी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इलाचन्द्र जोशी अपने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होने कुछ सुन्दर, यद्यपि किंचित दुरूह—और साधारण पाठक को उबा देने वाली—कहानियाँ भी

लिखीं। जैनेन्द्र एक चमकते हुए तारे की तरह हिन्दी-साहित्य मे आये और कुछ वर्ष बड़े जोरों से चमकने के बाद सहसा मन्द पड़ गये। लिखते वे अब भी हैं, पर उसमें वह आब नहीं। किन्तु उनका प्रभाव आज की अति आधुनिक कहानी पर सुस्पष्ट है। यद्यपि जोशी जी ही ने मनोविज्ञान को हिन्दी-कहानी का विषय बनाना आरम्भ कर दिया था, पर उसके प्रचार का श्रेय जैनेन्द्र को है। जैनेन्द्र और उनके समकालीन कहानी-लेखकों ने मानव के चेतन और अवचेतन मन की उलझनों को कहानी में दर्शाने का पूरा-पूरा प्रयास किया। न केवल यह, बल्कि भाषा में भी जैनेन्द्र ने नये प्रयोग किये। यदि हम प्रेमचंद और प्रसाद की भाषा से जैनेन्द्र और उनके बाद की भाषा की तुलना करें तो हमें यह अन्तर साफ़ दिखायी पड़ेगा। व्याकरण की रूढ़िगत परम्परा से मुक्त कर, जैनेन्द्र ने भाषा को एक अनूठा प्रवाह प्रदान किया और यद्यपि आज का लेखक बिलकुल जैनेन्द्र जैसी भाषा नहीं लिखता और यद्यपि जैनेन्द्र अपनी भाषा स्वयं काफ़ी बिगाड़ने लगे हैं, परन्तु आज की भाषा में उस मुक्ति का प्रभाव अवश्य वर्तमान है।

जैनेन्द्र अपनी मनोवैज्ञानिक कहानियों और अपनी बन्धन-मुक्त भाषा के साथ ऐसी तेजी से हिन्दी-साहित्य पर छा गये कि प्रेमचन्द के बाद वे ही हिन्दी-कहानी के स्वतः-सिद्ध नेता हो गये (कुछ प्रचार से, कि वे प्रचार-कुशल हैं और कुछ अपने इन्हीं गुणों के कारण)। लिखने को अपनी-अपनी शैली में भगवतीचरण वर्मा और इलाचन्द्र जोशी भी सुन्दर कहानियाँ लिखते थे। भगवती बाबू की कहानियाँ अति मनोरंजक, कलापूर्ण और चुटीली भी थी, पर जैनेन्द्र के बाद युवक लेखक उन्ही का अनुसरण करने लगे। उन्हीं के जैसे कथानक, उन्हीं के जैसे भाव और उन्ही की जैसी भाषा, यहाँ तक कि उनके साथ या उनसे ज़रा कुछ पहले लिखने वाले भगवतीप्रसाद वाजपेयी और पहाड़ी भी उसी रंग में रँग गये। यही कारण था कि जब सात-आठ वर्ष बाद वर्धा के विचारकों के अनुकरण में जैनेन्द्र विचार-प्रधान कहानियाँ और प्रबन्ध लिखने और प्रवचन देने लगे तो दो-तीन सबल लेखकों को छोड़ कर शेष सब अन्धकार में टामकटोये मारने लगे, जैनेन्द्र के साथ लिखने वालों में पहाड़ी और अज्ञेय को छोड़ कर आज शेष सब मौन-प्राय हैं।

इस अँधेरे में जब लगता था कि हिन्दी-कहानी जैनेन्द्र के साथ ही बैठ जायगी ; सहसा एक और सबल लेखक ने कहानी को अपने विचारों के प्रदर्शन का माध्यम बनाया और अपनी सीधी-सादी भाषा, नवीन उपमाओं, प्रगतिशील विचारों और परिष्कृत कला से हिन्दी-कहानी को सबल और सजीव बनाया।

इस लेखक का नाम 'यशपाल' है ।

यशपाल लाहौर-षड्यंत्र के केस में बन्दी थे। जिन दिनों जैनेन्द्र विचार-प्रधान कहानियों की राह चल पड़े थे, यशपाल दस साल की जेल काट कर रिहा हुए थे। वे जेल ही में कहानियाँ लिखने लगे थे। धीरे-धीरे उन्होंने हिन्दी में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया और इस समय वे हिन्दी के तीन-चार प्रमुख कहानी-लेखकों मे से एक हैं।

प्रेमचन्द ही की तरह यशपाल कहानी की सोद्देश्यता में विश्वास रखते हैं। उनकी सभी कहानियाँ किसी-न-किसी मत का प्रतिपादन अथवा किसी-न-किसी समस्या का समाधान उपस्थित करती हैं। उनकी कहानी का आधारभूत विचार किसी ऐसे कटु सत्य को हमारे सामने ला रखता है, जिससे चाहने पर भी हम इनकार नही कर सकते। यशपाल की कहानियों के पात्र भले ही काल्पनिक हों पर उनका आधारभूत विचार सदैव यथार्थ होता है।

इधर कुछ वर्षों से फिर हिन्दी-कहानी अँधेरे में टामकटोये मारना छोड़ कर प्रगति-पथ की ओर अग्रसर हो रही है। पुराने कहानी-लेखको मे पहाड़ी, होमवती देवी, अज्ञेय, गंगाप्रसाद मिश्र, विष्णु प्रभाकर और नवीन लेखकों में हंसराज रहबर, कमल जोशी, चन्द्रकिरण सोनरिक्सा, कौशल्या, धर्मवीर भारती, ओंकार शरद, सत्येन्द्र शरत, अशोक, आदि हिन्दी-कहानी को समृद्ध बना रहे हैं। आज से चन्द वर्ष बाद इन में से कितने रह जायेंगे, यह कहना कठिन है।

१९५०

हिन्दी कथा-साहित्य में गति-रोध

•

हिन्दी-साहित्य में गति-रोध उपस्थित है, यह बात आज कुछ वर्षों से लगातार सुनने में आ रही है। पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशकों की सूचियों को देखने पर तो ज़रा भी ऐसा नहीं लगता कि इस बात में कोई तथ्य है। उधर दृष्टि डालने पर तो लगता है कि हिन्दी-साहित्य बाढ़ पर आये हुए महानद-सा दिशाओं का ज्ञान खो कर, बढ़ा चला जा रहा है और शीघ्र ही सारे देश के विस्तार को पा लेगा। फिर क्या बात है कि इस गति और विस्तार के बावजूद, कुछ आलोचकों को ऐसा आभास होता है कि साहित्य की धारा अवरुद्ध हो गयी है। प्रगतिशील हों या प्रतिगामी—दोनों कैम्पों ही से यह आवाज़ सुनायी दे जाती है।

०

हिन्दी-साहित्य में गतिरोध की बात पहली बार प्रेमचन्द के देहावसान के पश्चात सुनायी दी थी। तब यदि कुछ आलोचकों ने आवाज़ उठायी कि हिन्दी-कहानी की गति रुक गयी है तो कुछ दूसरों ने नारा लगाया कि हिन्दी-कहानी प्रेमचन्द से एक हज़ार कदम आगे है।[1] लेकिन इसमें कोई शक नही कि प्रेमचन्द के देहावसान के कुछ वर्ष बाद ही हिन्दी-कहानी की गति कुछ मन्द हो गयी और कुछ अजीब तरह का शून्य कहानी-साहित्य के क्षेत्र मे व्याप्त रहा। प्रायः जब कोई बड़ा साहित्यिक अपने कार्य-क्षेत्र से उठ जाता है और कोई दूसरा तत्काल उसकी जगह नही ले पाता तो पाठकों और आलोचकों को वैसे गतिरोध का संशय होने लगता है। साहित्य-क्षेत्र ही की बात नहीं, रण-क्षेत्र हो, अथवा राजनीतिक-क्षेत्र, किसी बड़े नायक अथवा नेता का निधन, ऐसी ही स्थिति उत्पन्न कर देता है। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के राजनीतिक वातावरण को देखने से इस बात का भली-भाँति पता चल जायगा। हिन्दुस्तान में महात्मा गांधी अपने जीवन-काल ही में नेहरू को

---

१. मासिक 'हंस' में कांतिचन्द्र सोनरिक्सा का इसी शीर्षक का लेख।

अपनी जगह सम्हालने के लिए तैयार कर गये थे, पर जिन्ना ऐसा नहीं कर सके और पाकिस्तान मे जिन्ना के मरते ही प्रबल गतिरोध उत्पन्न हो गया।

प्रेमचन्द जिन दिनों हिन्दी-क्षेत्र मे आये, प्रसाद पहले से वहाँ मौजूद थे। प्रसाद मुख्यत: कथा-लेखक नही, कवि और नाटककार थे। वे कलावादी थे। सामाज-हितैषिता उनकी कहानियो का उद्देश्य न था। यह सच है कि उन्होंने हिन्दी-कहानी को महज़ मनोरंजन के स्तर से उठा कर साहित्यिक उत्कर्ष दिया, पर समाज-हितैषिता की भावना के अभाव में वह उत्कर्ष उनकी कहानियो में (अपवाद-स्वरूप कुछ कहानियों को छोड़ कर) महज़ कुछ ऊँची तरह का मनोरंजन हो कर ही रह गया। उनकी कहानियो का मूल-द्रव्य प्रेम, (यथार्थ नही, काल्पनिक) सौन्दर्य, करुणा, कवित्व और नाटकीयतापूर्ण कल्पना रही। इन्ही के बल पर वे कला की सुन्दर कृतियाँ रचते रहे। उनकी नाक के नीचे गंदी गलियों, किलबिलाती नालियों, कूड़े-करकट के ढेरों से हो कर बहती हुई जीवन-धाराएँ किस तरह व्यापक, पाकीज़ा, अकलुष ज़िन्दगी की पतितपावनी की ओर निरन्तर प्रवहमान हैं, उस ओर उन्होने उतना ध्यान नही दिया। अपने अध्ययन-कक्ष में बैठे वे भारत के स्वर्णयुग के पन्ने पलटते रहे, अपनी कल्पनाओं को रोमान-भरे जीवन में उन्मुक्त विचरने के लिए छोड़ते रहे। काल्पनिक स्त्री-पुरुष रचते रहे जो उनके इगित पर पुतलियों की तरह नाचते रहे। इस रोमान और सौन्दर्य के अनुरूप ही काव्यमयी, लालित्य-भरी, क्लिष्ट और संस्कृतनिष्ठ उनकी भाषा रही। साधारण-से-साधारण घटनाए और भाव भी उनके यहाँ उपमाओं और अलंकारों में व्यक्त हुए। उनकी कहानी 'नूरी' में जब काश्मीरी शहज़ादा अकबर को ढूंढता नूरी के कुंज में आ निकलता है और उसे चुप कराने को कटार खीच लेता है तो नूरी डर गयी, ऐसा न लिख कर प्रसाद लिखते हैं : 'भयभीत मृगशावक-सी काली आँखें अपनी निरीहता में दया की—प्राणों की भीख माँग रही थीं।'

प्रसाद की कोई कहानी लीजिए—'आकाश दीप', या 'इन्द्रजाल', 'नन्हा जादूगर', या 'परिवर्तन', 'चित्र वाले पत्थर', या 'सलीम'—इस देश के हो कर भी उनके पात्र इस देश के नही लगते गँवार हों या सस्कृत, अपढ़ हों या शिक्षित, पहाड़ी हों या शहरी—सब वही लालित्यमयी भाषा बोलते है, कुछ वैसा ही अयथार्थ प्रेम करते हैं। समाज से कोई पात्र प्रसाद ने लिया भी (जैसे नन्हा जादूगर मे) तो उसे अपनी कल्पना के रंग मे रंग कर अयथार्थ बना दिया। और यों उनकी कहानियाँ सुन्दर, मनमोहक, मनोरजक, काव्यमयी

पर अयथार्थ रहीं। अपने उपन्यास 'तितली' और 'कंकाल' में उन्होंने अवश्य यथार्थ को छुआ, पर उधर रुचि न होने से अपनी पूरी सम्वेदना और कला वे उसे नहीं दे पाये और वे कृतियाँ अपेक्षाकृत कम मनोरंजक रहीं।

प्रेमचन्द न कवि थे, न नाटककार, वे अव्वल-आखिर कथाकार थे। फिर कल्पना और इतिहास के बदले उनकी कहानियों का द्रव्य था—युग और जीवन। कला की साधना कला-मात्र के लिए करने में उनका विश्वास न था। कला की सामाजिक उपादेयता मे उनका विश्वास अडिग था। उनकी कहानियाँ कल्पना के पंखों पर न उड़ती थी, वास्तविकता की नीव पर टिकी थी, भले ही उनके शिखर आदर्श के आकाश को छूते हों। इतिहास अथवा अनजाने रोमानी प्रदेशों में उन्होंने अपनी कल्पना के अश्व न दौड़ाये हों, सो बात नहीं, लेकिन उनकी रोमानी (जैसे लैला) और ऐतिहासिक (जैसे 'विक्रमादित्य का तेगा' और 'रानी सारन्धा') कहानियाँ भी कला के अनुपम नमूने प्रस्तुत करने के लिए नहीं, वरन् सामाजिक और नैतिक तत्वों की प्रतिष्ठा के लिए ही लिखी गयीं। अपनी कहानियों और उपन्यासों के पात्र उन्होंने अपने इर्द-गिर्द से उठाये। वही की चलती-फिरती भाषा, वही के मुहावरे और वहीं की लोकोक्तियाँ! जैसे प्रसाद तत्कालीन समाज से पात्र चुनने के बावजूद इतिहास और रोमान के कथाकार थे, इसी तरह प्रेमचन्द इतिहास और रोमान के अफ़साने लिखने पर भी युग और जीवन के चितेरे थे। जहाँ प्रसाद ने वर्तमान की समस्याओं को लगभग नही छुआ, वहाँ प्रेमचन्द ने वर्तमान की समस्याओं ही को लिया। उन्होने औसत आदमी के लिए औसत आदमी की कहानियाँ लिखीं और देखते-देखते प्रसाद और उनके अनुयायियों को कहीं पीछे छोड़ गये। उन्होंने इस निष्ठा, साधना, विश्वास और सही-दिमाग़ी से लिखा, इतना लिखा और लगातार लिखा कि जब तक वे जिये, उनके विचारों की प्रगति हिन्दी-कथा-क्षेत्र की प्रगति रही।

०

प्रेमचन्द के कार्यकाल के अन्तिम कुछ वर्षों में एक नयी प्रवृत्ति साहित्य-क्षेत्र में आयी। आयी वह पच्छिम से। उर्दू मे इसके अलमबरदार श्री सज्जाद ज़हीर, अख़तर हुसेन रायपुरी, डॉ० रशीदा जहाँ और अहमद अली थे और हिन्दी मे जैनेन्द्र।

उर्दू मे विलायत से शिक्षा पा कर लौटने वाले कुछ लेखकों ने 'अंगारे' के नाम से कहानियों का एक सग्रह छपवाया। वे कहानियाँ आदर्शवादी न हो कर कटु-यथार्थवादी थी और उनमें उन बर्बर भावों, यौन सम्बन्धी दमित

चेष्टाओं, भावनाओं और इर्द-गिर्द के घिनौनेपन का ज़िक्र वर्जित न समझा जाता था, जिनका उल्लेख करने से प्रेमचन्द घबराते थे। मनोविज्ञान का—विशेषकर सेक्स सम्बन्धी दमित भावनाओं को उद्‌घाटित करने वाले मनोविज्ञान का—समावेश भी इन कहानियों में प्रचुर था।

उन्हीं दिनों श्री सज्जाद ज़हीर ने अपना एक नाटक 'बीमार' लिखा जिसमें विवाहित नारी की कुण्ठाओं का सुन्दर चित्रण था। वे कुण्ठाएँ उस समय अर्ध-चेतन से उभर कर बाहर आती हैं, जब उसके घर में एक बीमार कवि आ जाता है। उसकी थीम जैनेन्द्र की भाभीवादी कहानियों जैसी ही थी।

इन्हीं लोगों ने पहले-पहल प्रगतिशील-लेखक-संघ का सूत्रपात किया। प्रेमचन्द तो बराबर उर्दू में लिखते थे। उर्दू-साहित्य से परिचित रहते थे और नये विचारों और प्रभावों से घबराते न थे। इस यथार्थवादी धारा का प्रभाव उनकी बाद की कहानियों और उनके उपन्यास 'गोदान' पर स्पष्ट है। जैनेन्द्र भी प्रगतिशील आन्दोलन के साथ थे और उनके द्वारा हिन्दी-कहानी को मनोविज्ञान का वैसा ही पुट मिला। लेकिन जहाँ उर्दू-लेखक उस चित्रण को प्रकृतवाद की दलदल से निकाल कर आलोचनात्मक और सामाजिक यथार्थवाद की ओर ले गये, जैनेन्द्र, अहमद अली की तरह उससे ऐसे चिमटे कि उसका दामन नहीं छोड़ पाये। 'बुद्धि की दुश्मनी'[1] (जो प्रेमचन्द के आदर्शवाद से दुश्मनी थी) को उन्होंने समाज-हितैषिता से दुश्मनी मे बदल दिया। हश्र उनका अहमद अली से भिन्न नही हुआ—बावजूद सारे आध्यात्मिक प्रवचनों और उलझे निबन्धों के।

प्रेमचन्द के अन्तिम कुछ वर्षों मे जैनेन्द्र काफी ख्याति पा गये थे। उन्ही के एक लेख से पता चलता है कि प्रेमचन्द ने एक तरह से उन्हें अपना उत्तराधिकारी भी मान लिया था। उनकी कुछ कहानियों, जैसे 'अपना पराया,' 'पत्नी', 'पाज़ेब' इत्यादि पर प्रेमचन्द का प्रभाव भी स्पष्ट है, पर उनकी शेष कहानियों में वह प्रभाव दिखायी नहीं देता। अपनी रुचि और सीमाओं के कारण वे उसे बनाये नही रख सके अथवा सचेष्ट प्रयास करके वे उससे मुक्त हो गये।

---

१. 'एक बार प्रेमचन्द से मैंने (जैनेन्द्र ने) पूछा कि बताइए अपने सारे लिखने में आपने क्या कहा और क्या चाहा है? उन्होंने विना देर लगाये उत्तर दिया—धन की दुश्मनी! मै अपने से यही पूछूँ तो उत्तर मिले—बुद्धि की दुश्मनी' (साहित्य का श्रेय और प्रेय पृष्ठ १५)।

प्रेमचन्द की निष्ठा, श्रम, दयानतदारी, सही-दिमाग़ी, जन-गन तथा समाज के प्रति उत्तरदायित्व जैनेन्द्र के यहाँ बिलकुल नहीं था। घोर प्रतिभा, प्रबल-महत्वाकांक्षा और प्रचड अहम्—इन्ही तीनों को ले कर जैनेन्द्र साहित्य-क्षेत्र मे उतरे। प्रेमचन्द की सीमा को लाँघ जाने की त्वरा में वे उनकी उस शक्ति को, जिससे प्रेमचन्द ने लगातार लिखा और पहले से अच्छा लिखा, खो बैठे और अपनी घोर प्रतिभा और प्रबल महत्वाकांक्षा के बावजूद प्रेमचन्द की तरह हिन्दी-साहित्य की प्रगति के प्रतीक न बन पाये। हवाई जैसे जलते बारूद की चमचमाती लकीर-सी छोड़ती हुई आसमान की ओर उड़ जाती है, कही ऊंचे में पहुँच कर, एक दम फट कर, कुछ बड़े सुन्दर सितारे छोड़ देती है और फिर बुझी हुई-सी लौ लिये, मन्थर-गति से नीचे उतरने लगती है और कभी-कभार उसमे से बारूद का कोई-कोई बचा-खुचा कण जल कर गिरता है, पर वे चमकते सितारे फिर दिखायी नहीं देते, वैसे ही जैनेन्द्र चार-छै वर्षों ही में अपनी प्रतिभा के शिखर पर पहुँच, कुछेक उच्चकोटि की कहानियाँ और दो-एक उपन्यास दे कर एक दम बुझ-से गये और फिर जो उन्होंने दिया, वह रहे-सहे बारूद के जलते ज़र्रों-सरीखा ही था।

जैनेन्द्र ने स्वयं प्रेमचन्द के बारे में एक जगह लिखा है :

"प्रेमचन्द की कहानियों के चौखटे इर्द-गिर्द के यथार्थ जीवन से उठा लिये गये हैं। उनकी कहानियों का प्राण व्यवहार-धर्म है। उनके पात्र सामाजिक हैं। उनके चरित्र महान इसलिए नहीं कि प्रेमचन्द जी ने उन्हें महान बनने नहीं देना चाहा है। सब-के-सब गुण-दोषों के पुंज हैं। किसी का दोष विराट अथवा इतनी सघनता से काला नहीं बन पाता कि उसमें चमक आ जाय, न किसी का गुण हिमालय की भाँति शुभ्र और अलौकिक कांति देने वाला बन पाता है। औसत आदमी की सम्भावनाओं से परे उनके पात्र नहीं जाते। कल्पना को प्रेमचन्द उठने देते हैं, पर रोमांस की हद तक नहीं। जैसे उन्होंनें अपने-आप को एक कर्तव्य में बाँध लिया है और कर्तव्य उनका वर्तमान के प्रति है। मोक्ष और भविष्य से उनका इतना सम्बन्ध नहीं, जितना मानव-समाज और उसकी आज की समस्याओं से। वे समाज-हितैषिता से छूट नहीं सकते। यही उनकी शक्ति और यही उनकी सीमा है।"

यह उद्धरण प्रेमचन्द को समझने में उतनी सहायता नही देता, जितनी जैनेन्द्र को। जैनेन्द्र के उपन्यास और कहानियाँ साक्षी हैं कि उनके सर्जक ने चाहा कि उनके चौखटे इर्द-गिर्द के यथार्थ जीवन से न उठें ; कि उनके पात्रों

के दोषों में चमक आये ; कि उनके गुण अलौकिक कांति दें ; कि उनकी कल्पना उड़े तो रोमांस की हदें छू ले और वे प्रेमचन्द की समाज-हितैषिता की सीमाओं को लाँघ जायँ।

जैनेन्द्र, प्रेमचन्द की सीमाओं को लाँघ गये। प्रेमचन्द सरीखी कहानियाँ लिखते-लिखते वे 'रत्नप्रभा', 'उर्वशी', 'एक रात', 'प्रतिभा' जैसी कहानियाँ लिखने लगे। प्रेमचन्द वहिर्निष्ठ थे तो जैनेन्द्र उनकी विपरीत दिशा में बढ़ कर आत्मनिष्ठ हुए। प्रेमचन्द की कहानियों का धरातल सामाजिक था तो जैनेन्द्र का वैयक्तिक हुआ। प्रेमचन्द लौकिक के कथाकार थे तो जैनेन्द्र धीरे-धीरे अलौकिक के कथाकार हो गये। प्रेमचन्द औसत आदमियों की बातें औसत आदमियों के लिए लिखते थे तो जैनेन्द्र विशिष्ट जनों की बातें विशिष्ट जनों के लिए लिखने लगे। फल वही हुआ जो होता। वे धारा से अलग जा पड़े। प्रेमचन्द से कहीं ऊँचा उठने की महत्वाकांक्षा में वे सिर के बल आ पड़े और 'हम तो डूबेंगे सनम तुमको भी ले डूबेंगे' के अनुसार हिन्दी-कहानी की प्रगति को कुछ काल के लिए ले बैठे। अपने दिशा-विभ्रम में उन्होंने हिन्दी-कहानी को गहन दर्शन और 'मनमाने मनोविज्ञान' से कुढब रास्तों पर डाल दिया।

प्रेमचन्द और प्रसाद जिन दिनों सृजनशील थे, उनका यह सतत प्रयास रहता था कि वे अपनी कला को निरन्तर सँवारें-सुधारें। उनकी नयी कृति प्रायः पहली से सुन्दर होती थी। प्रेमचन्द और प्रसाद की अन्तिम रचनाएँ अधिकांशतः उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। प्रेमचन्द का 'गोदान' और प्रसाद का महाकाव्य 'कामायनी' तथा उपन्यास 'तितली' इसके प्रमाण हैं। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य की प्रगति का एहसास सदा पाठकों को रहता था। पर जैनेन्द्र की बाद की कृतियाँ उनकी पहली कृतियों की छाया भी न बन पायी। अपने अपमानित अहम् के कारण (जिसने वर्धा के विचारकों से अवमानना पायी) अथवा अपनी महत्वाकांक्षा के कारण, जो प्रेमचन्द, टैगोर, तालस्ताय और गोर्की से ऊपर उठना चाहती थी, जब अपनी शक्ति (जो सामाजिक जीवन को जीने से आती है।) और बुद्धि (जो गहरे अध्ययन, चिन्तन और मनन से प्राप्त होती है।) से ऊपर उठ जाने की उन्होने कोशिश की तो 'कुछ न समझे खुदा करे कोई'—की-सी चीजों का सृजन करके रह गये।

'एक रात' संग्रह की भूमिका मे उन्होने लिखा :

"एक रात' के बारे में लोग पूछते हैं कि यह क्या है ? मै कह देता रहा हूँ कि जो है वही है। मै उनकी शंका के प्रति अविनयी नहीं वना हूँ। किन्तु

जब उन्होंने मुझे सुनाया कि कहानी पढ़ते-पढ़ते उन्हें लगी अवश्य अच्छी है, तभी मैने भर पाया। इसके आगे बढ़ने पर जब वे उसके अर्थ माँगते देखे गये तो मैंने कहा कि रस ले कर वे मुझसे और अधिक माँगते ही क्यों है ? समझ लें कि मेरे पास अर्थ बाँटने के लिए है ही नहीं।"

आलोचकों ने समझा जैनेन्द्र उन्हें मूर्ख समझते हैं, उनका मजाक उड़ाते है, सो उन्होने उनकी कहानियों में रस लेने के बाद अर्थ ढूँढ़ने की भी कोशिश की और जब बहुत कोशिश के बाद उन्हें लगा कि वे केवल पानी को बिलो रहे हैं तो वे हार कर चुप हो गये। जैनेन्द्र के कथाकार में Quack (नकली) दार्शनिक के पूरे गुण रहे हैं। ऐसे महात्माओं की कमी इस पुण्यभूमि में नहीं जो निपट निरक्षर हैं, पर ऐसी उलझी-सुलझी बातें कह देते है कि सुनने वाले अपनी-अपनी समझ के अनुसार (दार्शनिकता तो भारतवासियों की घुट्टी में पड़ी है) उनके किसी एक शब्द या वाक्यांश का अर्थ लगा कर सतुष्ट हो जाते हैं। अपनी किसी (तथाकथित) दार्शनिक कहानी की व्याख्या का झमेला जैनेन्द्र ने कभी नहीं पाला। आलोचकों से कह दिया कि मैंने अपनी कह दी, आप अपनी समझिए। उसमें कुछ नही तो कुछ नही, है तो है। और यों सदा छुट्टी पा गये।

परिणामतः वे कथाकार के बदले विचारक कहाने लगे, कहानियाँ लिखने या लिखाने के बदले प्रवचन देने और प्रश्नों के उत्तर लिखाने लगे।

लेकिन हर समय साहित्य-क्षेत्र मे ऐसे लेखक होते हैं, बड़ों जो की ओर देख कर अपना पथ निर्धारित करते हैं। जिस समय प्रेमचन्द और प्रसाद लिखते थे, तब उन दोनों के गिर्द कुछ लेखकों का गिरोह था—प्रसाद-स्कूल में रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, चंडीप्रसाद हृदयेश और वाचस्पति पाठक थे और प्रेमचन्द-स्कूल में कौशिक, सुदर्शन, राजेश्वरप्रसाद सिह इत्यादि। प्रेमचन्द के आने के बाद जैसे प्रसाद-स्कूल के लेखक मौन हो गये थे, इसी तरह जैनेन्द्र के आते ही प्रेमचन्द-स्कूल के लेखक पीछे पड़ गये।

रहे नये लेखक, तो पहले उन्होंने जैनेन्द्र का अनुकरण करने का प्रयास किया। 'माधुरी' १६३८ के विशेषांक मे जैनेन्द्र, पहाड़ी तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी का कहानियाँ एक जैसी थीम को ले कर निकलीं। न केवल कथानक, बल्कि भाव और भाषा तक उनमें एक सरीखी थी। निश्चय ही जैनेन्द्र का प्रभाव पड़ रहा था। लेकिन प्रेमचन्द लगातार लिखते थे, इसलिए वे कहानी को प्रसाद से कही आगे उठा कर ले गये। जैनेन्द्र में न केवल उस निष्ठा और विश्वास की कमी थी, वरन् उनका द्रव्य मनोविज्ञान के नाम पर यौन-

सम्बन्धी दमित इच्छाओं का उद्‌घाटन और उलझा हुआ दर्शन था। यौन सम्बन्धी दमित इच्छाओं के उद्‌घाटन से, चाहे वह कितना भी मनमाना क्यों न हो, यदि उन्होंने रस की सृष्टि की तो माँगे के दर्शन से कहानी को अनजाने ऊबड़-खाबड़ मार्गो मे उलझा कर ले गये। दो-चार क़दम हिन्दी-कहानी इस मार्ग पर चली, फिर थक कर बैठ गयी और गतिरोध का पहला एहसास हिन्दी-कथा-साहित्य के पाठकों को हुआ।

०

इससे पहले कि कहानी-क्षेत्र में जैनेन्द्र के बाद आने वाले लेखको का उल्लेख करें, प्रसाद, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के कार्य का जायज़ा लेना ज़रूरी है। क्या जैनेन्द्र ने कहानी को किसी दिशा में आगे नही बढ़ाया, या वे उसे पीछे ले गये ? क्योंकि रस की सृष्टि तो प्रसाद का भी उद्देश्य था और प्रेमचन्द का भी !

जैनेन्द्र की विचार-प्रधान कहानियों को छोड़ दें तो मान लेना होगा कि जहाँ तक मनोविज्ञान का सम्बन्ध है जैनेन्द्र ने निश्चय ही प्रेमचन्द की कहानी में बहुत कुछ अपनी ओर से बढ़ाया, पर जहाँ उन्होनें उपादेयता अथवा उनके अपने शब्दों में समाज-हितैषिता की उपेक्षा की, वहीं वे कहानी को फिर पीछे ले गये।

भाषा के क्षेत्र मे भी जैनेन्द्र ने यही किया। भाषा को व्याकरण की कठोर कारा से मुक्त कर उन्होंने उसमें अजीब प्रवहमानता और अभिव्यक्ति की सरलता ला दी। उनके कुछ प्रयोग दूसरो ने अपना लिये, लेकिन स्वयं उन्होंने उस तोड़-मरोड़ को कुछ इतना बढ़ाया कि वह सरलता कृत्रिम और सायास होने से दुरूह हो गयी और यह क़दम निश्चय ही पीछे की ओर को था।

जहाँ तक मनोविज्ञान का सम्बन्ध है, प्रेमचन्द के यहाँ मनोविज्ञान का सर्वथा अभाव हो, ऐसी बात नही। उनकी कहानियाँ 'नशा,' 'बड़े भाई साहब', 'मनोवृत्तियाँ' इत्यादि बड़े गहरे मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण करती हैं, लेकिन मानव-मन की यौन सम्बन्धी गुत्थियों को खोल कर स्तर-दर-स्तर दिखाने की उन्होंने कभी कोशिश नही की। जैनेन्द्र ने उस विशिष्ट ज्ञान से हिन्दी-साहित्य को विभूषित किया। देवर-भाभी को ले कर उन्होने ऐसी कहानियाँ लिखी, जिनमें पति बहुत अच्छा, बहुत नेक, बहुत अमीर[1] पर

---

१. श्रीकान्त खुले मन, पुष्ट देह, सम्पन्न परिस्थिति, सुन्दर वर्ण और धार्मिक वृत्ति का पुरुष है। यही बात 'विवर्त' की विश्व मोहिनी तथा 'सुखदा' की नायिका के पति की है।

बीवी निठल्ली होने के कारण ऊबी, थकी, उदमाती और आखिर पति के (अथवा अपने) पुराने मित्र के प्रेम में फँसी।

क्या ऐसा करना बुरा था? क्या इन कहानियों से (उस तरह जितनी कहानियाँ भी लिखी गयीं, उनसे) हिन्दी-साहित्य का अहित हुआ? उत्तर में सहसा 'हाँ' या 'ना' कहना शायद ग़लत होगा। ऐसा करना बुरा न था, क्योंकि जैनेन्द्र ने पहली बार हमारे अन्तर-मन की दमित इच्छाओं की ऊपरी परत को फोड़ा और हमारी कहानियों को कुछ वैसी गहराई प्रदान की जो प्रसाद छोड़, प्रेमचन्द के यहाँ भी न थी। जिसका होना वाञ्छनीय था। 'राजीव और उसकी भाभी,' 'मास्टरजी,' 'बिल्ली बच्चा,' इत्यादि कुछ ऐसी कहानियाँ उन्होंने लिखीं, जिनके सत्य से न केवल इनकार करना मुश्किल है, बल्कि जिनका दर्द अनायास हृदय को छू लेता है। लेकिन इन चार-छै कहानियों को छोड़ दें तो मानना होगा कि जैनेन्द्र का उद्देश्य सामाजिक नहीं था। यह उनकी शक्ति नहीं, सीमा थी।

मनोवैज्ञानिक सत्यों तक जैनेन्द्र की पहुँच अचूक है। यों फ़ायड तथा दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने उस पहुँच को सर्व-साधारण के लिए सुलभ भी कर दिया है। जैनेन्द्र की सीमा यह है कि अपनी अधिकांश कहानियों मे उन्होंने मनोवैज्ञानिक सत्यों को—मानव की उन कुण्ठाओं, बुभुक्षाओं और उनकी पूर्ति को—अपने में साध्य समझा है। उस पूर्ति के लिए किसी की पत्नी उसके सारे प्रेम-निवेदन को ठुकरा कर (वह पति शराबी ही क्यों न हो) एक लगभग अनजाने, भूतपूर्व मँगेतर के लिए आँधी-पानी में चली जाती है और स्टेशन के प्लेटफ़ार्म की बेंच पर निरावरण हो उसे आत्म-समर्पण कर, उसकी और अपनी कुण्ठा का खात्मा करती है।[1] ...यहाँ कुण्ठा की सच्चाई से इनकार नहीं, पर क्या उतने ही से दोनों की कुण्ठाएँ समाप्त हो गयीं। नियति-शासित-सा, अपने में साध्य-सा आत्म-समर्पण ही क्या उन्हें सदा के लिए संतुष्ट कर गया? कि नारी माँ बनने की सम्भावना लिए हुए संतुष्ट चली गयी और पुरुष जैसे उस गहरे सत्य का पता पा कर तृप्त हुआ? यदि ज़िन्दगी इतनी आसान होती तो फिर क्या था? यह जीवन इतना पेचीदा, इतना उलझा क्यों होता? समाज क्यों होता? उसके नियम क्यों होते? (होते तो बार-बार क्यों बदलते?) अपनी आधारभूत इच्छाओं और आकांक्षाओं को मानव खुला छोड़ देता, उन्हें तृप्त कर सुख और स्वर्ग पाता। लेकिन वैसा तो नहीं है।

---

१. कहानी 'एक रात' में।

इसलिए मनोवैज्ञानिक सत्य साधन हैं जीवन की गुत्थियों को सुलझा कर उसे बेहतर बनाने के लिए ! समाज के (ज़रूरत खत्म होने के बावजूद) रूढिगत हो, चले आने वाले नियमों को बदलने के लिए ! उसे अपेक्षाकृत स्वस्थ, सुन्दर और समतल बनाने के लिए ! प्रेमचन्द ने अपनी बाद की कहानियो में मनोविज्ञान प्रयोग इसी ध्येय से किया। रहे प्रसाद तो वे कलावादी होने के नाते समाज-हितैषिता की भावना से उतने प्रेरित न थे। सो, जैनेन्द्र ने अपने मनोविज्ञान से प्रेमचन्द की परम्परा को नहीं, प्रसाद की केवल रस-प्रदान करने वाली परम्परा ही को बढ़ाने में योग दिया।

मनोविज्ञान के अतिरिक्त जैनेन्द्र का दूसरा कारनामा अपनी कल्पना को 'रोमांस' की हदों को छूने के लिए स्वतन्त्र कर देना है। यहाँ रोमांस का अर्थ कोशगत नही [1], क्योंकि उन अर्थों में तो प्रेमचन्द ने भी—यथार्थ की दुनिया से दूर—कोहाट और बन्नू के परे के अनजाने, रोमानी प्रदेशों की सर्वथा कल्पित कहानियाँ लिखी हैं। रोमांस जैनेन्द्र के यहाँ प्रेम—मांसल और शारीरिक—के अर्थों में आता है। जैनेन्द्र को शिकायत है कि प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध में अपने ऊपर व्यर्थ का संयम रखा। उनका दावा है कि वे स्वयं इस सिलसिले मे आगे बढ़े। उन्होंने सेक्स को ले कर कई कहानियाँ लिखीं 'ग्रामोफ़ोन का रेकार्ड', 'एक रात,' 'रत्न प्रभा,' 'प्रतिभा' सेक्स ही की दमित भावनाओं का उद्घाटन करती हैं। उनके उपन्यास 'सुनीता', 'विवर्त,' 'सुखदा' और 'व्यतीत'—सब में जैनेन्द्र ने इन्ही का उद्घाटन किया है।

"...अरे ओ, लदे-ढके मानव, जो दूसरे की आँख से अपने को ढकता है, सूरज की धूप से अपनें को ढकता है, हवा के स्पर्श से अपनें को ढकता है, सच की जोत से अपनें को ढकता है, अरे क्यों, कपड़ों से लदा-ढका ही क्या तू सभ्य है ? कपड़ों को उतारने के साथ-साथ क्या तेरी सभ्यता, तेरी सम्भावना तिरोहित हो जायगी ? क्यों रे लदे-ढके मानव ?..."

जब सुदर्शना जयराज के कहने पर अपनी एक-मात्र धोती तक उतार कर उसे दे देती है और कुनमुनाती, कुलबुलाती, बड़े सुख से जयराज की गोद में लेट जाती है—खुले प्लेटफ़ार्म की खुली बेंच पर (भले ही काली अँधेरी रात के सन्नाटे मे) तो जैनेन्द्र उपरिलिखित दर्शन के मोती बिखेरते हैं और लदा-ढका मानव—याने जयराज—हाथ के स्पर्श से कम्बल के नीचे सिर से

---

1. Romance : any fictitious narrative in prose or verse which passes beyond the limits of real life.

कटि तक (ग्रौर नीचे तक क्यों नही ?) उसके शरीर को सहलाता हुग्रा उसे गर्मी पहुँचाता है। सोचता है :

"...चाहे वह पति को छोड़ कर ग्रायी है, पर स्नेहमयी के लिए भगवान कहाँ नहीं हैं। ग्रौर उसके लिए वर्ज्य क्या है ? नियम कहाँ है ?..."

ग्रौर कि :

"...स्नेह ग्रगीकरण के लिए है, ग्रस्वीकरण के लिए नहीं !"

ग्रौर :

"...स्नेह तो यज्ञ है। इसमें तेरा-मेरा कहाँ है ? इस सन्देह को ले कर समाज में उलझनें कैसे पैदा हो सकती हैं ?"

ग्रौर सुदर्शना रात के उस सन्नाटे में जयराज को ग्रात्म-समर्पण कर, उसकी ग्रौर ग्रपनी कुण्ठा की गाँठ खोल, सुख दे ग्रौर सुख पा, उसे नितांत वंधन-मुक्त छोड़ कर चली जाती है।

ग्राज जैनेन्द्र को 'नदी के द्वीप' मे मिथुन[1] के सिवा कुछ दिखायी नही देता। पर यदि वे ग्रपनी इसी कहानी—'एक रात'—को दोवारा ध्यान से पढें तो उन्हें मालूम होगा कि 'नदी के द्वीप' एक रात ही का परिवर्धित रूप है। वड़े मनमोहक, पाठकों के स्नायुग्रो को तान देने वाले ढंग से सुदर्शना को निरावरण कर, उसे जयराज के लगभग निरवस्त्र शरीर पर डाल कर, जैनेन्द्र ने शेप जो व्योरे पाठक की कल्पना के लिए छोड़ दिये हैं, उन्हें उतने ही मनमोहक ढंग से, वड़ी प्यारी, काव्यमयी भाषा में ग्रज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' मे दे दिया है ग्रौर ग्रन्त वही है जो 'एक रात' का। वहाँ सुदर्शना यज्ञ के लिए समर्पित उस जयराज को सुख दे कर (ग्रौर पा कर) उसे उन्मुक्त छोड़ जाती है। 'नदी के द्वीप' मे रेखा उस देव-शिशु—भुवन—को सुख दे कर ग्रौर पा कर 'सुख देते-पाते उन्मुक्त घूमो' का ग्राशीर्वाद दे कर उसके जीवन से हट जाती है।

कमला चौधरी ने ग्रपनी 'साधना का उन्माद' मे साधना के उन्माद की जहाँ एक झलक दी है, जो यथार्थ भी है ग्रौर सुन्दर भी ग्रौर विचारोत्तेजक भी, वहाँ जैनेन्द्र ने 'रत्नप्रभा' में उस उन्माद को पूरी तरह व्यक्त कर दिया है। जैनेन्द्र को इस वात का गर्व है कि दूसरे जो कहने से झिझके, उन्होंने निःसंकोच कहा, रवि वावू के 'घर वाहर' से न केवल कथानक वरन् पात्र

---

१. ग्रालोचना (दिल्ली) जनवरी १९५२ में शिवदान सिंह के नाम जैनेन्द्र का पत्र।

तक ले कर जैनेन्द्र ने 'सुनीता' का सृजन किया। यह साहित्यिक चोरी अपने मे निहायत निन्दनीय है। जब किसी ने पूछा कि आपने 'घर बाहर' की नकल क्यों की? तो जैनेन्द्र ने इस चोरी को स्तुत्य क़रार देते हुए कहा, 'टैगोर ने 'घर बाहर' मे जो नही कहा, वह मैंने 'सुनीता' मे कह दिया है।' याने अन्त मे सुनीता साड़ी, ब्लाउज़ उतार, निपट निरवस्त्र हो कर हरि-प्रसन्न से कहती है:

"मुझे ही चाहते हो न...यह मैं हूँ!"

हरिप्रसन्न भाग जाता है कि वह सदीप नही। सदीप अव्वल तो मक्खी रानी (विमला) को उलझा कर यो लाता नही, वैसी गलती करता, मक्खी रानी वैसे साड़ी उतारने लगती तो वह उसे आलिंगन मे कस लेता।

रहा साधना और रत्नप्रभा का उन्माद तो जैनेन्द्र कह सकते हैं कि कमला चौधरी ने जो अपनी कहानी में नही दिखाया, वह उन्होने अपने यहाँ दिखा दिया है।

पर मैं समझता हूँ कमला चौधरी ने बहुत-कुछ दिखा दिया है और जैनेन्द्र ने रत्नप्रभा के सेक्स-भाव पर कोई पट न छोड़ कर पाठको के 'रस' को चाहे बढ़ाया हो, कहानी को बेहतर नही बनाया।

प्रेमचन्द सेक्स को सुई से उपमा देते थे। सुई चुभती है, पर सीती भी है। कोई आदमी सुई से सीनें का काम लेता है और दूसरा कोई, जब कहीं वह चुभ जाती है तो, अँगुली का वह नमकीन, स्वादिष्ट लहू चूसता रहता है। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र में यही अतर है।

सुख देने और सुख पाते चले जाने का जो दर्शन 'एक रात' के बाद 'नदी के द्वीप' मे मिलता है, वह घाव को चूसते रहने का ही दर्शन है। रही उसकी सामाजिकता, तो वह सामाजिकता का विरोधी है। उसके विरोध ही मे वह उठा है।

लेकिन ध्यान से देखा जाय तो वास्तव मे वह पुरुष के लिए सुख पाने और स्त्री को दुख देते चले जाने और यौन-सम्बन्धो को नितान्त बन्धन-मुक्त छोड़ देने का फ़लसफा है। तब प्रश्न उठता है कि यौन-सम्बन्धो की बेलगामी (वह कविता की भाषा ही मे क्यो न रखी गयी हो) इन्सानो को एकदम कुत्ते-कुतियो के स्तर पर नही ला देती क्या? पुरुष *Gay Dog* बना, उत्तरदायित्वहीन घूमता रहे और स्त्री कुतिया बनी झोल उठाती रहे या डॉक्टरी सहायता से, जान की बाज़ी लगा कर, अपनी उस अयाचित विपत्ति से नजात पाती रहे; स्वयं दुख सहे, किन्तु पुरुष को सुख पाने के लिए स्वतन्त्र

छोड़ दे—यह फ़लसफ़ा कितना भी अच्छा क्यों न लगता हो, कितनी भी सुन्दर भाषा में क्यों न रखा गया हो, सामाजिक नही है।

'. . . अरे ओ लदे-ढके मानव. . .' जैनेन्द्र जैसे मानव के खोल को उतारते हुए लिखते हैं, पर कौन नही जानता कि अपने खोल के अन्दर पुरुष-स्त्रियाँ कुत्ते-कुतियों से भिन्न नही, लेकिन न जाने कितनी सदियाँ उन्होंने इन्सान बनने में गुज़ार दी और न जाने कितनी सदियाँ वे अपने इस प्रयास में गुज़ार दें।—'आदमी को भी मयस्सर नही इन्साँ होना'—यह ठीक, पर आदमी इन्सान बनना चाहता है। सदियों से उसके लिए प्रयत्नशील है—दया, धर्म, वफा, सत्य, शान्ति, श्रद्धा, स्वाभिमान, मानवता, प्रेम—ये सारे अच्छे जज्बे महज़ शब्द ही सही, पर इन्ही के पीछे इन्सान पागल रहा है, नही अपने खोल में तो वह सदा का कामी, स्वार्थी, लोलुप, झूठा और फ़रेबी है। संस्कृति इन्ही बर्बर भावनाओं के परिष्कार का नाम है। इन्सान के बुरे जज्बों को प्रेमचन्द दिखाते थे—प्रेमाश्रम का ज्ञानशकर इसका प्रमाण है और वासनाओं का ऐसा सुन्दर चित्रण प्रेमचन्द ने किया है कि अनायास दाद देने को जी होता है—पर इन्सान के अच्छे जज्बों मे प्रेमचन्द की आस्था अदम्य थी—'ईदगाह' में हामिद का अपनी बाल-सुलभ इच्छाओं पर संयम रख, अपने साथियों के साथ खिलौने खरीदने या मिठाई खरीदने का मोह छोड़ कर तीन पैसे का चिमटा खरीद लेना, क्योकि उसकी दादी के हाथ जल जाते थे, आँखों में अनायास आँसू ला देता है।

आस्तिकता का शोर अलापने, कभी वर्धा के सन्तों के पीछे भटकने और कभी जैनी गुरुओं की चौखट पर माथा रगड़ने के बावजूद, जैनेन्द्र के यहाँ आस्था की कमी रही। वे आधारभूत रूप में आस्थावान नही, आस्थाहीन सिनिक हैं।

इन्सान के जागरूक, सचेतन प्रयास मे जैनेन्द्र का ज़रा भी विश्वास नहीं। 'सुखदा' मे (जो हिन्दी के अतीव भावुक पाठक-आलोचक मैं इसलिए नहीं कहता कि आलोचक भावना के बदले विवेक और बुद्धि से काम लेता है—श्री शिवदान सिंह चौहान के निकट इस युग का महानतम यथार्थवादी उपन्यास है) पग-पग पर इस अनास्था और नियतिवादिता के दर्शन होते हैं। पृष्ठ २७ पर जैनेन्द्र सुखदा के मुंह से कहलवाते है :

"अब भी मैं क्यों नहीं समझ पाती कि व्यक्ति जो चाहता है, ठीक उसके करने में क्यों नहीं आ पाता ? क्यों उस से दूर हटता है, जिसके पास होना चाहता है ? क्यों उसे पास बुलाता है, जिससे दूर ही रहना भला। आदमी

की यह विवशता किस लिए ? किस नियम के वह अधीन है ? क्या उस में भलाई है ?...अपने को देख कर आज मुझे बिलकुल समझ में आ गया है कि जो जो है, वह वही नहीं है। पापी पापी नही, पुण्यात्मा पुण्यात्मा नहीं है। चोर चोर नहीं है। डाकू डाकू नहीं है तथा वेश्या वेश्या नहीं। सब वह है जो उसे होना बदा है।"

परिणामतः इन्सान कुछ नहीं कर सकता। उसे कुछ न करना चाहिए! इसी अनास्था के कारण घोर यथार्थता से, मानव की पेचीदा ग्रन्थियो से, जब जैनेन्द्र का सामना होता है तो मनुष्य के चेतन प्रयास, उसके कर्मों की सामाजिकता में इसी अनास्था के कारण वे हमेशा कोई अस्पष्ट-सा, रहस्यवादी, नियतिवादी टोटका दे कर अपने कृतित्व की इतिश्री समझ लेते हैं।

जहाँ जैनेन्द्र प्रेमचन्द से एकदम आगे जाने के बदले पीछे चले गये, वह है नारी-चित्रण। जैनेन्द्र ने नारी को पुरुष के मुकाबिले मे बड़ा हेय दिखाया है। उसका अपना स्वत्व नहीं है। वह पुरुष को सुख देने, उसके रुद्ध-काम की गाँठों को खोलने, उसके व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए आती है। पुरुष से उपेक्षा पाने पर वह पछाड़ें खाती है, उसके पाँव (जूते) चूमती है, उसके घुटनों से लिपटती है और उसकी चरण-रज माथे पर लगाती है। सख्त अपमानित होने पर भी वह स्नेह देती है। शरत की स्नेहमयी नारी ही का वह विकृत रूप है। शरत ने तो अपने नारी-पात्रों से ऊब कर 'शेष प्रश्न' में कमल के रूप में विद्रोह किया भी था, पर जैनेन्द्र 'साधना का उन्माद' से नारी को ले कर उस पर शरत की नारियों का रंग चढ़ाने पर ही सन्तुष्ट रहे। 'त्यागपत्र' की मृणाल में उन्होंने अपनी परम्परागत नारी-भावना को छोड़ने की कोशिश की है, परन्तु अपनी सीमाओं के कारण वैसी नारियों का निर्माण वे नहीं कर सके। मृणाल भी इसीलिए कमज़ोर दिखायी पड़ने लगती है कि उसमें स्वत्व-रक्षा की उतनी भावना नहीं है, जितनी अपनी हठ-रक्षा की और वह भी यथार्थ नहीं, काल्पनिक है। प्रेमचन्द से यह कदम इसलिए पीछे है कि प्रेमचन्द ने पुराने संस्कार मे पत्नी, पति को परमेश्वर समझने वाली नारी के स्वत्व की भी रक्षा की है और 'प्रेमाश्रम' की 'श्रद्धा' इसका प्रमाण है। होरी की धनिया तो पुरुष के पग-से-पग मिला कर ज़िन्दगी का पथ तय करने वाली संगिनी है।

जब तालस्ताय मरणासन्न थे तो चेखव ने कहा था :

"जब तक साहित्य के पास में तालस्ताय हैं, ज़िन्दगी लेखकों के लिए

सुखद हैं चाहे वे कुछ न करते हों, और न आगे ही कुछ करने वाले हों, क्योंकि तात्स्ताय सब की कसर निकाल देते हैं।"

प्रेमचन्द के बारे में यदि यही कहा जाय तो ग़लत न होगा। ठीक है कि प्रेमचन्द के रहते सुदर्शन लिखते थे, कौशिक लिखते थे, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह और राजेश्वर प्रसाद सिंह लिखते थे, लेकिन प्रेमचन्द अकेले जैसे सब के लिए लिखते थे। किसी तरह के गतिरोध का एहसास फिर कैसे होता? यही बात नाटक अथवा काव्य की दुनिया में प्रसाद के बारे में कही जा सकती है। भले ही आज के परवर्तियों को प्रसाद के नाटक काल्पनिक और अयथार्थ लगें (मुझे स्वयं लगते हैं) लेकिन नाटक-साहित्य को गतिशील रखने और आने वाले नाटककारों का पथ प्रशस्त करने में प्रसाद का बहुत बड़ा हाथ है और जो बात उनके नाटकों के बारे में कही जा सकती है, वही उनके काव्य पर भी लागू होती है।

प्रसाद ने कथा को मनोरंजन के स्तर से उठा कर साहित्य की ऊँचाई पर बैठाया, पर प्रेमचन्द ने उसे समाज-हितैषिता का साधन बनाया। प्रसाद ही की तरह इतिहास के जंगल मे घुस कर मनमाने रास्ते बनाने वाले और वर्तमान को भी कल्पना के रंग मे रँग कर मनमोहक पर अयथार्थ और अनुपादेय चित्र प्रस्तुत करने वाले प्रसाद के अनुयायी कथा को बहुत आगे नहीं बढ़ा सके, क्योंकि प्रेमचन्द के रहते महज़ कलावादियों के लिए कोई स्थान न रह गया था। साधारण पाठकों को क्लिष्ट रोमानी शैली में लिखी उनकी कहानियाँ इन्द्रजाल-सी लगती थी। मन को भरमाती, पर मन पर कोई नक़्श न छोड़ती। और प्रसाद के देहावसान के बाद राय कृष्णदास, वाचस्पति पाठक, विनोदशंकर व्यास इत्यादि बहुत दूर तक न चल सके।

०

इस बीच में, जब हिन्दी कथा-साहित्य में अपेक्षाकृत शिथिलता आ गयी, उर्दू-कहानी ने बड़ी प्रगति की। उन वर्षों की उर्दू-कहानी का जायज़ा लें तो मानना होगा कि उर्दू-कहानी-लेखकों ने उस दौर में निश्चय ही प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढाया। 'अंगारे' ग्रुप ने प्रेमचन्द की आदर्शवादी कहानियों में मनोवैज्ञानिकता और यथार्थता का जो पुट दिया, उसे बाद के लेखकों ने असामाजिक नहीं होने दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य में 'मीरा जी' तथा उनके साथियों ने और कहानी-क्षेत्र में मुमताज़-मुफ़्ती आदि ने इस मनोवैज्ञानिकता को केवल दमित वासनाओं के उद्घाटन तक ही सीमित रखा। मुमताज़-मुफ़्ती ने तो फ्रायड के सिद्धान्तों को ले कर श्री इलाचन्द्र जोशी

की तरह उन पर केस-हिस्ट्रियाँ (case histories) ही लिखीं, पर उर्दू में यह अस्वस्थ प्रवृत्ति जनवादी प्रवृत्ति के ज़ोर में दब गयी। मण्टो ने केवल सेक्स ही को अपना विषय बनाया, लेकिन उसकी श्रेष्ठ कृतियों में उसकी व्यापक मानवीयता ही प्रकट होती है। समाज-हितैषिता की भावना उसकी श्रेष्ठ रचनाओं की प्राण है। उर्दू-कहानी ने इस दौर में इतना विस्तार ग्रहण किया कि उतने कम अरसे मे देश के किसी प्रान्त मे कहानी ने वैसी प्रगति नहीं की और उर्दू-कहानी के उस सरमाये को देख कर यह कहना पडता है कि चाहे उर्दू-कहानी ने प्रेमचन्द ऐसा कोई अकेला साहित्यिक पैदा नही किया, पर सामूहिक रूप से सब कहानीकारो ने मिल कर उस परम्परा को आगे बढ़ाया। (और यह मेरे उर्दू के निकट-सम्पर्क का ही सुफल है कि प्रेमचन्द के निधन और जैनेन्द्र के भटकाव का मुझ पर कोई प्रभाव नही पडा। मैं निरन्तर लिखता रहा और मेरी कुछ उच्च कोटि की लोकप्रिय कहानियाँ इसी दौर की याद है)

०

मौन जब टूटा तो एक ओर यशपाल 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और दूसरी ओर अज्ञेय 'शेखर' को ले कर मैदान में आये और कथा की धारा फिर दो भागों मे बँट गयी। वे दो रास्ते पहले भी थे। एक पर प्रसाद और उनके अनुयायी चल रहे थे, दूसरे पर प्रेमचन्द।

यशपाल प्रेमचन्द ही का हर गुण ले कर आये, यह कहना शायद गलत है। प्रेमचन्द सुधारवादी थे। उनके उपन्यासो का तार ('गोदान' और 'निर्मला' को छोड कर) सदा किसी आश्रम पर जा कर टूटता। 'निर्मला' और 'गोदान' प्रेमचन्द के श्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यास हैं और हिन्दी के लघु-उपन्यासों के इतिहास में तो 'निर्मला' युद्ध-पूर्व के उपन्यासों में सर्व-श्रेष्ठ है। प्रेमचन्द अपने वक्त की प्रगतिशील कांग्रेस के साथ थे और उनके उपन्यास वास्तव में कांग्रेस-आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण करते हैं। यशपाल मार्क्स से प्रभावित हैं। सुधार में विश्वास नही रखते। जब तक देश की आर्थिक व्यवस्था मे समूल परिवर्तन नही होता, तब तक देश की अधिकांश जनता आज़ाद हो कर भी गुलामो से वदतर जिन्दगी वसर करेगी, यह वात वे भली-भाँति जानते हैं, इसीलिए बुर्जुआ संस्कृति के खोखलेपन का भण्डा-फोड़ और जाने वाले समाज की झाँकी यशपाल अपने कथा-साहित्य मे दिखाते रहे हैं। उनके उपन्यास भी देश के प्रगतिशील आन्दोलनों का प्रतिनिधित्व करते है और इसीलिए उनकी परम्परा वही है। आदर्श भी वही है—जन-रंजन और देश के करोड़ों भूखे-नंगों के लिए स्वस्थ और सुखद जीवन का स्वप्न—

जिसे उन्होंने 'देशद्रोही' की भूमिका में कल्पना के चाँद से उपमा दी है। इसी परम्परा में 'पार्टी कामरेड' उनका लघु-उपन्यास हिन्दी के कथा-साहित्य की स्वस्थ परम्परा में बडी ही सुन्दर, प्रेरक, मनोरंजक, संवेदनशील और उपादेय कृति है। शरत के लघु-उपन्यासों की-सी मनोरंजकता उसमें है, पर अस्वस्थता नहीं। अंत पर पहुँचते-पहुँचते उपन्यास एकदम झकझोर कर रख देता है।

इसी धारा को रांगेय राघव और नागार्जुन ने आगे बढ़ाया है। रांगेय राघव के उपन्यास 'विषाद मठ' और 'हुजूर' आज के समाज के नंगेपन, ग़रीबी, शोषण, विलासिता और परवशता का अपूर्व चित्रण करते हैं। 'विषाद मठ' मे उन्होंने बगाल की अकाल-पीड़ित मानवता की बड़ी ही करुण और हृदयद्रावक झाँकी उपस्थित की है। 'हुजूर' में बीस वर्ष से अब तक हमारे समाज के विभिन्न वर्गों और स्तरों का सैरबीनी चित्र है। शासक, शोषक, पूंजीपति और पेशेवर नेताओं का यथार्थ, व्यंग्यात्मक (इसीलिए कहीं-कहीं अतिरंजित) चित्रण वहाँ प्रस्तुत है। रांगेय राघव ने अपनी ओर से कोई उपदेश न दे कर सकेत रूप में विभिन्न वर्गो की स्थिति और उनके आपसी सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है। उपन्यासकार ने न केवल शोषक समाज पर कड़ी चोट की है और समाज के गलित-घृणित शोषक वर्ग की सच्ची तस्वीर खींची है, बल्कि बडी खूबी से दिखा दिया है कि इस बीस वर्ष के अरसे मे स्थिति में कोई अतर नहीं आया। शासक, शासक है और शोषित, शोषित—ऊपरी परिवर्तन चाहे उस बीच में हुए हों, पर शोषित मानव और प्रपीड़ित नारी पहले से भी हीनतर जीवन बिता रहे हैं। (रांगेय राघव का एक दोष जरूर है कि वे जल्दी में लिखते थे—खाका बना कर और—इसीलिए उनके उपन्यासों में—कहानियों मे भी—गहराई की कमी है)

इसी परम्परा में नागार्जुन आते हैं। यशपाल और रांगेय राघव की सीमाएँ ये हैं कि मज़दूर या किसान तबके से उनका सीधा सम्पर्क नहीं और इसीलिए तबके की भलाई वे चाहते हैं, बौद्धिक सहानुभूति तो वे रखते है, पर उसके मनोविज्ञान, उसकी छोटी-छोटी समस्याओं और दैनिक जीवन से उनका सीधा सम्पर्क नहीं। इसके विपरीत नागार्जुन प्रेमचन्द ही की तरह किसानों के जीवन का चित्रण उपस्थित करते हैं। प्रेमचन्द ने यदि उत्तर-प्रदेश के किसानों को अपने उपन्यासों में उतारा तो नागार्जुन मैथिल प्रान्त के किसानो—उनकी विवशता, उनकी साधों और समस्याओं—को अपने उपन्यासो मे उतार रहे हैं। मैथिल प्रान्त की शस्यश्यामला भूमि, सघन ग्रामों की अमराइयाँ, तालाब, पोखर और खेत-खलिहान नागार्जुन के उपन्यासों मे

साकार हो उठे हैं। अपने पहले उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' ही से नागार्जुन ने अपनी प्रतिभा का सिक्का कथा-साहित्य के क्षेत्र मे जमा दिया और पाठकों और आलोचकों को जता दिया कि उनके गद्य-लेखक की शक्ति ऐसी नहीं कि उसे अनायास अनदेखा कर दिया जाय। शुम्भकपुर गाँव के एक कुलीन ब्राह्मण घराने की विधवा ब्राह्मणी की दुख-गाथा सुनाने के बहाने नागार्जुन ने मैथिल गाँवों के जीवन का बड़ा ही यथार्थ और करुण चित्रण 'रतिनाथ की चाची' में उपस्थित किया है।

नागार्जुन के दूसरे उपन्यास 'बलचनमा' का विस्तार और भी बड़ा है। इसमें नागार्जुन ने एक ग़रीब किसान और खेत-मजदूर को अपने उपन्यास का नायक बना कर एक ओर ज़मीदारों और गाँव के धनी लोगों के शोषण का चित्रण किया है, दूसरी ओर निम्न वर्ग के संघर्ष को मूर्तरूप दिया है।

'नयी पौध'—अपने तीसरे उपन्यास मे नागार्जुन ने फिर ब्राह्मण लड़कियों के विवाह की समस्या को लिया है। यही समस्या वास्तव मे परोक्ष रूप से 'रतिनाथ की चाची' की भी है। लेकिन यदि 'रतिनाथ की चाची' के अन्त में निराशा का अँधेरा है तो 'नयी पौध' के अन्त में नयी आशा का उजेला। गाँव की 'नयी पौध' गाँव की युवतियों को रतिनाथ की चाची के-से दुख न सहने देगी, इस बात का विश्वास इस उपन्यास का अन्तमूर्त विश्वास है। और यों 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', और 'नयी पौध'—नागार्जुन का हर उपन्यास पहले से एक क़दम आगे है।—(यह और बात है कि लिखते वे भी है रांगेव राघव की तरह खाका बना कर, जल्दी में और इसीलिए गहराई के अभाव का दोष उनके यहाँ भी काफ़ी मात्रा में है और सश्लिष्टता की भी किंचित कमी उनकी रचनाओं मे है।)

उधर अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में जैनेन्द्र के व्यक्तिवादी दर्शन को और आगे बढ़ाया अथवा यों कहें कि सीमित किया। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि वह सब अज्ञेय ने बुद्धि से दुश्मनी करके नहीं, बुद्धि से दोस्ती करके किया है। यह अलग बात है कि जैनेन्द्र बुद्धि से शत्रुता करके जिन परिणामो पर पहुँचे, अज्ञेय बुद्धि से मैत्री करके भी उन्हीं पर पहुँचे परिपक्वता 'नदी के द्वीप' मे 'शेखर' से अधिक है, पर 'शेखर' से 'नदी के द्वीप' तक अज्ञेय के कलाकार की प्रगति प्रशस्त से संकीर्ण पथ की ओर ही है। 'शेखर' एक व्यक्ति के मनोविज्ञान और उसकी व्यक्तिगत उलझनों, कुण्ठाओं और विकृतियों का चित्रण तो करता है, पर उस चित्रण के माध्यम से हमें समाज और उसकी समस्याओं की झलक अवश्य मिलती है। 'नदी के द्वीप' में समाज को

अज्ञेय ने एकदम काट दिया है। भुवन का अपना ड्राइंग-रूम ही जैसे लखनऊ और दिल्ली से उठ कर नकुचिया और तुलियन तक चला गया है। भीम-ताल से नकुचिया-ताल तक मार्ग मे प्रकृति की सुरम्यता संगी का सौन्दर्य तक भुला देने की क्षमता रखती है, पर 'नदी के द्वीप' में समाज तो दूर प्रकृति तक को अज्ञेय ने भुवन और उसकी प्रेयसी के मध्य नहीं आने दिया। भुवन विज्ञान का क्या आविष्कार करता है, हम नही जानते, रेखा और गौरा क्या करती है, उसका उल्लेख है, पर निकट से उसका कोई वर्णन नही—समाज से दूर, प्रकृति से दूर—पुरुष और स्त्री का यौन-सम्बन्ध और बस—उसी में अज्ञेय ने सारे काव्य, दर्शन और कला-कौशल को समो दिया है। नदी के द्वीप—सडक के द्वीप—जो बहती धारा और बहती दुनिया से अलग हट कर अपने हाल में मस्त खडे हैं—अज्ञेय के कलाकार का चरम-लक्ष्य है। जन (समूह) के प्रति, उसके सामूहिक दुख-सुख, उसकी हलचलों और आन्दोलनों के प्रति तीव्र घृणा का भाव अज्ञेय के इन उपन्यासों में मिलता है। और यों प्रसाद से अज्ञेय तक उसी व्यक्तिवादी, कलावादी, शाश्वततावादी, अयथार्थ, रोमानी दृष्टिकोण का प्रसार है। शरत की सामाजिकता को छोड कर, उसकी पीड़ा को यहाँ और मिला लिया गया है।

'नदी के द्वीप' मे वस्तु की दुर्बलता से बहुत कम लोगों को इनकार है, पर उसकी मनमोहक भाषा, उसकी कला के सौष्ठव और उसकी मनोरंजकता के सभी कायल हैं। यहाँ फिर वही सवाल पैदा होता है जो जैनेन्द्र की कहानी 'एक रात' के सम्बन्ध में पैदा हुआ था—यदि आपको इसमे रस मिलता है तो आप और क्या चाहते हैं ? पर यह तय है प्रबुद्ध पाठक सिर्फ़ रस नहीं चाहता, प्रेम ही नहीं चाहता और भी बहुत कुछ चाहता है।

कहा जा सकता है कि जो चीज़ अच्छी लगती है, वह केवल कला के बल पर अच्छी नहीं लगती, उसमें वस्तु भी कुछ-न-कुछ अच्छी रहती है। 'कुछ ही अच्छी' और 'बहुत ही अच्छी' वस्तु में अंतर है। 'नदी के द्वीप' में लेखक ने व्यक्ति के प्रेम और यौन-सम्बन्ध को परखा है। प्रेम जीवन की धुरियों में से है, पर यह जीवन इसी एक धुरी पर नही चलता। फैज के शब्दों मे :

> और भी गम हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा
> राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा

इसलिए केवल इस एक जज्बे को ले कर सुन्दर कलापूर्ण ढंग से लिखा गया उपन्यास अच्छा तो लगेगा, यह और बात है कि अच्छा लगने के बाद

भी आप उस मनोरंजकता के अतिरिक्त उससे कुछ और चाहें और न पायें ! यह 'कुछ और' वस्तु का गुण है। जिस उपन्यास में कला भी अच्छी है और वस्तु भी, वही श्रेष्ठ है, शेष सब निम्न कोटि के हैं, मैं ऐसा मानता हूँ।

वस्तु की स्थिति कपड़े की-सी है और कला की उसकी काट-तराश की-सी। यह हो सकता है कि हल्के कपड़े को बड़ी सुन्दर काट-तराश से मनमोहक बना दिया जाय। प्रकट है कि न वह सर्दी ढकेगा, न देर तक चलेगा। इसके विपरीत बहुत अच्छा मोटा कपड़ा यदि बुरी तरह काट-कर कोई पहन ले तो न वह अच्छा लगेगा, न उसे सदा पहनना सरल होगा। अच्छी, देर-पा, उपादेय, सुन्दर और आकर्षक पोशाक के लिए कपड़े और काट-तराश दोनों का अच्छा होना जरूरी है।

प्रसाद से अज्ञेय तक कथा-साहित्य में काट-तराश बहुत सुन्दर है, मनमोहक है, पर कपड़ा उपादेय नही। प्रसाद ने जनरंजनता का दामन एकदम नहीं छोड़ा, बल्कि यदि ध्यान से देखें तो वे धीरे-धीरे उसे और भी पकड़ते गये। लेकिन जैनेन्द्र से अज्ञेय तक, यह बात उलटी है—वे उसे उत्तरोत्तर छोड़ते गये।

जो लोग उपादेय के मुकाबले मे केवल सुन्दर, आकर्षक और मन-मोहक के शैदाई हैं, आँखों को चुंधियाने और दिल को भरमाने ही में जो कला की इतिश्री समझते हैं, उन्हे 'सुनीता' और 'नदी के द्वीप' अच्छे लगेंगे, लेकिन जो कला की उपादेयता और समाज-हितैषिता में विश्वास रखते हैं, उन्हें इन उपन्यासों में चकाचौंध अधिक और उपलब्धि कम मिलेगी।

०

द्वितीय महायुद्ध तक लेखक प्रायः युद्ध से अछूते रह कर अपने कल्पना-ससार में विचरण करते या अपनी अनुभूतियों के अनुसार लिखते थे, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के समय में लड़ाई में भाग लेने वाले राष्ट्रों के लेखक अछूते नहीं रहे। रूस के लेखक अपवाद हैं, क्योंकि वहाँ पहले महायुद्ध के बाद ही लेखक समाज और सरकार से अलग न रह कर, उसके अंग बन गये थे और उसकी व्यवस्था में उनका सक्रिय योग होने लगा था। लेकिन इस युद्ध में रूस ही की तरह दूसरे राष्ट्रों के लेखकों की स्थिति हो गयी। अंग्रेजी, अमरीकी, स्पेनी, इतालवी, जर्मन, जापानी—सभी लेखक फ़ासिज्म के समर्थक हो गये या उसके विरोधी। रूसी लेखक तो खैर युद्ध में भाग लेने को विवश कहे जा सकते हैं, पर अंग्रेजी उपन्यासकार माम तथा अमरीकी उपन्यासकार

हैमिंग्वे और स्टीनबैक ने इस या उस स्थिति मे युद्ध में योग दिया। जापान के कवि नागूची और रवि ठाकुर का पत्र-व्यवहार पुरानी बात नहीं।

अंग्रेज़ और अमरीकी चाहते थे कि जर्मनी और रूस में जंग छिड़े और दोनों शक्तियाँ तबाह हो जायँ और संसार पर उनका आधिपत्य बना रहे, पर जर्मनी पहले रूस से नहीं लड़ा और जब लड़ा तो इंग्लिस्तान और अमरीका जर्मन-विजयों से इतने आतंकित हो चुके थे कि रूस को अपना मित्र मानने को बाधित हुए और संसार दो कैम्पों में बँट गया। प्रायः सभी बड़े देश या फ़ासिस्टों के पक्ष मे हो गये या विपक्ष में। राष्ट्रों के साथ ही उनके लेखकों की सहानुभूतियाँ भी बँट गयी।

अंग्रेज़ और अमरीकी चूँकि सदा रूस के विरोधी रहे थे और संकट-काल की विवशता के कारण ही युद्ध में शामिल हुए थे, इसलिए जर्मन भूत के भागते ही, वही पुराना रूसी विरोध शुरू हो गया। चर्चिल ने तो मिण्टगमुरी को आदेश भी दिया कि जर्मनी से जीते हुए हथियार नष्ट न किये जायँ, बल्कि उन्हें रूस के विरुद्ध भावी युद्ध के लिए इकट्ठा कर लिया जाय।

इस स्थिति में वे लेखक, जो प्रतिगामी थे, फ़ासिस्ट-विरोध का खोल उतार कर बाहर आ गये और साम्यवाद का विरोध उन्होंने अपने जीवन का चरम-ध्येय बना लिया। संस्कृति, स्वतंत्रता, मानववाद और ऐसे ही बडे-बडे शब्दों की आड़ ले कर वे पुरानी व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने अथवा कुछ आकाशीय बातें करके, नये युग के मार्ग को अवरुद्ध करने लगे। दूसरे, जो पार्टिज़नों के साथ रहे थे, साहित्य और तलवार मे कोई भेद न मानने लगे। उनके लिए कला का चमत्कार निरर्थक था, यदि वह प्रतिदिन की समस्याओं का हल नही ढूँढता। वे तत्कालीन समस्याओं का समाधान इस साहित्य में चाहते थे। चूँकि उनके सामने शत्रु को पराजित करने की समस्या ही प्रमुख थी, इसलिए दूसरे सभी मूल्य जो बड़े महत्वपूर्ण हैं, उस समय एक बड़ी जरूरत के आगे एकदम महत्वहीन लगे और पार्टिजन साहित्यिकों से यह माँग हुई कि वे साहित्य को तलवार बनायें। रूस, चीन, पूर्वी प्रजातंत्र राज्यों में ऐसा बहुत-सा साहित्य लिखा गया। उन्ही ने यह नारा दिया कि जो हमारे साथ नहीं वे हमारे शत्रु हैं।

यह विभेद युद्धोत्तर काल के साहित्य की देन है। इसका असर भारत के साहित्यिकों पर भी हुआ। १९४७ मे इलाहाबाद में प्रगतिशील-लेखक-संघ की जो कान्फ़्रेन्स हुई, उसमें बहुत-से वे लेखक भी शामिल थे जो आज संघ से बाहर हैं। युद्ध के बाद हिन्दुस्तान आज़ाद हुआ तो जहाँ

प्रगतिशील-लेखक-संघ के कुछ जोशीले लेखकों ने यह समझा कि क्रान्ति आरम्भ हो गयी है, वहाँ कुछ दूसरों ने समझा कि देश आज़ाद हो गया है। यदि प्रगतिशील-लेखक-संघ के नेता दूसरों के मनोविज्ञान को समझ कर हमदर्दी से काम लेते तो हिन्दी-साहित्य में विभिन्न कैम्पों में वैसा विरोध उपस्थित न होता, जैसा कि आज है। पर डॉक्टर रामविलास शर्मा और उनके कुछ साथियों ने हर उस लेखक को लताड़ना शुरू किया जो उनकी संकुचित नीति का समर्थन न करता था। जहाज़ियों की लडाई, वरली के आन्दोलन, तेलंगाना का विप्लव—इनमे से वे स्वयं किस मोर्चे पर जा कर लड़े, इसे तो वे ही जानें, लेकिन उन्होंने माँग की, कि जो उनका समर्थन नही करता वह उनका विरोधी है—और क्योकि हिन्दुस्तान में किसी शत्रु से तो लड़ाई थी नहीं और आज़ादी अभी-अभी मिली थी, इसलिए यहाँ दो नही, चार कैम्प बन गये।

● वे लेखक, जो प्रगतिशील-लेखक-संघ में रहे, लेकिन जिन्होंने अपने लेखन का दायरा संकुचित कर लिया।

● वे लेखक, जो प्रगतिशील रहे, लेकिन जिन्हें प्रगतिशीलों ने अप्रगतिशील घोषित कर दिया।

● वे, जो प्रगतिशील-लेखक-संघ की उस नीति के विरोध में संघ से अलग हट गये और प्रतिक्रियास्वरूप या तो पुराने पथ पर चलने लगे अथवा पूरी प्रतिक्रिया के साथ साम्यवाद का विरोध करने लगे। देश की तमाम समस्याएँ उनके लिए गौण हो गयी। इनमें से कुछ और भी अन्तर्मुखी हो गये। जो थोड़ी-बहुत सामाजिकता उनकी कृतियों में झलकी थी, वह खत्म हो गयी।

● वे, जो इस या उस खेमे में नही गये। जैसी-जैसी अनुभूति उन्हें हुई लिखते गये। कभी बहिर्मुखी, कभी अन्तर्मुखी।

'शेखर' से 'नदी के द्वीप' तक अज्ञेय के अन्तर्मुखी होने का यही बड़ा कारण है। अज्ञेय का 'शेखर' यद्यपि व्यक्तिवादी है, पर उसकी सामाजिकता विवाद से परे है। उनकी कहानी 'जीवनी शक्ति' संसार की नहीं तो हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में रखी जा सकती है। और 'शरणार्थी' की कहानियाँ तो किसी भी प्रगतिशील लेखक के लिए गर्व का विषय हो सकती हैं। पर कुछ तो प्रगतिशील आलोचकों की असहानुभूति और कुछ अपनी सीमाओं के कारण न केवल वे और भी व्यक्तिवादी हो गये, बल्कि साम्यवाद का विरोध उन्होंने अपना ध्येय बना लिया। अज्ञेय की कविताओं पर इसका

अधिक प्रभाव पडा। उन्होने 'नदी के द्वीप' कविता भी लिखी और 'नदी के द्वीप' उपन्यास भी और अपने व्यक्ति के अन्दर अधिकाधिक सिमटते गये।

इन्ही कुछ वर्षो में हिन्दी-साहित्य में फिर गतिरोध की आवाज़ वुलन्द हुई।

लेकिन यह गतिरोध न वैसा था जैसा प्रेमचन्द के निधन के बाद महसूस हुआ, न वैसा, जैसा जैनेन्द्र के अपेक्षाकृत चुप होने पर! हुआ यह कि लेखक तो गतिशील रहे, पर आलोचकों में शोर उठा कि साहित्य की गति अवरुद्ध हो गयी है। पहला एहसास लेखकों का अपना एहसास था—अचानक चलते-चलते आगे मार्ग रुका पाने का-सा, या एक मार्ग पर चलते-चलते आगे दोराहा पाने पर दुविधा में रुक जाने का-सा। लेकिन यहाँ तो स्थिति यह थी कि चलने वाले निरन्तर चले जा रहे थे, लेकिन किनारे पर खडे दर्शक-आलोचक शोर मचा रहे थे कि चलने वालों की गति मन्द हो गयी है, वे रुक गये हैं, पीछे को जा रहे हैं। इन आलोचकों के साथ चार तरह के दूसरे लोग भी थे जो भिन्न कारणों से इस चिल्लाहट में शामिल हो गये थे।

○ पहले तो उग्र-प्रगतिशील थे, जो अपने ही लेखकों की चीज़ों को निकृष्ट घोषित कर रहे थे और जिन कृतियों की प्रशसा वे कर रहे थे, वे वस्तु की अच्छाई के वावजूद एकदम प्रभावहीन थीं। उनकी गति कुछ उस व्यक्ति की-सी थी जो एक ही जगह खड़ा उछल-कूद कर रहा हो और समझता हो कि वे जो चले जा रहे हैं गतिशील नहीं, बल्कि वही गतिशील है।

● दूसरे वे थे, जो वढ़ती हुई प्रगतिशील शक्तियों के साथ क़दम न मिला पा रहे थे और आगे बढने वालों को यह कह कर कोस रहे थे कि वे प्रगति के पथ पर नही, अगति के पथ पर अग्रसर हैं।

● तीसरे वे थे, जो अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाओं और अस्वस्थ मान्यताओं के कारण विकृतियों के दायरे मे चक्कर लगाने को गति माने वैठे थे और जब देखते थे कि दूसरे उस दायरे के वाहर निकल रहे हैं तो चिल्लाते थे कि उनकी गति रुक गयी है।

○ चौथे वे थे, जो केवल अपने पक्ष वालों को गतिशील देख रहे थे, दूसरे उन्हे रुके दिखायी देते थे।

और इस तरह इस वात के वावजूद कि लेखक लगातार लिखते रहे हैं, गतिरोध का शोर उठता रहा है। यशपाल ने इधर चार-पांच वर्षों से नया उपन्यास चाहे कोई न लिखा हो, पर उनके कहानीकार की कलम एक वर्ष तो दूर रहा, महीने भर को भी नहीं रुकी। इस वीच में उन्होंने 'फूलो का कुर्ता',

'धर्म युद्ध,' 'चित्र का शीर्षक' और 'तुमने क्यो कहा था कि मैं सुन्दर हूँ,' नाम से चार कहानी-संग्रह प्रकाशित किये, जिनमे 'धर्म युद्ध', 'जिम्मेदारी', 'फूलो का कुर्ता' जैसी उच्चकोटि की कहानियाँ भी हैं। यशपाल इस महाजनी दौर के खोखलेपन, इसकी झूठी मान्यताओं और घिसी-पिटी रीतियों का भंडाफोड़ करने मे सिद्धहस्त है और गति-रोध के इस दौर मे भी उन्होंने हिन्दी को उच्चकोटि की कहानियाँ दी हैं और उनकी क़लम की धार ज़रा भी कुण्ठित नहीं हुई।

मैंने स्वयं 'गर्म राख,' 'बड़ी-बड़ी आँखें' और 'पत्थर अल-पत्थर' उपन्यास लिखे और लगभग बारह-पन्द्रह कहानियाँ लिखी, जिनमें कुछ मेरी पहले की कहानियों से बेहतर हैं।

नागार्जुन निरन्तर लिखते रहे। उनका नया उपन्यास 'बाबा बटेसर नाथ' कला की दृष्टि से पहले उपन्यासों के मुकाबिले में ज़रा हट कर है। इसमें उन्होंने गाँव के बरगद को मूर्त्तरूप दे कर उसके मुख मे गाँव के सुख-दुख की कहानी रखी है। परिचित लीक से अलग हो कर नागार्जुन ने इस उपन्यास में अपनी बात कही है और बड़े मनोरंजक ढंग से कही है। व्यक्ति में व्यक्तिवादी लेखक की आस्था के विपरीत सामूहिक चेतना और सामूहिक स्वर मे नागार्जुन की अदम्य आस्था है। कोयल के एकाकी स्वर की वे क़द्र करते हैं, पर झींगुरो का सम्मिलित स्वर भी उन्हे लुभाता है। इसी भाव को उन्होंने उपन्यास में बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट किया है...

"झींगुर छोटा-सा कीड़ा होता है। सैकड़ों-हजारों की तादाद में जब ये एक-स्वर हो कर आवाज़ लगाते हैं, तो एक अजीब समाँ बँध जाता है। शहनाई बजाने वालों में दो ऐसे लोग हुआ करते हैं जो केवल स्वर भरे जाते है। तीसरा उस्ताद होता है। उसकी फूँक और पपही के छिद्रों पर नाचती अँगुलियाँ शहनाई के सारे चमत्कार की जान हैं, लेकिन स्वर भरने वाले पहले दो जने न हों तो शहनाई का सारा मजा किरकिरा हो जाय। प्रकृति के मनोरम संगीत की जान है कोयल की कूक और पपीहे की 'पिउ' 'पिउ' मगर झींगुरों का लगातार स्वर, संगीत की उस धारा के लिए सपाट मैदान का काम करता है। सामूहिक स्वर की इस एकाग्र महिमा के आगे मेरा मस्तक सदैव नत है।"

रुद्र का 'बहती गगा' उपन्यास-कला मे नया प्रयोग है। काशी के दो सौ वर्ष के जीवन की कुछ मनोरजक, सरस, मस्ती भरी कहानियो को रुद्र ने बड़ी सफ़ाई से इस उपन्यास में पिरो दिया है।

डाक्टर देवराज ने अपने वड़े उपन्यास 'पथ की खोज' के वाद छोटा-सा उपन्यास 'वाहर भीतर' दिया है। कहानी सरल, सीधी और मनोरंजक है। न घुमाव न फिराव। यद्यपि 'पथ की खोज' के लेखक से वड़ी कृति की अपेक्षा है, पर 'वाहर भीतर' निराश नही करता।

लक्ष्मीनारायण लाल का 'वया का घोंसला और साँप' भी प्रेमचन्द की परम्परा में लिखा गया उपन्यास है। लेखक ने देहात की यथार्थता का चित्र देते हुए आदर्श को हाथ से नहीं छोड़ा। यद्यपि उपन्यास पर उन्हें और श्रम करना चाहिए था, पर वे शायद जल्दी में हैं।

धर्मवीर भारती ने अपने रोमानी उपन्यास 'गुनाहों का देवता' के वाद 'सूरत का सातवाँ घोड़ा' लिखा है। सूरज का सातवाँ घोड़ा यथार्थवादी उपन्यास है। उसे हम आलोचनात्मक यथार्थवादी उपन्यास कह सकते हैं। उसमें साम्यवाद का विरोध प्रकट है। साम्यवाद का विरोध हो, इससे शिकायत नही, पर वह आधारभूत विचार से उद्भूत होना चाहिए। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में ऐसा नही है, लेकिन इसके वावजूद यह एक सवल रचना है।

युवक लेखकों मे जितेन्द्र का 'ये घर : ये लोग' अत्यन्त सवल यथार्थवादी रचना है। निम्न मध्यवर्ग के युवक की कुण्ठा, खीझ, अह, विकृति और दफ़्तरी ज़िन्दगी के घिनौनेपन का ऐसा सुन्दर, सजीव और सशक्त चित्रण जितेन्द्र ने 'ये घर : ये लोग' में किया है कि उसकी कलम का लोहा मानने को विवश होना पड़ता है।

राजेन्द्र यादव ने न केवल बड़ी सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं, वरन् एक यथार्थवादी उपन्यास 'प्रेत वोलते हैं' भी हिन्दी-पाठकों को दिया है। यादव की कलम में ज़ोर है। अपनी त्वरा पर उन्होंने संयम पा लिया और विचारों को साफ़ कर लिया तो वे निश्चय ही वड़ी सुन्दर कृतियाँ पाठकों को देंगे।

कहानी-लेखकों मे राधाकृष्ण, नरेश मेहता, राधाकृष्ण प्रसाद, कृष्णा सोवती, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, ओम्प्रकाश श्रीवास्तव, जितेन्द्र, रामकुमार, छेदीलाल गुप्त, अनन्तकुमार पाषाण, विद्यासागर नौटियाल, मनोहर श्याम जोशी, रामदरस मिश्र, शिवप्रसाद सिंह, केशवप्रसाद मिश्र, कुमारी कल्पना, इत्यादि युवक कथाकार सुन्दर, स्वस्थ और उपादेय कृतियों का सृजन कर रहे हैं।

और यों 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' के वाद उस परम्परा का कोई उपन्यास नही निकला, न वैसी कहानियाँ ही अधिक आयी हैं। लेखकों का

रुख जैनेन्द्र की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों से हट कर समाज हितैषिता की ओर मुड़ा है। और प्रेमचन्द की परम्परा शिथिल न हो कर मज़बूत पगों से अग्रसर है।

१९५५

●

नयी कहानी

क्षेपक

●

नयी कहानी के आन्दोलन से अश्क जी का निकटतम सम्बन्ध रहा है, क्योंकि नयी कहानी के अधिकांश बहुचर्चित लेखक उनके निकट-सम्पर्क में रहे हैं। १९५४-५५ में उन्होंने संकेत (हिन्दी) की योजना बनायी थी और कमलेश्वर वैतनिक और मार्कण्डेय अवैतनिक रूप में उनके साथ काम करने लगे थे। तभी भैरव प्रसाद गुप्त, जो उस समय तक 'माया' में प्रूफ-उरूफ़ देखते थे और दस वर्ष में उन्नति करके श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह, सम्पादक 'माया' के अधीन सम्पादन सम्बन्धी कुछ काम करने लगे थे और पत्रिका के लिए नये लेखकों की कहानियाँ (प्रायः मुफ़्त) मँगाने में माया बाबू की सहायता करते थे, सहसा अश्क जी के और भी निकट हो गये। एक दिन अचानक लोगों ने सुना कि वे 'कहानी' (इलाहाबाद) में श्रीपतराय के साथ सह-सम्पादक हो गये हैं।

○

अश्क जी से भैरव की पहली भेंट तब हुई थी जब अश्क जी पंचगनी के सैनेटोरियम से १९४८ में इलाहाबाद आये और अपने मित्र श्रीपतराय के यहाँ, १४ हेस्टिंग रोड में अपनी पत्नी और बच्चे के साथ ठहरे थे। तब इलाहाबाद के प्रगतिशीलों ने उनका बड़ा स्वागत किया था और उन्हें प्रगतिशील-लेखक-संघ, इलाहाबाद का अध्यक्ष भी बना दिया था। उन दिनों उर्दू के प्रगतिशील लेखक ख्वाजा अहमद अब्बास तथा 'माया' पर अब्बास की कहानी 'सरदार जी' को ले कर मामला चल रहा था। इलाहाबाद के प्रगतिशीलों ने अब्बास की सहायता में एक कमेटी बनायी थी। उसकी एक मीटिंग पुराने कॉफ़ी हाउस में हुई, जहाँ अश्क जी ने अपनी उसी दो टूक शैली मे, जिसके अब सभी अभ्यस्त हो गये हैं, भाषण देते हुए कहा कि मुझे 'माया' से कोई हमदर्दी नहीं। वे लोग लेखको को दूसरी पत्रिकाओं से कम

पैसे देते है[1] और उनका शोषण करते हैं। पर मामला अश्क का है और उस कहानी का है, जो बहुत अच्छी है और सरकार ने जिस पर भ्रमवश मामला चलाया है। सो हम से जो भी हो सके, हमें इस सिलसिले में करना चाहिए और उन्होंने घोषणा की कि बीमारी के बावजूद वे मुख्य-मन्त्री को इस सिलसिले में लिखेंगे और कमेटी को पूरा सहयोग देंगे।

वहीं माया बाबू, श्री क्षितीन्द्र मोहन मित्र भी आये हुए थे। मीटिंग के बाद वे तत्काल अश्क जी से मिले और उन्होंने कहा कि 'माया' अब पूरे पैसे देने लगी है। आप अब 'माया' को कहानी दीजिए। जितने पैसे आप कहेंगे, आपको मिलेंगे।

अश्क जी ने कहा, 'कहानी एक बहुत अच्छी है, इधर मेरे पास लिखी पड़ी है। मुझे आजकल तीस रुपये मिलते है, आप पैंतीस देंगे तो मैं कहानी दे दूँगा।' तब मित्र बाबू ने भैरव प्रसाद गुप्त से, जो उनकी अरदल में लगे खड़े थे, कहा कि आप जा कर अश्क जी से कहानी ले आइएगा। दूसरे ही दिन भैरव पैंतीस रुपये ले कर अश्क जी से मिलने हेस्टिंग रोड गये।

और यों अश्क जी के सम्पर्क में आ कर भैरव जी ने अपने ही शब्दों में अश्क जी की मैत्री को श्रम से 'साधा!' तब तक भैरव जी के छः-सात कथा-संग्रह निकल चुके थे, पर कहानी लेखक के नाते उन्हे कोई जानता नहीं था। कहानी की तब उन्हें उतनी समझ भी नहीं थी। अश्क जी ने अपनी प्रसिद्ध कहानी 'बच्चे' माया के लिए उन्हें दी थी, जिसे उन्होने पसन्द नहीं किया था और कहा था कि वह 'टॉप हैवी' है, अश्क जी के उन्हें दूसरी कहानी 'लिरेंजाइटिस' दे दी, जो उन्हे खासी पसन्द आयी, पर मित्र बाबू ने 'बच्चे' ही विशेषांक में छापी और उसकी बड़ी प्रशंसा की।—अश्क जी के सम्पर्क मे न केवल गुप्त जी किंचित अच्छी कहानियाँ लिखने लगे, वरन् इस क्षेत्र में उनकी महत्वाकांक्षा भी बढ़ी।...अश्क जी स्वयं महत्वाकांक्षी और घोर आत्मविश्वासी व्यक्ति हैं और उनका यह गुण अथवा दोष है कि अपना आत्मविश्वास भले ही वे दूसरे को न दे पायें, पर महत्वाकांक्षा जरूर अपने सम्पर्क में आने वालों को 'हस्तांतरित' कर देते हैं। गुप्त जी तब अश्क जी से बराबर मिलने लगे थे। अपने नये कहानी-संग्रह की भूमिका भी गुप्त जी ने उनसे लिखवायी। कुछ वर्ष बाद उनके बँगले के पीछे लूकरगंज में उठ आये और अपनी शामें अश्क जी के यहाँ गुजारने लगे। यक्ष्मा के रोगी होने

१. तब देते थे, बाद मे दूसरो की अपेक्षा ज्यादा भी देने लगे—सं०

के कारण अश्क जी तब ए० पी० लेते थे—बड़ी सुई उनकी पसली में लगती थी, जिससे प्लूरा में हवा भरी जाती थी। वे उतना श्रम नहीं कर सकते थे। सो भैरव रोज़ शाम को उनके मनोरंजन के लिए उनके साथ कैरम खेलते थे। उनके साथ घूमने जाते थे। रोज के इस संसर्ग से उन्हें अपनी दस साल पुरानी 'माया' की नौकरी बेतरह अखरने लगी और उन्होंने अश्क जी पर ज़ोर दिया कि वे अपने मित्र श्रीपत राय से कह कर उन्हें वहाँ रखवा दें। अश्क जी उन्हें श्रीपत राय के यहाँ ले कर गये और उन्होंने श्रीपत जी पर ज़ोर दे कर न केवल भैरव जी को 'कहानी' का सह-सम्पादक बनवा दिया, वरन् श्रीपत जी को यह विश्वास भी दिलाया कि वे और उनके सारे मित्र भैरव की पीठ पर रहेंगे।

०

कहानी में सह-सम्पादक की कुर्सी सम्हालते ही, गुप्त जी ने न केवल अश्क जी से पूरा सहयोग लिया, वरन् 'संकेत' के सारे कथाकारों को कहानी में छापा और यों 'कहानी' के इर्द-गिर्द नये कथाकारों का एक ग्रुप बन गया। इस ग्रुप में कमलेश्वर, मार्कण्डेय तो दोनो 'संकेत' में अश्क जी की सहायता कर ही रहे थे, उनके अलावा जितेन्द्र, अमरकान्त, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, शिवप्रसाद सिंह, तेज बहादुर चौधरी, शरद जोशी, शेखर जोशी आदि—न जाने कितने लेखक थे जो अश्क जी अथवा उनके सहयोगी सम्पादकों के सम्पर्क में थे। और अश्क जी अपने सहयोगियों द्वारा भैरव की सहायता करते थे।

लेकिन दुर्भाग्य से, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, भैरवप्रसाद गुप्त की यह ट्रैजिडी है कि वे कहानियाँ भी लिखते है; और इतने संग्रह छप जाने पर भी तब कहानीकार के रूप में उन्हें कोई मान्यता न मिली थी और अश्क जी के साथ कुछ वर्ष गुजारने के कारण इस क्षेत्र में उनकी महत्वाकांक्षा अत्यन्त बलवती हो गयी थी। इसलिए दो-एक वर्ष 'कहानी' में सब का सहयोग लेने और उसके लोकप्रिय पत्रिका बन जाने के बाद उन्होने धीरे-धीरे पूर्वांचली लेखको को साथ ले कर ग्रामीण कथाकारो का एक गुट अपने इर्द-गिर्द बनाना शुरू किया और पहली बार गँवई-गाँव के कथाकारों और शहरी कथाकारो में तथाकथित विभाजन-रेखा बनी।

बड़े सहज रूप से प्रगति पथ पर बढ़ी जाने वाली हिन्दी कहानी के इस ट्रैजिक मोड़ के तीन कारण थे।

● रेणु के 'मैला आँचल' की अभूतपूर्व सफलता से मार्कण्डेय तथा भैरव प्रसाद गुप्त जैसे गँवई-गाँव के असफल पर महत्वाकांक्षी कथाकारों का ध्यान सहसा अपनी ओर गया और उन्हें लगा कि इस पतवार को थाम कर वे अपनी ताड़ की नैया से सफलता और ख्याति की वैतरणी पार कर सकते हैं।

● १९५६ में 'संकेत' के प्रकाशन के साथ ही 'संकेत' का ग्रुप टूट गया। नीलाभ-प्रकाशन से एक सुन्दर क्लर्क लड़की के बरख़्वास्त किये जाने के विरोध में कमलेश्वर और मार्कण्डेय ने, 'संकेत' के प्रकाशन के कुछ महीने पहले त्यागपत्र दे दिया। नागा बाबा लाल झण्डा ले कर निकल पड़े और उन्हीं प्रगतिशील लेखकों ने अश्क-दम्पति को बदनाम करना शुरू किया, जिन्होंने इलाहाबाद में उनके आगमन पर हार्दिक स्वागत किया था और अश्क जी को प्रगतिशील-लेखक-संघ प्रयाग का अध्यक्ष बनाया था। दुनिया-जहान की झूठी बातें उनके खिलाफ़ फैलायी गयीं। प्रयास तो यहाँ तक भी किया गया कि 'संकेत' निकल ही न पाये। बाद में पहले भैरव और फिर मार्कण्डेय, कमलेश्वर को छोड़ कर अश्क जी से आ मिले। कमलेश्वर उस लड़की के कारण अकेले ही अश्क जी के विरुद्ध मोर्चा थामे रहे। मार्कण्डेय इसलिए अश्क जी से मिल गये कि कमलेश्वर 'राजा निरबंसिया' की अत्यधिक चर्चा के बाद उनसे आगे बढ़ गये थे और मार्कण्डेय उन्हें काटना चाहते थे और भैरव इसलिए कि वे अपना वृहद उपन्यास और कहानी-संग्रह 'नीलाभ-प्रकाशन' से छपवाना चाहते थे। लेकिन मन में ये दोनों ग्रामीण कथाकार अश्क जी की परम स्वतंत्रता और किसी गुट के साथ न चल पाने की आदत के कारण उनसे रुष्ट थे।

● फिर, अश्क जी की परम्परा में उनकी-सी सूक्ष्मता तथा पच्चीकारी से निम्न मध्यवर्ग का चित्रण करने वाले शहरी कथाकार—वे जितेन्द्र हों, राकेश हों अथवा यादव—न केवल अश्क जी के निकट थे, वरन इन गँवई-गाँव के कथाकारों से कहीं अच्छा लिखते थे। चूँ कि अश्क जी ने 'संकेत' में जितेन्द्र, राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश की कहानियों को प्रमुखता दी और मार्कण्डेय की कोई रचना नहीं छापी, इसलिए वे मन-ही-मन उन लोगो से खार खाये हुए थे और यद्यपि ऊपर से वे अश्क जी के साथ थे, पर अन्दर-ही अन्दर इन सब को काटने की योजना बना रहे थे।

सो अच्छे लेखकों को काटने के उस अभियान में मार्कण्डेय जी ने भैरव प्रसाद के यहाँ (संकेत-काण्ड के दिनों में स्वयं अश्क जी के साथ आ मिलने

से पहले मार्कण्डेय सरे आम जिन्हें 'परम चिरकुट' और 'अश्क के ख़ुशामदी' कह कर उपेक्षा से मुँह बिचकाया करते थे रोज़ हाज़िरी देनी शुरू की; उनके अहं को सहलाना शुरू किया और उन्हें गँवई-गाँव के नये कथाकारों का 'नेता' बना दिया।

फिर अपने इस नये नेता के द्वारा अपने 'परम' मित्र नामवर सिंह को नये-काव्य के आलोचना-क्षेत्र से उखाड़ कर कहानी के क्षेत्र में लाये और यों कहानी के '५६ के नववर्षांक से बाकायदा तथाकथित नयी कहानी का आन्दोलन शुरू हुआ।

०

'आज की हिन्दी कहानी'[1] शीर्षक से उपर्युक्त नववर्षांक के अपने पहले ही लेख में नामवर जी ने गँवई-गाँव की कहानियाँ लिखने वाले अपने पूर्वांचली मित्रों की प्रशंसा की और शहरी कहे जाने वाले उन कथाकारों की निन्दा, जिन्हें उनके मित्र और अभिभावक श्री मार्कण्डेय अपने रास्ते का काँटा समझते थे।

'नयी कविता की तरह नयी कहानी नाम की भी कोई चीज़ है क्या ?' यह प्रश्न उठाते हुए नामवर ने स्वयं ही आगे लिखा :

'नये कहानीकारो का जो विशेष गुण हमे महत्वपूर्ण लगता है, वह उनका गाँवों की दिशा मे एक बार फिर हिन्दी कहानी को ले जाना है....ऐसे कथाकारों मे शिवप्रसाद सिंह (जमनिया, गाज़ीपुर, सं०) और मार्कण्डेय (जौनपुर, सं०) के नाम उल्लेखनीय हैं।

और दूसरे ही पैरे में कमलेश्वर, जितेन्द्र, राजेन्द्र यादव, ओमप्रकाश श्रीवास्तव तथा मोहन राकेश की निन्दा करते हुए उन्होंने लिखा :

(ये लेखक) 'जीवन की विभीषिकाओं और असफलताओं का वर्णन अपनी कला मे करते हैं। भारी विषाद के बोझ से कहानी दबी रहती है और पत्थर-सी जमी यह व्यथा मानो आँसुओं में द्रवित हो कर बह नही पाती। जितेन्द्र के लम्बे स्केच—'ये घर के लोग'—और कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया' पढ़ कर पाठक को यही भावना होती है। इन लेखकों को मानो समाज के गहन अंधकार मे हाथ मारे नही सूझता।'

---

१. नामवर जी ने इस लेख का सन अपनी पुस्तक 'कहानी : नयी कहानी' में १९५७ दिया है, पर वह वास्तव में जनवरी १९५६ के 'कहानी नववर्षांक' में ही छपा है।

जब भैरव ने इस लेख की प्रशंसा अश्क जी से की और कहा कि नामवर के रूप में कहानी को एक नया आलोचक मिल रहा है तो उन्होने कहा कि पहले तो इस लेख की भाषा आलोचना की भाषा ही नहीं—पत्थर-सी जमी व्यथा मानों आँसुओं से द्रवित हो कर वह नहीं पाती आदि वाक्य कवि के हो सकते हैं, आलोचक और वह भी कहानी-आलोचक के नहीं। फिर जिन लेखकों की प्रशंसा नामवर ने की है, वे सब के सब राकेश, यादव और जितेन्द्र आदि शहरी कथाकारों से कमतर है—और उन्होंने भैरव को परामर्श दिया कि वे नामवर से राकेश की कहानियाँ ध्यान से पढ़ने को कहें। वलिया के हो अथवा जौनपुर के, कहानीकार अच्छी कहानियाँ लिख कर ही नाम पा सकते है, नामवर के लिख देने भर से नहीं।

अश्क जी राकेश की निन्दा सुन कर जो तिलमिला जोते थे, उसका कारण उनके इलाहाबादी मित्र (जो स्वयं प्रादेशिकता के मारे थे और पूर्वांचली और उत्तर-प्रदेशीय लेखकों का गुट बनाये हुए थे) यह लगाते थे कि अश्क जी पंजाबी होने के नाते राकेश की प्रशंसा करते है, अथवा राकेश चूँकि उन्हें बड़ा भाई कहते है और उनके घरेलू सम्बन्ध है, इसलिए वे उनका पक्ष लेते हैं, लेकिन वास्तव में उस तिलमिलाहट का पहला कारण तो यह था कि बीच के कथाकारों में अश्क जी राकेश की कला और शिल्प के क़ायल थे और दूसरा शायद यह कि वे राकेश की कला में अपना ही प्रतिविम्ब देखते थे और राकेश पर की गयी चोट उन्हें अपने-आप पर की गयी लगती थी।

बहरहाल अश्क जी की आलोचना से उनके तीनों साथी (नामवर जी भी जब उन दिनों आते थे, अश्क जी के यहाँ जरूर हाजिरी देते थे) बड़े नाराज़ हुए।

०

इससे पहले कि इस नयी कहानी के आन्दोलन के आगामी इतिहास पर दृष्टि डालें, नामवर जी के इस पहले लेख के सम्बन्ध में एक दो द्रष्टव्य बातों का उल्लेख करना अपेक्षित है।

● बिना किसी पूर्व तैयारी के काव्यालोचना के क्षेत्र से कहानी-आलोचना क्षेत्र में आने के कारण नामवर जी ने शहरी लेखकों की ज्यादा कहानियाँ नहीं पढ़ रखी थीं, इसलिए उन्होंने मोहन राकेश अथवा यादव की किसी कहानी

का उल्लेख अपने उस पहले लेख में नहीं किया। चूँकि उन दिनों इलाहाबाद में जितेन्द्र की लम्बी कहानी—'ये घर : ये लोग' की बड़ी चर्चा थी—और कतिपय त्रुटियों का उल्लेख करने के बावजूद अश्क जी ने उसकी बहुत प्रशंसा की थी और संकेत-काण्ड के कारण कमलेश्वर भैरव-ग्रुप से कटे ही थे, इसलिए इस प्रथम लेख में नामवर जी ने उन दोनों की रचनाओं का विरोध किया।

लेकिन जब उनकी आलोचना की गयी कि उन्होने नयी कहानियों को बिना पढ़े यह लेख लिखा है और यह बात खुल गयी कि बनारस से वे 'राजा निरबंसिया' की प्रशंसा करते हुए आये थे और इलाहाबाद आ कर उन्होने उसकी निन्दा की थी और जब स्वयं श्रीपत जी ने भी कमलेश्वर की कहानी की प्रशंसा की और इस बीच मे वे अश्क जी की कटु आलोचना से कुछ खिन्न भी हुए तो १९५८ के नववर्षांक में नामवर जी ने 'राजा निरबंसिया' की भूरि-भूरि प्रशंसा में एक पूरा कालम लिखा और उसके प्रयोग की ख़ूब तारीफ़ की।

● नामवर जी ने वह पहला लेख केवल अपने मित्रो के जोर डालने पर, उन्हें प्रसन्न करने अथवा उनकी सेवा से प्रसन्न हो कर, बिना नयी कहानियाँ पढे, परम बददयानती से लिखा था। इसका यह प्रमाण है कि आज जब उन्होंने वह लेख अपनी पुस्तक 'कहानी : नयी कहानी' में सकलित किया है तो वे सब पैरे काट दिये है।

● मार्कण्डेय को समाज के गहन अंधकार में हाथ मारे क्या सूझा है, नामवर ज़रा उनके संग्रह 'माही' की कहानियों को पढ़ कर देखें (जो प्रकट ही अश्क जी के 'पलँग,' 'आग और मुस्कान,' 'बेबसी' आदि तथा राकेश की 'मिस पाल' और यादव की 'प्रतीक्षा' का मुँह चिढ़ाने के लिए उन्होने लिखीं) और बतायें कि वे कैसे शहरी कथाकारो की उन कहानियों से बेहतर है और कैसे उनके परम प्रिय ग्रामीण लेखक इतनी जल्दी यह भूल गये कि वे गँवई-गाँव की कहानियों के माध्यम से हिन्दी को कुछ नया देने वाले थे।

०

लेकिन बात तो हम उस जमाने की कर रहे हैं और उस ज़माने में नामवर, जो बनारस से आते थे, मार्कण्डेय जी के यहाँ टिकते थे, भैरवप्रसाद गुप्त से मंत्रणा करते थे, एक लाइन बनाते थे और लेख लिखते थे, सो जैसा कि ऊपर कहा गया है, १९५८ के नववर्षांक में यद्यपि उन्होंने अपने पूर्वांचली

मित्रों की पूर्ववत प्रशंसा की, पर राकेश और यादव की घोर निन्दा की। राजेन्द्र यादव के बारे में उन्होंने लिखा :

'....राजेन्द्र यादव का लेखन बहुत उलझा हुआ होता है। यह बात राजेन्द्र यादव के शिल्प के बारे में जितनी सच है, उतनी ही वस्तु के बारे में भी। शायद इसीलिए वे चक्करदार शिल्प गढने के चक्कर मे रहते हैं और उनकी भाषा की पेचीदगी भी सम्भवतः इसी का परिणाम है। 'खेल-खिलौने' कहानी से ले कर 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' तक में इस पेचीदगी और उलझन को देखा जा सकता है।'

(राजेन्द्र यादव का केवल इतना दोष था कि बरसों बेकार की कहानियाँ लिख कर पहली बार उन्होंने 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' जैसी सशक्त कहानी लिखी थी, जिसे अश्क जी ने 'संकेत' में सबसे पहला स्थान दिया था। यहाँ इस बात से बहस नहीं कि यादव उलझा लिखते हैं कि नहीं, पर जिन लोगों ने मार्कण्डेय की कहानियाँ पढ़ रखी है, वे जानते है कि उन कहानियों को छोड़ कर, जो उन्होने सीधी प्रेमचन्द की नक़ल में लिखी है—जैसे 'गुलरा के बाबा,' 'सँवरैया,' 'मुंशी जी' आदि...उनकी शेष कहानियाँ यादव की कहानियो से कहीं ज्यादा उलझी है। पर इलाहाबाद आ कर दिनों मार्कण्डेय जी के यहाँ टिकने वाले नामवर जी को वह सब पेचीदगी क्यों दिखायी देती !)

राकेश के लेखन की, विस्तार से निन्दा करते हुए नामवर जी ने लिखा :

'....अपने आस-पास के वातावरण मे उडती हुई कहानियों को पकड़ कर निःसन्देह मोहन राकेश ने उन्हे उतनी ही तेजी के साथ व्यक्त किया है, जो मन में एक फ्लैश की तरह कौंध जाती है, लेकिन लगता है कि उन्होने अभी बिजली की कौध ही पकड़ी है, बिजली की वह शक्ति नही पकडी, जिसका उपयोग हम अपनी सीमा में ऊष्णता या आलोक के लिए कर सकें, जो कि मनुष्योचित सामर्थ्य की प्रतीक है। इसके लिए कुछ लोग मोहन राकेश को 'डाक बँगलो का कथाकार' कहते हैं।'

सच्ची बात यह है कि 'संकेत' में आने के बाद १९५५ में कमलेश्वर अश्क जी के साथ कश्मीर गये थे। वहाँ उनके साथ घूमे और लौट कर डायरी की मदद से उन्होंने धड़ाधड़ स्केच, यात्रा-संस्मरण, कहानियाँ और एक उपन्यास 'डाक बँगला' लिख डाला और लोग कमलेश्वर को 'डाक-बँगले

का कथाकार' कहने लगे। नामवर जब अश्क जी से नाराज हुए तो न केवल उन्होने उनका विरोध करने वाले कमलेश्वर की उसी कहानी की प्रशंसा की, जिसका वे एक वर्ष पहले विरोध कर चुके थे, वरन उस पर किया जाने वाला व्यंग्य भी उनके 'छोटे भाई' पर लाद दिया।

रही 'अपने आस-पास के वातावरण में उड़ती हुई कहानियों को पकड़ने अथवा डायरी की मदद से कहानियाँ लिखने की बात' तो गँवई-गाँव के उन सतही (सुपरफ़िशियल) कथाकारों ने, जिनकी नामवर जी ने प्रशंसा की, यही किया है। श्री शरद देवड़ा ने अपने आलोचनात्मक ग्रन्थ 'एक आलोचक की नोटबुक' के पृष्ठ १३ पर ठीक ही लिखा है :

'पिछले वर्ष हमारे हिन्दी साहित्य के आधुनिक कथाकारो मे एक ऐतिहासिक भगदड़ मची थी। जिसे देखो एक हाथ मे कागज़ का पैड और दूसरे मे धोती की लाँग सम्हाले गाँवो की ओर भागा चला जा रहा था... और उन दिनो चूंकि इस भगदड़ ने फैशन का रूप ले लिया था, इसलिए परिणाम यह हुआ कि ये अधिकाँश तथाकथित ग्रामीण और आँचलिक कथाकार गाँवो से बैलगाड़ियो पर जो साहित्य लाद कर लाये, वह बहुत कुछ अधपका और सतही था। कारण यह कि इनकी समूची चेतना का निर्माण नगरो में हुआ था और गाँवो की आत्मा को ये पहचानते नही थे, इसलिए भगदड़ (अथवा भेड़िया-धसान) के इन कथाकारो ने खेतो की मेड़ो पर या गाँव के चौराहो पर खडे होकर नोट्स लिये—ग्रामीण फसलो के, त्योहारो के और वोलियों के—उन्ही बाहरी बातो के चित्रण को उन्होने अपना लक्ष्य मान लिया। परिणाम-स्वरूप स्थूल और सतही ग्रामीण चित्रण वाले, 'इन्हें भी इन्तज़ार हैं' (शिवप्रसाद सिंह) और 'हंसा जाई अकेला', 'भूदान' और 'सहज और शुभ'—(मार्कण्डेय) जैसे कहानी-सग्रहो से हिन्दी का वाज़ार पटने लगा।'

जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, अश्क जी अपने समकालीनों में मोहन राकेश को एक समर्थ कथाकार मानते थे। न केवल उन्होने 'संकेत' में राकेश की कहानी 'जानवर और जानवर' को प्रमुख स्थान दिया था, वरन वे उनकी कहानी 'मंदी', 'उसकी रोटी', 'मलबे का मालिक' आदि के प्रशंसक थे और यद्यपि भैरव, मार्कण्डेय और नामवर के साथ अश्क जी का नित्य का उठना-बैठना था, उसके बावजूद उन्हें अपने इलाहाबादी मित्रो की यह सब धाँधली और बददयानती निहायत बुरी और हिन्दी साहित्य के लिए घातक लगी और उन्होने नामवर के इस लेख की कस कर आलोचना की। उन्हीं दिनो

श्री विष्णु प्रभाकर इलाहाबाद आये और उनके सभापतित्व में अश्क जी के ड्राइंग-रूम में एक गोष्ठी हुई, जिसमें अश्क जी ने नामवर की स्थापनाओं का सख्त विरोध किया और कहा कि राकेश गँवई-गाँव के इन कथाकारों से कहीं बेहतर और स्थायी लिखते है।

तब भैरव ने (जो न केवल कुछ ही वर्ष पहले अश्क जी से अपने कहानी संग्रह 'बिगड़े हुए दिमाग' की भूमिका लिखवा चुके थे, बल्कि उनके लघु उपन्यास 'पत्थर-अलपत्थर' पर एक विस्तृत लेख लिख चुके और उन्हें उस्ताद का दर्जा दे चुके थे) कहा कि तुम्हें नयी कहानी की कोई समझ नहीं। और मार्कण्डेय बोले, अश्क जी राकेश का पक्ष इसलिए लेते है कि राकेश उन्हीं की तरह लिखते हैं।...बहरहाल, गँवई-गाँव के कथाकारों की रचनाओं के वस्तु और शिल्प पर जम कर बहस हुई और बहस मे खासी तल्खी आ गयी।

इस गोष्ठी के बाद नामवर (जो राकेश और यादव के बहाने अश्क जी पर चोटें करते थे और शहरी कथाकारों में केवल यशपाल और अज्ञेय का नाम लेते थे और अश्क जी का नाम गोल कर जाते थे) खुल कर उनके मुकाबले पर आ गये और १९५९ के नवव्रर्षांक में गँवई-गाँव के और शहरी कथाकारों पर अपनी लाइन बरकरार रखते हुए उन्होने अश्क जी पर सीधी चोट की।

१९५७ में अश्क जी का कहानी-संग्रह 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' छपा। यह कहानी कुछ समय पहले 'कहानी' ही में छपी थी और इसकी बड़ी चर्चा हुई थी। विरोधियों को जवाब देते हुए अश्क जी ने संग्रह की भूमिका में कहानी के मर्म को समझाया और उसके सपाट होने के संदर्भ में कहीं बूनिन की कहानी 'ए जेंटलमैन फ्रॉम फ़ान्सिस्को' का उल्लेख किया। नामवर 'नये काव्य' से 'नयी कहानी' में आये थे। उन्होंने न बूनिन का नाम सुना था, न उसकी कहानी पढ़ी थी। वे अश्क जी के यहाँ आये, बूनिन का परिचय प्राप्त किया, उनकी लाइब्रेरी से 'संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ' की जिल्द ले कर वहीं कहानी पढ़ी और १९५९ के 'कहानी' नववर्षांक के लेख 'नयी कहानी : नये प्रश्न' में सर्वज्ञों के-से अन्दाज में लिखा :

'इन बातो को स्वयं न समझ सकने के कारण ही कहानीकार को पाठकों की समझ से शिकायत होने लगती है और वह अपनी कमज़ोरी की वकालत के लिए किसी जबरदस्त लेखक की शरण लेता है। 'कहानी-लेखिका और जेहलम

के सात पुल' की दुर्बलता को ढँकने के लिए इसी तरह अश्क ने अलेक्ज़ेण्डर कूनिन की कहानी की आड़ ली है।'

और अन्त में अश्क जी पर व्यंग्य करते हुए लिखा :

'निस्संदेह कहानी बेहद नाजुक कला है। अश्क के दोस्त राजेन्द्र सिंह वेदी की 'लाजवन्ती' की तरह। और लाजवन्ती की यह बूटी अत्यन्त संवेदनशील हाथो की अपेक्षा रखती है। ज्यादा कलाबाजी से भी कुम्हला सकती है (व्यंग्य यादव पर है) और सूखे हाथो के स्पर्श से भी' (व्यंग्य अश्क जी पर है।)

०

इसी बीच मे कमलेश्वर ने, जो 'संकेत-काण्ड' के कारण अश्क जी के घोर विरोधी हो गये थे, बराबर हाज़िरी दे कर और श्रीपत जी के चित्रों की प्रशंसा करके (उन्हे नया-नया चित्रकारी का शौक हुआ था) अश्क जी के परम मित्र और 'कहानी' के प्रधान सम्पादक श्रीपत राय की सहानुभूति प्राप्त कर ली। एक वर्ष पहले श्रीपत ने अपने सम्पादकीय मे अश्क जी की कहानियों की प्रशंसा की थी, पर एक वर्ष बाद ही खासे कटु स्वर में उन्होने लिखा कि अश्क जी की प्रतिभा हृत हो गयी है (जबकि अश्क जी ने इस बीच में वही कहानियाँ लिखी थीं, जिनकी वे एक वर्ष पहले अपने सम्पादकीय में प्रशंसा कर चुके थे।)

अश्क जी ने जब श्रीपत से उनके सम्पादकीय की चर्चा की तो उन्होने कहा कि तुम्हें चिटकाया है, तुम भी लिखो। जब भैरव से नामवर के लेख की शिकायत की तो उन्होंने कहा कि तुम उसका जवाब लिखो, मै छापूँगा। अश्क जी को श्रीपत का विश्वास था, लेकिन भैरव को वे इस बीच समझ गये थे। इसलिए उन्होने कहा कि मै लिखूँगा तो तुम नहीं छापोगे। तब भैरव ने छाती ठोक कर कहा, "मैं ज़रूर छापूँगा।"

तब अश्क जी ने उसी सीरीज मे, जो नामवर के लेख—'नयी कहानी : नये प्रश्न' से शुरू हुई थी, 'आलोचक, लेखक और नयी कहानी' के नाम से अपना प्रसिद्ध और विवादग्रस्त लेख लिखा। जब भैरव उनके यहाँ आये और अश्क जी ने उन्हे लेख सुनाना चाहा तो उसका एक पृष्ठ सुन कर ही भैरव ने कह दिया कि वे उस लेख को नहीं छाप सकते।

अश्क जी ने कहा कि यह नहीं हो सकता, मैने इतनी मेहनत से लिखा है, तुम्हारे और श्रीपत के कहने पर लिखा है, तुम्हे छापना ही होगा।

भैरव ने साफ इन्कार कर दिया कि वे ऐसा लेख कभी नहीं छाप सकते

(भैरव में और चाहे जो दुर्गुण हों, लेकिन वे बहुत वफ़ादार आदमी है; वे जब तक नौकरी अथवा मैत्री करते हैं मालिक अथवा मित्र को यथासम्भव प्रसन्न रखते है ।—उनमें यह गुण न होता तो 'माया' में दस वर्ष नौकरी न कर पाते, न अश्क जी को आठ वर्ष तक 'साधे' रखते—। यह और बात है कि बाद में वे अपने मालिकों और मित्रों को गालियाँ देते हैं और उनके बारे में भोंडी कहानियाँ लिखते है ।) उस लेख में श्रीपतराय पर चोट थी, वे कैसे छापते !

अश्क जी को अपने मित्र की इस कायरता पर बड़ा क्रोध आया, वे श्रीपत के पास गये और लेख उनकी मेज़ पर रख दिया और कहा कि देखो मित्र, तुमने और तुम्हारे सम्पादक ने कहा था और मैने तुम्हारे और नामवर के उत्तर में लेख लिखा है । अपने विरुद्ध लिखा हुआ भाग पढ़ लो, न्याय का तकाज़ा तो यही है कि तुम इसे 'कहानी' ही में छापो, पर साहस न हो तो मुझे वापस कर दो ।

श्रीपत ने लेख को एक नज़र देखा और बड़ी बेपरवाही से, जो उन्हीं का हिस्सा है, कहा कि इसमें क्या ऽ ऽ ऽ है । तब अश्क जी ने भैरव को वहीं बुलाया और कहा कि श्रीपत को मैंने लेख दिखा दिया है, अब तुम इसे छाप दो ।

भैरव क्या करते ? लेख ले गये, लेकिन जब श्रीपत से छुट्टी पा कर अश्क जी उनके कमरे मे गये तो नमक का हक़ अदा करते हुए वे इस बात पर ज़ोर देते रहे कि श्रीपत के विरुद्ध लिखे भाग में से ढाई-तीन लाइनें काट दी जायँ । अश्क जी नहीं माने । लेख उसी सूरत मे प्रकाशित हुआ और इसे ले कर नामवर (प्रकट रूप से) और भैरव (मन ही-मन) अश्क जी के परम शत्रु हो गये ।

०

'आलोचक लेखक और नयी कहानी' नामक अश्क जी के इस लेख में कई व्यक्तिगत संदर्भ हैं । बिना इस क्षेपक को जाने पाठकों के लिए उन्हें समझना अथवा उनका रस ले पाना कठिन था । वास्तव में प्रस्तुत लेख १९५६ से १९५९ के 'कहानी नववर्षांको' में छपे नामवर जी के लेखों का उत्तर है । और नयी कहानी आन्दोलन के आरम्भिक दिनों में उसके पीछे जो व्यक्ति कथाकार थे, उनके मनोविज्ञान और कुण्ठाओं की ओर संकेत करता है और उनकी घोषणाओ और दावों को यथार्थ की कसौटी पर परखते हुए 'नयी कहानी आन्दोलन' के अस्तित्व पर नये सिरे से प्रश्न उठाता है । लेख में किंचित

तीखापन है, पर वह एक बददयानत आलोचक और सतही (सुपरफ़िशियल) कथाकारों की 'हुआँ-हुआँ' के मुकाबिले में एक खरे और सच्चे कथाकार की हुंकार है, जो तब तक हिन्दी कहानी को ३२ लम्बे वर्षों तक सींच चुका था और जिसने हिन्दी साहित्य को 'डाची' 'काकड़ाँ का तेली' और 'ज्ञानी' जैसी उत्कृष्ट गाँव की और 'अंकुर,' 'चट्टान,' 'उबाल,' 'काले साहब,' 'बच्चे' और 'कैप्टन रशीद' जैसी प्रसिद्ध शहरी कहानियाँ दी थीं और जिसने उसके बाद भी 'पलँग,' 'झाग और मुस्कान,' 'बेबसी,' 'एक उदासीन शाम,' 'आकाशचारी तथा 'मरना और मरना' जैसी अत्यन्त सूक्ष्म, संश्लिष्ट, गहरी और विचारोत्तेजक कहानियाँ लिखी।

●

आलोचक, लेखक और नयी कहानी

●

इसमें कोई सन्देह नही कि नये कहानी-लेखकों की एक सशक्त पीढ़ी अपनी रंगारंग अनुभूतियों को ले कर हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आगे आयी है। लेकिन 'नयी कविता' की तरह 'नयी कहानी' भी कोई पृथक चीज है, ऐसा भ्रम शायद कुछ ऐसे आलोचकों ही ने फैलाया है, जिनका न तो अपना कोई स्थिर मत है, न स्पष्ट दष्टि। उनकी देखा-देखी शायद नये कहानी-लेखको ने भी अपनी कहानी-संग्रहो की भूमिकाओं में 'नयी कहानी,' 'नयी ग्रहणशीलता,' 'नयी भाव भूमि' आदि शब्दों का उल्लेख किया है। मेरे खयाल में नयी कहानी को नये लेखको की भूमिकाओ की अपेक्षा नये आलोचनाओ से ज्यादा खतरा है। कुछ कहानीकार के नाते, कुछ पाठक के नाते और कुछ महज़ उत्सुकतावश में सभी कहानियाँ, लेख और भूमिकाएँ पढ गया हूँ और नये कहानीकारों की भूमिकाओ से ज्यादा मुझे नय आलोचको के लेख और फतवे दिलचस्प लगे हैं।

कहानी के नये आलोचको मे श्रीपत और नामवर पेश-पेश है। श्रीपत प्रकाशक पुराने हैं, कहानी-लेखक भी (यदि अकलंक मेहता को कहानी लेखक मान लिया जाय और उनका नाम या कोई कहानी किसी को याद हो) पुराने हैं। पर आलोचक वे नये ही हैं। इधर कुछ तो कहानी-सम्पादक और कुछ रेडियो-आलोचक के नाते उन्होने वडे जोर-शोर से आलोचनाएँ लिखी है और नये कहानी-लेखको का हीन-भाव-जनित अथवा युवक-सुलभ ऐग्रेशन उनके यहाँ भी प्रचुर मात्रा मे मौजूद है। सीग कटा कर यदि कोई बछड़ा बनेगा तो शोभा उसे दे या न दे, पर कुदकडे तो वह मारेगा ही। और जो 'ऐग्रेशन' मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, राजेन्द्र यादव और राकेश के लेखों मे गलत होते हुए भी ताज़ा और अच्छा लगता है, श्रीपत के यहाँ हास्यास्पद हो गया है। और कहानियो और कहानी-लेखकों के वारे में उनके फतवो में कुछ नये लेखकों का-सा स्वेच्छाचार (आरबिट्रेरीपन) और विरोधाभास है।

पिछले दिनो विष्णु प्रभाकर से मुलाकात हुई तो बात चलने पर वे श्रीपत के फ़तवो के इस स्वेच्छाचार की शिकायत करने लगे कि १९५६ के नववर्षांक में

उन्होंने फ़तवा दिया था: 'विष्णु प्रभाकर एक सीमित दायरे में अच्छी कहानियाँ लिख लेते हैं। पर वे ऊँचा उठेंगे, इसमें मुझे सन्देह है।' लेकिन एक ही साल बाद उन्होने लिखा, 'विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ यत्र-तत्र प्रकाशित होती रहती हैं, उनका अधिकांश लेखन उच्च-कोटि का तथा पठनीय है। वे हमारे साहित्य के लिए अमूल्य निधि हैं।' और विष्णु आश्चर्य प्रकट कर रहे थे कि उन्होंने तो उस एक साल में कुछ नया नहीं लिखा, फिर श्रीपत जी ने अपनी राय किस आधार पर बदल ली ?

मैं हँसा कि विष्णु जी ने श्रीपत के फतवों को संजीदगी से लिया। श्रीपत जाने कभी कहानियाँ या संग्रह पढ़ते हैं या नही ? मेरे साथ विष्णु के एकदम विपरीत हुआ। १९५६ मे मेरी जिन कहानियों को श्रीपत ने कृपापूर्वक 'अच्छी' की संज्ञा दी थी, १९५९ में उन्हें उनमे इस कथा-रूप की कोई भी झलक, कथावस्तु या शिल्प या मेधा नहीं मिली। न केवल यह, बल्कि साहित्य की दूसरी विधाओ में मेरे जिन प्रयासो का उल्लेख उन्होंने पिछले लेख में किया था, उन्हे भूल कर उन्होंने घोषणा की कि मेरी 'लिखने की सारी प्रेरणा हत हो गयी है।' मज़ा यह है कि विष्णु जी ही की तरह मैंने भी इस बीच कहानियाँ नही लिखीं, और चाहे बहुत-कुछ लिखा।

श्रीपत की ट्रैजिडी यह है कि वे सफल प्रकाशक, असफल कथाकार और ज़बरदस्त स्नॉब हैं। उनकी शक्ति से मुझे इन्कार नही, वे जिधर भी अपनी शक्ति लगाते उसका लोहा मनवा लेते, लेकिन दुर्भाग्य यह कि इधर अपनी शक्ति उन्होने लगायी नही। आलोचना को उन्होंने कभी गम्भीरता से नही लिया। कहानी-सम्पादक के नाते वे कहानियों का जायज़ा वार्षिकांक में लेते हैं और जिस प्रकार राजे-महराजे अपने बेटे-पोतों के जन्म पर जागीरें बाँटते थे और कभी जब किन्हीं लोगों से नाराज होते थे तो जागीरें छीन लेते थे, इसी तरह केवल अपने तात्कालिक मूड के अनुसार वे कहानियों की प्रशंसा या निन्दा करते हैं। उनके सभी लेखो को यदि एक साथ पढ़ा जाय, तो अनायास ही इस स्वेच्छाचार का पता चल जाता है। १९५९ के वार्षिकांक में पुराने लेखकों को अपनी कल्पना में खत्म करके उन्होंने नये कहानी-लेखकों की कई अच्छी कहानियो की निन्दा और बुरी कहानियो की प्रशंसा की है। अपने दरबार में हाज़िरी देने वाले एक लेखक की ख़ासी फीकी और कमज़ोर कहानी मे उन्होने 'द्रवित' और 'अभिभूत' कर देने वाले गुण ढूंढ निकाले हैं। कहानी में ये गुण है या नहीं, इसे तो समय ही बतायेगा, (फिलहाल तो इस 'द्रवित' और 'अभिभूत' कर देने वाली कहानी

का कहीं उल्लेख नही हुआ) पर श्रीपत द्रवित और अभिभूत हो सकते हैं, यह जान कर मुझे हैरत अवश्य हुई। श्रीपत वास्तव में स्नॉब है और स्नॉब की रुचि और अरुचि में भावना का दखल नही होता, जिस चीज की सब तारीफ़ करें, उसकी वह निन्दा करेगा, जिसकी सब निन्दा करें उसकी तारीफ़ !

हिन्दी-कहानी अथवा यों कहे कि नयी कहानी के नये मसीहा के रूप मे दूसरे आलोचक श्री नामवर सिंह उदित हुए है। 'नयी कहानी' नाम का उल्लेख भी शायद उन्होने पहले-पहल अपने लेख मे किया था। हिन्दी का आलोचक विशेषज्ञता (स्पेशलाइजेशन) को गुनाह समझता है। वह एक ही गति से कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास की अलोचना करना अपना अधिकार समझता है। नामवर ने अभी नाटक पर कृपा नही की, पर कविता और उपन्यास की आलोचना करते-करते वे अचानक कहानी की ओर आ गये हैं। जिस आलोचक ने पूरब और पश्चिम के सभी कहानीकारों को पढ़ा हो, उनकी शैली के विभेद को जाना हो; जो विभिन्न लेखकों की सृजन-प्रक्रिया, प्रतिभा के विस्तार और सीमा को समझता हो, वही नये लेखक का मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है। नये लेखकों के लिए सभी पुराने कहानी-लेखकों को पढ़ना जरूरी नही। वे एक शैली अपना कर, अपनी प्रतिभा और अनुभूतियो के बल पर अच्छी कहानियाँ लिख सकते है। पर जिस आलोचक को इतने लेखकों का मूल्यांकन करना हो, जिन्होने विभिन्न लेखकों से प्रभाव ग्रहण किये है, और फिर उनका मार्ग-दर्शन करना हो, उसके लिए वह सब पढ़ना और गुनना अनिवार्य है।

इस साधना और सूझ के अभाव में आलोचक चार कमजोर लेखक (प्रशंसा अथवा निन्दा से) बिगाड़ चाहे दे, दो सशक्त लेखक बना नही सकता। मैंने नामवर के लेखों को ध्यान से पढ़ा है, कुछ बड़ी अच्छी कहानियो की उन्होंने जिस तर्क से निन्दा की है और कहानी की जो कसौटी बतायी है, वह इतनी अस्पष्ट हैं कि वे स्वयं भी उसके बल पर सही निर्णय नही कर सकते। बड़ी थोड़ी पूंजी और अपने अध्यापक-सुलभ कौशल से उन्होंने नये कहानी-लेखकों को चौकाने का प्रयास किया है। कई बार उन्हें सुनने का अवसर मुझे मिला है और मैंने पाया है कि उनका कोई स्थिर मत नहीं। ऐसे आलोचक के साथ दिक्कत यह है कि यदि उससे कोई लेखक कहे कि, भाई, मेरी यह कहानी बड़ी सरल है, बड़ी लोकप्रिय हुई है, तो वह कहेगा कि लोकप्रियता उत्कृष्ट कहानी की सनद नही, घटिया चीजें ही प्रायः लोकप्रिय होती हैं। और वह उन घटिया फ़िल्मों का हवाला देगा, जो अपने घटियापन के बावजूद बडी लोकप्रिय होती है। यदि

लेखक कहे कि यह कहानी किंचित दुरूह भले ही हो, पर इशारों-ही-इशारो में मैंने कुछ गहरी बात कहने का प्रयास किया है और कहानी मेरे खयाल मे किंचित ऊँची बनी है, तो वह कहानी के सरल न होने का दुहाई देगा, याने चित भी अपनी, पट भी अपनी। लेखक को वही मानना चाहिए, जो आलोचक कहता है। कहानी-लेखक चाहे उससे कही ज़्यादा पढ़ा हो, पर अनपढ़ आलोचक उससे कह सकता है कि वह कहानी के तथ्यों को नही समझता और अपनी कमज़ोरी की वकालत में किसी जवरदस्त लेखक की शरण लेता है। लेकिन, आलोचक को यह अधिकार है कि वह अपनी बात के तर्क में चाहे बडे विदेशी आलोचकों के विचार ही न चुराये, उनके नाम भी गिनाये।

जब कभी मैं नामवर को नन्हे-नन्हें चूज़ों में कलगी उठाये घूमने वाले मुर्ग की तरह किशोर कथाकारों के दल में घूमते देखता हूँ तो मुझे उस ज़माने की याद आती है, जब मैं भी नया कथाकार था और साहित्य के क्षेत्र में शिवदान सिंह चौहान नये मसीहा के रूप में अवतरित हुए थे और हम उनके साथ-साथ इसी तरह घूमते थे और प्रायः घोषणा किया करते थे कि हिन्दी-साहित्य को नया मोड़ देने का भार उन्ही पर है। लेकिन साधना और विशेषज्ञता के इसी अभाव में साहित्य को मोड़ते-मोड़ते शिवदान स्वयं मुड़ गये। अब भी वे उसी अन्दाज़ में फ़तवे देते हैं और हर दूसरे-तीसरे वर्ष किसी-न-किसी उपन्यास को संसार का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास घोषित करते रहते है, लेकिन उनके फतवो के पीछे चूंकि न साधना है, न सूझ-बूझ, इसलिए उनका असर साहित्य पर कतग्रन नही पड़ता।

नामवर के लेखो को पढ़ कर और उनकी बातें सुन कर कभी-कभी मुझे डर लगता है कि उनका हश्र भी कही वैसा ही न हो। मेरे खयाल मे कहानी-लेखकों का पथ-प्रदर्शन करने से पहले उन्हें अपना पथ-प्रदर्शन करना चाहिए और यदि वे कहानी आलोचक के नाते हिन्दी-साहित्य को कुछ देना चाहते हैं तो विदेशी आलोचक की कृतियों को पढ़ने और उनकी आलोचना-पद्धति की नकल में हिन्दी-कथाकारो का जायज़ा लेनें से पहले उन्हें देशी और विदेशी प्रमुख कथाकारो को गौर से पढना और समझना चाहिए। रूप और शैली की इतनी विभिन्नता के रहते भी श्रेष्ठ कहानियाँ क्यों श्रेष्ठ है? वह क्या है जो किसी स्केच या संस्मरण या यात्रा-विवरण दीखने वाली चीज़ अथवा ज़िन्दगी के किसी फीके, वेजान टुकड़े को प्राणवान कर श्रेष्ठ कहानी बना देता है? 'गदल' और 'दोपहर का भोजन', 'जिवूका', और 'धरती अव भी घूम रही है', 'उसकी रोटी' और

'कस्तूरी मृग', 'आदर्श कुक्कुट गृह' और 'दाज्यू', 'दहलीज' और 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'जानवर और जानवर' और 'जिन्दगी और जोंक', 'कील और कसक' और 'कोहबर की शर्त', 'नन्हों' और 'धूल का घर' इतनी और कई दूसरी श्रेष्ठ कहानियो मे क्या खूबी है, जो उन्हे साधारण से श्रेष्ठ वना देती है ?

और यदि इन कहानियों को गौर से पढा जाय, तो मालूम होगा कि कसौटी एक नही। सभी एक-सी भी नही, कुछ श्रेष्ठ है, कुछ श्रेष्ठतर। कहानी का मनोरंजक होना उसकी सबसे बडी कसौटी है, पर हर मनोरंजक कहानी श्रेष्ठ नही होती। मन्नू भण्डारी और सत्येन्द्र शरत प्रायः सरल, बोधगम्य शैली में कहानी लिखते है। पढने में अच्छा भी लगता है, फिर कहानी भूल जाती है। फिर कभी पुस्तक उठाओ, फिर कहानियाँ पढी जाती है, पर पुस्तक रख देने के कुछ दिन बाद उनका कोई असर दिमाग पर नही रहता। इसके विपरीत कुछ कहानियाँ दिमाग पर अमिट प्रभाव छोड जाती है।

लेकिन याद भी एक मात्र कसौटी नही, क्योंकि कई बार कहानी अपने भोंडेपन के कारण भी याद रह सकती है। राजेन्द्र यादव की कई कहानियाँ मुझे इसलिए याद है कि (शायद सच्ची होते हुए भी) वे अविश्वसनीय और भोडी है। 'बड़ी कृपा है', 'लंच टाइम' और 'पिल्ला' तीनों ऐसी ही कहानियाँ है। पहले अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' को पढ़ें और फिर राजेन्द्र यादव की 'लंच टाइम' को, और पाठक मेरी बात को पा जायेंगे। जिस संयम ने 'दोपहर का भोजन' को लेखक ही की कहानियो मे नही, हिन्दी कहानियों में (किसी कथानक, घटना, रोमान, किसी बिम्ब, प्रतीक अथवा लटके के बिना) श्रेष्ठतर वना दिया है, उसी संयम के अभाव ने 'लंच टाइम' को कुछ अजीब-सा भोंडापन प्रदान कर दिया है।

हर मनोरंजक कहानी पढ़ी जा सकती है पर हर पढ़ी जा सकने वाली कहानी उत्कृष्ट नहीं होती और हर उत्कृष्ट कहानी का एक ही गुण नहीं होता। इस सम्वन्ध मे आलोचक की दृष्टि स्पष्ट और मत स्थिर होना आवश्यक है। नामवर जी वनारस से किसी कहानी को उत्कृष्ट समझ कर चलते है, इलाहावाद मे आ कर, उसके वारे में वाद-विवाद सुन कर, उसे साधारण समझ लेते है। जिसे नये कहानी-लेखको का (और पुरानों का भी क्यों नही !) पथ-निर्देश करना है, उसका काम इतने कच्चेपन से नही चलता। १९५९ के विशेषांक के अपने लेख में नामवर ने प्रतीकों की दुरूहता की वात कही है। किसी अच्छी कहानी के प्रतीक और पाठक के मध्य व्यवधान कम रहे, यह अच्छा है, पर पाठक

छिछले पानी ही में तैरता रहे; और, न गहरे में तैरना सीखे, न गहराई का आनन्द पाये, यह कहाँ तक उचित है। आलोचक आखिर किस मर्ज़ की दवा है, क्या यह उसका काम नही कि यदि कहानी अच्छी है और प्रतीक गहरा है तो पाठको को उसकी माहीयत समझाये। नामवर ने द्रोणायन की कहानी के प्रतीक की शिकायत की है। पर उस सूक्ष्म प्रतीक ने उस साधारण-सी घटना के माध्यम से आज की जिन्दगी की उस ट्रैजिडी को, जो गर्भ-स्थित शिशु के अँधेरे भविष्य की ओर संकेत करती है, कैसे उजागर कर दिया है! कहानी हो या नाटक, प्रतीक का एक जायज उद्देश्य है। उसके सहारे प्रायः लेखक सीधे ऐसी बात कह देता है, जिसे स्पष्ट करने के लिए कई बार उसे कई सफ़े काले करने पड़ सकते हैं। आलोचक को देखना यह है कि लेखक ने प्रतीक का प्रयोग ठीक किया है या ग़लत, उचित या अनुचित, बा-जरूरत या बे-जरूरत। आलोचक की पकड़ पाठक और लेखक से गहरी होनी चाहिए। बूनिन की कहानी में अपनी अनुसन्धान-कुशलता से नामवर ने वे प्रतीक भी खोज निकाले है, जो वहाँ नहीं है, इसके विपरीत द्रोणायन की कहानी के सीधे प्रतीक को भी वे समझ नही पाये। न जाने हमारे आलोचक कब तक इस हीन भाव से ग्रसित रहेंगे, जब कि उन्हें हर विदेशी रचना महान दिखायी देगी और हर देशी रचना निकृष्ट!

कभी बेदी की कहानी 'लाजवन्ती' के मर्म को समझाते हुए मैंने नामवर से कहा था कि नामवरजी, कहानी की कला बडी नाज़ुक है और कई बार पाठक और आलोचक से किंचित श्रम और सूझ-बूझ की अपेक्षा रखती है। नामवरजी ने अपने लेख में 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' की आलोचना करते और उसे रूखे हाथों से रचित बता कर वही परामर्श मुझे दे दिया है। मैं तो तीस-बत्तीस वर्षों से कहानी पढता-लिखता आ रहा हूँ और इस सीख को भली-भाँति समझता हूँ, पर मेरी सीख को वे भी समझेंगे, इसकी आशा उनके अहम् से मुझे कम है।

चूँकि पुराने आलोचको ने कहानी की ओर ध्यान नही दिया और नये आलोचकों ने मनमाने फतवे दिये, इसलिए उनसे असंतुष्ट हो कर छायावादी और प्रयोगवादी कवियो की तरह अपनी रचनाओ का मर्म समझाने के लिए नये कहानी-लेखको ने स्वयं भूमिकाएँ और लेख लिख कर 'नयी कहानी' के सम्बन्ध में पाठकों का पथ-निर्देश किया और 'नयी ग्रहणशीलता', 'नयी भाव-भूमियों', 'नये शिल्प-विधान' आदि की ओर पाठको का ध्यान खींचा है। मै इधर लगभग सभी कहानी-लेखकों के संग्रह पढ़ गया हूँ और मुझे यह जान कर निराशा हुई

कि 'नयी कविता' की तरह 'नयी कहानी' नाम की कोई चीज नहीं और यदि है तो उसमें पाठकों का ध्यान खींचने की वैसी शक्ति नहीं है। शिल्प और शैली, दोनों दृष्टियों से, कुछ ऐसा उल्लेखनीय नहीं आया, जो प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अश्क, अज्ञेय, यशपाल, कृष्णचन्द्र, मंटो, बेदी, अस्मत, कुर्तुलऐन हैदर, अहमद नदीम कासिमी, मुम्ताज मुफ्ती, बलवन्त सिंह के यहाँ न हो।

प्रयोगवादी कविता, शिल्प और भाव-व्यंजना, दोनों दृष्टियों से पुरानी कविता से कट गयी, उसका रस तक बदल गया। किसी को वह बेरस लगे अथवा रसपूर्ण, इससे मतलब नहीं, पर उसके और पुरानी कविता के ज़ायके तक मे अंतर आ गया। अच्छी हो या बुरी, नयी होने का दावा उसका गलत नही। इस माने में आज की कहानी 'नयी' नहीं बन पायी। नये लेखकों ने अच्छी कहानियाँ लिखी है, कुछ बहुत अच्छी कहानियाँ लिखी है, पुराने कहानी-लेखकों ने भी शिल्प के कुछ नये-प्रयोग किये हैं, पर वे कहानियाँ उस लिहाज से नयी है जैसे कि नयी कविता, ऐसा नहीं कहा जा सकता। शिल्प के कुछ प्रयोग वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता, भारती, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, नरेश मेहता, रणधीर सिन्हा, रेणु आदि ने अवश्य किये है, पर उनमें कोई भी ऐसा प्रयोग नही, जो पहले न हो चुका हो। जेम्ज़ जायस, वर्जीनिया वुल्फ, सॉरोयाँ तथा दूसरे फ़्रांसीसी, अंग्रेज़ी और अमरीकी प्रयोगवादियों के अनुकरण में १९४३ से १९४७ के आस-पास उर्दू-कहानी के क्षेत्र में खूब प्रयोग किये गये। कृष्ण और बेदी ने तो दो-एक सुर्ररियलिस्ट कहानियाँ भी लिखी, लेकिन मंटो पुराने शिल्प में नये मज़मून ले कर आ गया और कहानी न केवल गलत राहों पर जाने से बच गयी वरन् उसकी लोकप्रियता भी बरकरार रही। हिन्दी में जो छिट-पुट प्रयोग हुए हैं, वे न तो नये है और न अभी चल ही पाये है। रही नये मजमून की बात, तो उस लिहाज़ से पुराने लेखक हो या नये, कहानियाँ वही सफल रही है, जिनमें शिल्प चाहे नया न हो, मज़मून नया है। मज़मून पुराना है तो उसे देखने का दृष्टिकोण नया है।

दूसरी बहस इन नये कथाकार-आलोचको ने गाँव और शहर की कहानी को ले कर चलायी है। (हालाँकि ग्राम-कथा की सफलता का झगडा भी सबसे पहले शायद श्रीपत ही ने अपनी एक रेडियो-समीक्षा-वार्ता मे उठाया था।) शहर के नये कथाकारों का दावा है कि गाँव की कहानियाँ बेरस और शिल्प-विहीन है और गाँव के कथाकार उतने ही ज़ोर से दावा करते है कि शहर वालों के पास 'नया' कहने को कुछ नहीं, वही कुण्ठाग्रस्त जीवन और वही पुरानी

शैली ! कि हिन्दी कहानी को गाँव के कथाकार ही नया मोड़ दे रहे हैं (बीच-बीच में कस्बे और पहाड़ के कथाकार मिमिया रहे हैं कि उन्हें क्यो नज़र-अन्दाज किया जा रहा है, नयी कहानियाँ तो वे भी लिख रहे हैं, नयी भाव-भूमियाँ तो वे भी छू रहे हैं ।) इन चारों का सौभाग्य है कि हरिजनों और मिल-मज़दूरों में शिक्षा के अभाव के कारण अभी सबल कथाकार पैदा नही हुए, नहीं तो इन सब को झुठला कर, इस आपाधापी में, वे इस बात की घोषणा कर देते कि ये सब-के-सब झख मार रहे हैं, 'नयी कहानी' को अछूती देन तो हरिजन अथवा मजदूर-लेखकों की है, जिन्होने उस जीवन पर लिखा है, जिसे अभी तक किसी माई के लाल ने ठीक ढंग नही छुआ है, छुआ है तो वैसे नही जैसे वे छू रहे हैं और हिन्दी कहानी को नया मोड़ तो हरिजन-कथाकार ही दे रहे हैं !

वास्तव में कोई कहानी इसीलिए नयी अथवा उत्कृष्ट नही बन जाती कि उसमें केवल वस्तु नयी है अथवा केवल उसका शिल्प नया है, उसकी उत्कृष्टता का मान-दण्ड यह है कि लेखक ने उन दोनों का समावेश किस खूबी से कहानी में किया है । न कोरा शिल्प अपने में कुछ है, न कोरी वस्तु । दोनों के कुशल समावेश से ही कोई कहानी मन पर असर करने वाली बनती है । एक तीसरी चीज़ भी है, जो कहानी को उत्कृष्ट बना देती है और वह है लेखक की दृष्टि । दृष्टि के अभाव में कहानी (यदि अच्छी लिखी गयी तो) महज़ मनोरंजक बन कर रह जाती है—कला का एक अतीव सुन्दर, पर बेकार टुकड़ा ।

देशी और विदेशी लेखकों के प्रयास से कहानी आज जहाँ आ गयी है, वहाँ उसे एक चौखटे में बाँधना किसी भी आलोचक के बस मे नही । सफल कहानी पुराने ढाँचे में किसी मनोरंजक कथानक को ले कर भी लिखी जा सकती है, केवल किसी पात्र का चरित्र-चित्रण भी कर सकती है, वातावरण को उभार सकती है, वह सम्वाद, स्केच, संस्मरण, यात्रा-विवरण या निबन्ध का रूप ले सकती है । उसकी सफलता की परख केवल उसके साहित्यरूप को ले कर नही की जा सकती । उसका साहित्यरूप निरन्तर बदलता चला गया है और आज उसका कोई एक रूप नही । उसकी सफलता की परख इस या उस दृष्टिकोण से नही की जा सकती । उत्कृष्ट कहानी मेरे निकट, लेखक की वर्णन शैली, अपनी बात अथवा अनुभूति को मनोरंजक तौर पर कहने के ढंग और फिर लेखक की दृष्टि से परखी जानी चाहिए । कहानी पुराने ढंग से लिखी गयी है, पुराने ढाँचे में गढी गयी है, गाँव की है, शहर, कस्बे, पहाड़ या कल-कारख़ाने की है, वह समाज के खोखलेपन की परत उधेड़ती है या मानव के आडम्बर-भरे मन की,

इससे गरज़ नहीं। पहली गरज यह है कि वह मनोरंजक हो; और यहाँ शिल्प, शैली और संयम की जरूरत पड़ती है (इनमे बिम्ब, प्रतीक और भाषा सभी कुछ आ जाता है) और दूसरी चीज है दृष्टि, लेखक ने कहानी लिखी क्यों है ? उसका उद्देश्य क्या है ? केवल मनोरंजक, नख से शिख तक दुरुस्त कहानी कहना अथवा कहानी के माध्यम से कुछ और भी कहना ! शिल्प और शैली की उत्कृष्टता के साथ-साथ यदि वह 'कुछ और' महत्वपूर्ण है, तो कहानी अपने-आप महत्वपूर्ण हो जाती है।

कुछ लेखक केवल किसी कलापूर्ण कृति के सृजन में लेखक के दायित्व को इतिश्री समझते हैं, दूसरे उससे दृष्टि की माँग भी करते है। और यह वहस कहानी के जन्म लेने से अब तक जारी है।

व्यक्तिगत रूप से मैं अच्छी कहानी में शिल्प और दृष्टि, दोनों की वाछा रखता हूँ। सर्वोत्कृष्ट कहानी मेरे ख़याल में कलापूर्ण होने के साथ-साथ स्वस्थ दृष्टि से युक्त होनी चाहिए। मंटो की कहानी 'बू' शिल्प के लिहाज से अद्वितीय है; वडी नाजुक-सी थीम को अपनी उस कहानी में मंटो ने जैसे निवाहा है, उस पर अनायास दाद देने को जी होता है। पर दृष्टि के अभाव मे वह कला का एक सुन्दर पर व्यर्थ टुकडा-मात्र हो कर रह जाती है, उसकी उपादेयता एकदम शून्य है। उसके मुकाविले में वेदी को 'लाजवन्ती' मे शिल्प के उस कमाल के साथ दृष्टि की अपूर्व गहराई और स्वस्थता है, जिसने कहानी को वेजोड वना दिया है।

शिल्प और दृष्टि के लिहाज से नये कहानी-लेखकों में मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव की कहानियों को पढना लाभदायक सिद्ध हो सकता है। रामविलास शर्मा के साहचर्य मे राजेन्द्र यादव ने दृष्टि स्वस्थ पायी है। मै उनकी सभी कहानियाँ पढ गया हूँ। एक-आध कहानी को छोड़ कर कोई भी ऐसी कहानी नही मिली, जिसमें दृष्टि अस्वस्थ हो, लेकिन 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है', को छोड़ दें तो उनके सारे लेखन मे एक भी कहानी नही, जो मन पर कोई अच्छा और स्थायी असर छोड़े। राजेन्द्र यादव के पास भाषा है, लेकिन शिल्प नही, वेतुके शीर्षक, बेकार वर्णन और वेतुके अंत दे कर जो चमत्कार वह उत्पन्न करना चाहते हैं, वह कई बार भोंडा, ओबवियस (साफ़ दिखाई देने वाला) और हास्यास्पद हो जाता है। यदि कहीं शिल्प पर वे अधिकार पा लें, तो मेरे खयाल में बड़े सशक्त कथाकार हो सकते हैं। अपनी लम्बी कहानी 'कुलटा' में उन्होंने नायिका का चरित्र-चित्रण ऐसी खूबी से किया है और कहानी में कुछ इतने सुन्दर स्थल हैं

कि बरबस दाद देने को जी चाहता है, पर उसके आरम्भ और अन्त को उन्होने इस बुरी तरह बिगाड़ा हैं कि कहानी चौपट हो कर रह गयी है और उन सुन्दर स्थलो को भूल कर पाठक उसके भोडे अन्त मे ही उलझा रह जाता है। इसके मुकाबिले में राकेश के पास बड़ा नाजुक शिल्प है। वे पुराने ढाँचे की कहानी लिखें या नये ढाँचे की, अपने शिल्प की नजाकत से बडी अच्छी चीज उतारते हैं। लेकिन-कई बार कला का मोह उन्हें दृष्टि की बात भुला देता है। 'मिस पाल' बड़ी ही सुन्दर कहानी है, बडी नजाकत और नफ़ासत से राकेश ने, मंटो की कहानी 'बू' ही की तरह, उसे लिखा है। 'मिस पाल' की कुण्ठा और ट्रैजिडी को बडे कलापूर्ण और सूक्ष्म ब्योरो से उजागर किया है। लेकिन उस पात्र को जीवन से हू-ब-हू उतारते वक्त (या कल्पना से उन्होने उसे लिखा है तो कल्पना के उस पात्र को कागज पर चित्रित करते वक्त) उनकी दृष्टि पात्र की कुण्ठा के चित्रण तक ही महदूद रही, उसके आगे नही गयी, जैसे कि 'मलबे का मालिक' में वह आगे भी गयी है।

लेकिन यह दृष्टि ऊपर से लादी नही जा सकती। कहानी के कलेवर में यह नहीं समाती तो फिर बेकार है। 'मिस पाल' को अगर राकेश स्वस्थ दृष्टि से वेष्ठित करते तो फिर वह उसका चरित्र-चित्रण दूसरे ही ढंग से करते। तब वे 'मिस पाल' के कुंठा-जनित, आहत अहं के आक्रोश और सम्भावनाओं को उजागर करते! उसका अंत भी शायद ऐसा न होता। पर शायद राकेश को यह स्वीकार नहीं था। उन्होने जो देखा अथवा उनकी कल्पना ने जो देखा, उसे कला और शिल्प की तमाम बारीकियों के साथ चित्रित कर दिया। कहानी अब भी उत्कृष्ट है। उसकी उपादेयता के सम्बन्ध में वाद-विवाद हो सकता है और सदा होता रहेगा। इसी दृष्टि से धर्मप्रकाश आनन्द की दो कहानियाँ: 'यह भी, वह भी' और 'दिल ही तो है....'[१] को पढा जा सकता है। पहली यद्यपि अपनी निराशा के बावजूद समाज के गलत मूल्यो की ओर संकेत करती है, तो दूसरी केवल व्यक्ति की कुण्ठा का चित्रण-भर करती है।

लेकिन राजेन्द्र यादव की तरह जो लोग शिल्प को नकार कर केवल वस्तु पर ज़ोर देते है, मेरे ख़याल में वे गलत है। वस्तु अपने में कुछ नही। कोरी उपादेयता कहानी को अपनी सारी स्वस्थता और दृष्टि के बावजूद उत्कृष्टता प्रदान नही कर सकती। इसी तरह दृष्टि के अभाव में शिल्पयुक्त कहानी

---

१. कच्चे धागे की दो कहानियाँ

अलंकारयुक्त विधवा सरीखी है, जिसके सौन्दर्य और अलंकारों की कोई सार्थकता नही।

कहानी प्रेमचन्द के समय शरीर को नहीं देखती थी, उसके बाहर कल्पना दौड़ा कर आदर्श के चित्र उतारती थी; फिर प्रगतिवाद के आरम्भिक काल में वह यथार्थ के खाके उतार कर शरीर को देखने लगी; फिर वह शरीर के अन्दर झाँक, मन का चित्रण करने लगी और अब मानव-मन के बारे मे कल्पना दौड़ा कर कुछ ऐसे चित्र भी उतारती है, जो उसी तरह अयथार्थ और काल्पनिक है, जैसे आदर्शवादी युग के आदर्श चित्र। और इस विकास-क्रम में कहानी की कई शैलियाँ और रूप बन गये हैं। नये कहानीकारों में कुछ धाराएँ स्पष्ट लक्षित है।

प्रेमचन्द की परम्परा मे कहानियाँ अब भी लिखी जा रही है, उतनी ही पुर-असर और लोकप्रिय। रांगेय राघव की 'गदल' और इसी महीने 'कहानी' मे छपी शैलेश मटियानी की कहानी 'जिबूका' इस शैली के उत्तम नमूने है। कहानी का पुराना, ढाँचा, मनोरंजक घटना और आदर्श पात्र हैं।

फिर कमल जोशी और कुलभूषण है, जो मॉपासाँ की टेकनीक में एकदम काल्पनिक कहानियाँ लिखते है और शिल्प के उतार-चढाव और अन्त के झटके को उसी कुशलता से निबाहते है। 'बेटे का बाप' और 'महान झूठ' उदाहरणार्थ रखी जा सकती है। लेकिन कमल जोशी जहाँ कोरे शिल्पकार है, वहाँ कुल-भूषण की उत्कृष्ट कहानियो मे बड़ी दृष्टि है और प्रेमचन्द और सुदर्शन की परम्परा मे उनके पात्रों में आदर्शोन्मुखता भी है। यद्यपि उन्होने 'दिल्ली का धड़कता दिल', जैसे प्रयोग भी किये है, पर 'कलाकार की हार' प्रेमचन्द को ही परम्परा मे लिखी कहानी है।

मॉपासाँ और चेखव के मिले-जुले शिल्प को राकेश, शिवप्रसाद सिंह और शेखर जोशी ने बड़ी खूबी से अपनाया है। तीनों की अनुभूतियाँ अपनी-अपनी है, पर यथार्थ की पकड़, शिल्प की नजाकत और नफ़ासत और दृष्टि की गहराई एक जैसी है। क्रम से 'मन्दी', 'नन्हो' और 'बदबू' मेरे कथन की प्रमाण है।

मन्नू भंडारी, शरत और शानी बड़ी सरल और मनोरंजक कहानियाँ लिखते हैं, पर गहराई अभी उनमे नही है। मन्नू भंडारी की 'कील और कसक' अप-वाद है। भाषा की सरलता तीनों में एक-जैसी है। शिल्प पर मन्नू का अधिकार किंचित ज्यादा है, लेकिन जहाँ कही उन्होने राजेन्द्र यादव की नकल में चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास किया है, कहानी बिगाड़ ली है।

मार्कण्डेय की कहानियों में देहाती शब्दों का उतना बाहुल्य न हो तो शायद

वे अच्छी लगें। अगर वे कहानियाँ केवल भोजपुरी प्रदेश के लिए लिखी हों तो कोई मुज़ायका नही, पर हिन्दी तो सारे देश में फैली है। दूसरे प्रान्तों के हिन्दी भाषियों के लिए उन कहानियों को पढना, समझना और उन्हें पसंद कर पाना कठिन है। आंचलिक कहानियों का यह नियम है कि लेखक जब स्वयं कुछ बयान करे तो उन चीज़ों के लिए, जिनके उपयुक्त पर्याय हिन्दी मे मौजूद है, देहाती शब्दों का प्रयोग न करे। हाँ, जिन चीज़ों के लिए उचित हिन्दी शब्द नहीं है, उनके लिए वह देहाती शब्द प्रयोग कर सकता है। यदि किसी देहाती प्रयोग की हास्यास्पदता अथवा विशिष्टता की ओर उसे पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना अभीष्ट हो तो भी वह देहाती शब्द प्रयोग में ला सकता है (और रेणु ने यह काम 'मैला आँचल' मे बड़ी खूबी से किया है) वर्ना आम तौर पर उसे केवल देहातियों के सम्वादों मे ही उन आंचलिक शब्दो का इस्तेमाल करना चाहिए। इन लादी हुई आंचलिकता ने मार्कण्डेय की कहानियो को कुछ अजीब-सी कर्कश अनगढ़ता प्रदान कर दी है।

मार्कण्डेय ने अपनी कहानियो के देहाती होने का दावा बड़े ज़ोर से पेश किया है, पर गौर से पढने पर उनकी अधिकांश कहानियों के आधारभूत विचारों में मुझे कुछ वैसा नही लगा, जो शहर में न हो। राकेश की 'आर्द्रा' और मार्कण्डेय की 'माई' मे क्या अंतर है ? 'आर्द्रा' कैसे शहरी है और 'माई' कैसे देहाती ? इसी तरह 'आदर्श कुक्कुटगृह' भी रिश्वत और सरकारी योजनाओं के खोखलेपन पर लिखी गयी कहानी है और उस सम्बन्ध में शहर और देहात के अफ़सरो और दफ्तरो में कोई अन्तर नही। 'धूल का घर' भी उसी प्रकार देहाती नही है। कहानियाँ ये अच्छी है, पर केवल देहाती वातावरण के कारण देहाती नही कही जा सकतीं।

इनके मुक़ाबिले में लक्ष्मीनारायण लाल की 'द्रौपदी' शुद्ध देहाती कहानी है, यद्यपि देहाती शब्दो का बाहुल्य इसमे भी है और कहानी का आरम्भ कुछ बोझिल है, पर वह उतना अखरता नही, और कहानी का अन्त तो लेखक ने सुन्दर किया है। उस कहानी में चित्रित जीवन देहात का जीवन है और वह शहर में नही पाया जा सकता है। लेकिन लक्ष्मीनारायण लाल जितनी तेज़ी से कहानियाँ लिखते है और जितनी जल्दी दूसरों का असर कबूल करते है, वे हमेशा इतनी अच्छी कहानियाँ लिख सकेंगे, इसमें मुझे सन्देह है।

केशव प्रसाद मिश्र की तीन-चार कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी लगी। 'कोहवर की शर्त' और 'समहुत' में केशव ने बडे कोमल हाथों और गहरी सम्वेदना से

काम लिया है। लेकिन उनमे अतिरिक्त भावुकता है और इधर अरसे से उनको कोई इतनी अच्छी कहानी भी देखने को नहीं मिली।

यही मुझे जितेन्द्र और ओमप्रकाश श्रीवास्तव की याद आती है। जितेन्द्र बडी सशक्त शैली ले कर हिन्दी-कहानी के क्षेत्र मे आये, पर अपनी प्रतिभा से आक्रान्त हो कर भटक गये। जितेन्द्र की 'ये घर : ये लोग' की याद अब भी ताजा है। ओप्रकाश श्रीवास्तव को भाषा और शैली पर बड़ा अधिकार है। लेकिन उनके सृजन की रफ़्तार बड़ी धीमी है और उनका व्यक्तित्व उभर कर सामने नही आता।

अमरकान्त, रामकुमार और निर्मल वर्मा को किसी एक धारा में नही बाँधा जा सकता। तीनों के यहाँ कथानक के बदले चरित्र-चित्रण और शैली पर जोर है। अमरकान्त यथार्थ के चित्र उतारने की बड़ी सबल प्रतिभा रखते हैं। व्यंग्य और जिन्दगी के नन्हे-नन्हें ब्योरों का यथार्थवादी चित्रण उनका प्रमुख अस्त्र है 'जिन्दगी और जोंक' में मुहल्लेदारों के टुच्चे स्वार्थ और रजुआ की जिजीविषा का अभूतपूर्व चित्र बडी कारीगरी से उन्होने खीचा है। जिन्दगी के लिए रजुआ की तडप और संघर्ष अज्ञेय की 'जीवनी शक्ति' की बतरा की याद ताज़ा कर देते है। 'गले की जंजीर' और 'डिप्टी कलेक्टरी' में भी उनकी वही 'कला विहीन कला' और नन्हें नन्हें व्यंग्य-भरे ब्योरो का समावेश है। अगर इन दोनों कहानियों में ब्योरे कुछ कम किये जा सकते, तो बहुत अच्छा होता। 'डिप्टी कलेक्टरी' को पढते हुए धर्म प्रकाश आनन्द की बीस वर्ष पुरानी कहानी 'यह भी : वह भी' की याद आती है। जो 'हंस' में छपी थी और बड़ी प्रसिद्ध हुई थी। मैं नही जानता अमरकान्त ने उसे पढ़ा या नहीं, पर उस प्रतियोगिता में बैठने और असफल होने वाले का अद्वितीय चित्रण उस कहानी में है।

रामकुमार का चरित्र-चित्रण बड़ा गहरा है। संवेदना बड़ी करुण है और पात्र से लेखक की हमदर्दी बड़ी गहरी है। 'जीवन का विष,' 'अंकिल' और 'रेवा' मन पर अमिट नक्श छोड़ जाती है।

निर्मल वर्मा कुर्तुल-ऐन-हैदर की तरह बडी बारीक, प्रतीक-भरी, रोमानी शैली में बड़ी गहरी मनोवैज्ञानिक गुत्थियो को अपनी कहानियो मे चित्रित करते है। 'दहलीज' उनकी शैली का उत्तम नमूना पेश करती है। उनकी कुछ कहानियों का कथ्य किंचित अस्पष्ट और प्रतीक किंचित गहरे हो गये हैं। दृष्टि उनकी स्वस्थ है, यह दो-चार कहानियो को पढ कर कहना कठिन है, पर शायद वे कलाकार से इससे अधिक कुछ अपेक्षा नही रखते कि वह मानव-मन के किसी गहरे

सत्य को (वह सत्य है या नही, पर कथाकार जिसे सत्य समझता है) अपनी कहानी में बड़ी कोमलता से व्यक्त कर दे।

और यों हिन्दी-कहानी अपनी विभिन्न शैलियों मे अबाध गति से अग्रसर है। कई नये-नये कथाकार अनोखी अनुभूतियो को अपनी कहानियों मे चित्रित कर रहे हैं। ऊषा सक्सेना (अब प्रियम्वदा—सं०) की 'ज़िन्दगी और गुलाब के फूल', दयानन्द अनन्त की 'गुइयाँ गले न गले,' मुगल महमूद की 'महलसरा के खेल', मधुकर गंगाधर की 'ढिबरी' मन पर गहरे असर छोड़ जाती है। और ऐसे कथाकार भी ज़रूर है जो अभी प्रकाश में नही आये। आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि वह उन्हें प्रकाश में लाये और उनके गुण-दोष उन्हें बताये; उनकी शक्ति और कमज़ोरी के सम्बन्ध में उनका पथ-निर्देश करे। लेकिन ऐसा शायद वह तभी कर सकता है जब अपने अहम् और पूर्व-ग्रहो को भूल कर वह निष्पक्ष भाव से समालोचना करे। उसकी राय को लेखक मान ही लेंगे, यह जरूरी नही, पर यदि वह दयानतदारी से मित्र-शत्रु की आलोचना करता जायगा तो जल्द ही लेखक उसकी दयानतदारी के कायल हो जायेंगे और यदि उसमें उनका पथ-निर्देश करने की क्षमता है तो वे उसकी राय पर गौर भी अवश्य करेंगे।

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैंने इस लेख में पुराने कहानी-लेखको का ज़िक्र नही किया और नये कहानी-लेखको के सम्बन्ध मैंने ऊपरी तौर पर कुछ प्रवृत्तियों का उल्लेख-भर किया है। इनमें से प्रमुख लेखको की कहानियाँ किंचित गहरे और विस्तारपूर्ण लेखो की माँग करती है। कई बार एक कथाकार के यहाँ कई शैलियाँ साथ-साथ मिलती है। अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' उनकी शेष कहानियों से भिन्न है। इसी तरह मार्कण्डेय, मोहन राकेश और शिवप्रसाद सिंह के यहाँ शैलियों का यह अंतर देखा जा सकता है। रामकुमार और धर्म प्रकाश आनन्द की कहानियाँ विस्तृत विवेचन की माँग करती है। इस लेख में उतनी गहराई मे जाना कठिन है। कभी समय रहा तो मै विभिन्न कहानी-लेखकों की खूबियो और खामियो का जायज़ा लूँगा। दृष्टि और शिल्प के बारे में भी हर लेखक का अपना मत है। इस सम्बन्ध में अपनी बात भी मैं सूत्र रूप से कह सका हूँ, कभी समय मिला, तो विस्तार से लिखूँगा।

●

१९५९

अन्तर्कथा

●

श्रीपत राय ने यद्यपि अपने और नामवर के विरुद्ध अश्क जी का लेख—'आलोचक, लेखक और नयी कहानी'—अपने ही पत्र में छाप दिया, पर उनके मन में कहीं यह बात समा गयी कि अश्क के इस लेख में भैरव की साज़िश है। चूँकि प्रकटतः भैरव जी और अश्क जी में बहुत घनिष्ठता थी, इसलिए श्रीपत यह बात नहीं जानते थे कि भैरव मन में अश्क जी से कैसी खार खाते हैं, शहरी कथाकारों के पक्ष में अश्क जी का बोलना उन्हें कितना अखरता है, नामवर और मार्कण्डेय की खुशामद ने उन्हें कैसे अपना नेता होने का एहसास दिला दिया है और यद्यपि एक ओर वे अश्क जी से हर तरह की सहायता लेते हैं, दूसरी ओर यह उम्मीद करते है कि वे साहित्यिक लाइन पर उनकी हाँ-में-हाँ मिलायें। और श्रीपत मन-ही-मन भैरव के विरुद्ध हो गये। वे तो शायद न भी होते, क्योंकि उनमें अपार साहस तथा कैण्डर है, पर कमलेश्वर जैसे श्रीपत के यहाँ उन दिनों दूसरे-तीसरे हाज़िरी देने वाले मित्रों ने अफ़-सोस प्रकट किया कि श्रीपत भाई आपका मित्र आपके सम्पादक से साज़िश कर के आप ही के पत्र में ऐसा लेख लिखे, यह कहाँ का न्याय है? श्रीपत इन 'हितचिन्तकों' का भी नोटिस न लेते, पर उन्हीं दिन सरस्वती प्रेस में एक नये मैनेजर आ गये, जो श्रीपत के पुराने मित्र भी थे। वे लगातार उनके कान भरने लगे कि ये अश्क आपके कैसे मित्र हैं, जो आप ही के पत्र में आपके विरुद्ध लिखते हैं और श्रीपत जी ने अश्क जी से मज़ाक-मज़ाक में उन दिनों शिकायत भी की कि पैसा मेरा लगता है और पालिसी तुम्हारी चलती है। यद्यपि अश्क जी ने उन्हें विश्वास दिलाया कि तुम्हारे पत्र को अपना समझ कर हम दिन-रात खटते हैं, तुम्हें शुक्रगुज़ार होना चाहिए। पर वे मैनेजर साहब भैरव को तंग करने लगे।

हुआ यह कि नामवर और अश्क जी के लेखों के बाद बहस में कटुता आ गयी। इसको उन मैनेजर साहब ने, जो स्वयं पत्रकार रहे थे (और मन-ही-मन 'कहानी' के सम्पादक की कुर्सी पर अधिकार करने के स्वप्न भी पाले हुए थे) अच्छा नहीं समझा और श्रीपत को समझाया कि लोक-प्रिय पत्रिका में ऐसा कटु वाद-विवाद नहीं छपना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हीं

दिनों जब श्रीपत दिल्ली गये तो वहाँ शहरी कथाकारों के ग्रुप ने भैरव के खिलाफ़ उनके कान भरे और 'कहानी' में भैरव का रहना कठिन हो गया।

अश्क जी को यह लगता था कि प्रमुखतः भैरव पर वह विपत्ति उनके लेख के कारण आयी है। इसलिए उन्होंने राजकमल प्रकाशन के श्री ओंप्रकाश जी को एक कहानी-पत्रिका निकालने के लिए प्रेरित किया। ओंप्रकाश जी मन में यह स्कीम बनाते दिल्ली चले गये और वहाँ जा कर उन्होने रेणु और राकेश के सम्पादकत्व में कहानी-पत्रिका निकालने की योजना भी बनायी। कुछ ही महीने बाद उन मैनेजर महोदय ने बिना भैरव से पूछे १९६० के नव-वर्षांक की घोषणा कर दी और बिना भैरव जी से पूछे अपनी इच्छा से कथाकारों के नामों का घोषणा-पत्र छाप दिया। यह सीधा अपमान था। भैरव जी को लगा कि अब वे ज्यादा दिन 'कहानी' में नहीं रह सकते।

उन्हीं दिनों ओंप्रकाश दिल्ली से एक दिन के लिए इलाहाबाद आये। अश्क जी उनसे मिले और जब ओंप्रकाश जी ने कहा कि उन्होने राजकमल से एक कहानी-पत्रिका निकालने की स्कीम बना ली है तो अश्क जी ने उन पर जोर दिया कि वे भैरव को रख लें। यही नहीं, उन्होंने भैरव को समझाया कि वे राजकमल में आ जायँ। बात यह थी कि दो-एक वर्ष पहले किसी वर्कर के मामले में (जिसकी पंचायत करने श्री भैरवप्रसाद गुप्त राजकमल गये थे) ओंप्रकाश जी में और उनमें झगड़ा हो गया था और क्रोध में ओंप्रकाश जी ने उन्हें दफ़्तर से बाहर कर दिया था। लेकिन अश्क जी ने उसी दिन उनका कंट्रैक्ट राजकमल से करा दिया। भैरव ने कहानी से त्यागपत्र दे दिया और यों 'नयी कहानियाँ' का समारम्भ हुआ।

०

और यहीं से इस तथाकथित नयी कहानी-आन्दोलन का दूसरा पर्दा उठता है।

०

नयी कहानियाँ के अनुबन्ध में एक शर्त लिखित थी और दूसरी अलिखित। लिखित यह था कि पत्रिका में कोई कटु वाद-विवाद नहीं शुरू किया जायगा और अलिखित यह कि उसमें राकेश और रेणु साल भर तक कॉलम लिखेंगे। बाद में इतनी शर्त बढ़ गयी कि राकेश जी के कॉलम के उत्तर में जो पत्र आयेंगे वे नहीं छापे जायेंगे और उनका उत्तर वे ही अपने कॉलम में देंगे।

इन अलिखित शर्तों में राकेश वाली शर्त न्यायोचित न थी, लेकिन पत्रिका निकालने की प्रेरणा ओंप्रकाश जी को चाहे अश्क जी ने दी हो, पर दिल्ली जा कर उसे राकेश और रेणु के सम्पादकत्व में निकालने की स्कीम उन्होंने बनायी थी और कुछ बात भी चलायी थी और वे दोनों मित्रों को प्रसन्न रखना चाहते थे। लेकिन राकेश जी भैरव से नाराज़ थे। भैरव उनके लेखों के उत्तर में मनमाने पत्र छाप कर उनका प्रभाव कम न कर दें अथवा उनका मजाक न उड़ायें, इसलिए उन्होंने शर्त रखी कि पत्रों का उत्तर भी उन्ही के द्वारा दिया या न दिया जायगा।

भैरव को यह शर्त न माननी चाहिए थी, पर चूँकि 'नयी कहानियाँ' में वेतन ज्यादा मिला, दूसरी सुविधाएँ भी अश्क जी ने दिला दीं, इसलिए भैरव यह अलिखित शर्त मान गये। लेकिन तब राकेश ने यह पख लगा दी कि कहानी के ज़माने में उनके साथ जो ज्यादती हुई है भैरव उसके लिए क्षमा माँगे तो वे 'नयी कहानियाँ' को सहयोग देंगे। (भैरव ने नयी कहानी पर एक सीरीज़ शुरू करने के लिए उनका लेख माँगा था, राकेश जी ने भेज भी दिया था, पर भैरव ने वह सीरीज़ मार्कण्डेय के एक ऐसे लेख से शुरू कर दी जो उनके संग्रह की भूमिका के तौर पर लिखा गया था। राकेश जी को ठीक ही बुरा लगा था और उन्होंने कहानी को सहयोग देना बन्द कर दिया था।) ओंप्रकाश किसी कीमत पर भी राकेश जी को नाराज़ न करना चाहते थे। उन्होंने भैरव पर जोर दिया कि आप राकेश को पटा लीजिए। तब भैरव ने अश्क जी के सामने यह कठिनाई रखी। राकेश जी तथा अश्क जी में घनिष्ठ सम्बन्ध थे। उन्होने बहाने से राकेश को इलाहाबाद बुलाया और भैरव से उनकी सुलह करा दी।

श्री रेणु ने जैनेन्द्र, यशपाल, उग्र और अश्क पर चार लेख लिखे, वे अमृत राय पर लिखने जा रहे थे कि भैरव ने उन्हें रोक दिया (अमृत राय से उन दिनों उनकी शत्रुता थी) और फिर जब तक भैरव 'नयी कहानियाँ' में रहे, रेणु ने नहीं लिखा।

राकेश ने छै महीने तक 'बक़लम खुद' के नाम से कॉलम लिखा, फिर भैरव मे और उनमें झगड़ा हो गया। कॉलम बन्द हो गया और बिना ओंप्रकाश जी से सलाह किये, नामवर जी को उनकी जगह कॉलम लिखने के लिए निमंत्रण भेज दिया गया। चूंकि राकेश और रेणु ओंप्रकाश जी के परम मित्र थे, इसलिए ओंप्रकाश जी को बहुत बुरा लगा। भैरव की नौकरी पर

आ बनी। भैरव ने फिर अश्क जी को बीच में डाला। अश्क जी दिल्ली गये और राकेश, ओंप्रकाश और भैरव में समझौता करा आये। और नामवर 'हाशिये पर' लिखने लगे और मार्कण्डेय फिर पीछे से डोर हिलाने लगे और कुछ दिन बाद उन्हें भी भैरव जी ने—'जो लिखा जा रहा है'—से नाम से एक कॉलम दे दिया। और यह तिगड्डा फिर अच्छे कथाकारों को काटने लगा। नामवर जी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, काव्य के आलोचक थे। नयी कहानी की उन्हें उतनी समझ नहीं थी। चूँकि पुराने प्रगतिशील आलोचक डॉ० रामबिलास शर्मा और शिवदानसिंह चौहान लगभग मौन हो गये थे. कभी लिखते थे तो इन 'नये' कथाकारों को कभी गिनते भी नहीं थे, इसलिए कहानी के क्षेत्र में एक नया प्रगतिशील आलोचक तैयार करना जरूरी था। इसलिए यह सब काट-कटौवल की गयी। नामवर नये-नये इस क्षेत्र में आये थे। १९५८ के 'कहानी नववर्षांक' में उन्होंने अपने लेख—'सफलता और सार्थकता'—में स्वीकार भी किया था :

'मेरी अपनी सीमा यह है कि मैं अब तक काव्य का पाठक रहा हूँ (जिसका आभास इस कहानी-सम्बन्धी लेख में भी लाचारी से आ गया है) कहानियाँ मैंने कम पढ़ी हैं और उनमें अन्तर्निहित सत्य को समझने तथा व्यक्त करने की भावना भी अब तक तय नहीं कर पाया हूँ।'

लेकिन इसके बावजूद जब उन्होंने '६० में 'नयी कहानियाँ' में 'हाशिये पर' लिखना शुरू किया तो औलियाओं के-से अन्दाज में पुराने और नये लेखकों को सलाह-मशविरे देने लगे। होता यों कि नामवर बनारस से इलाहाबाद आते। मार्कण्डेय कुछ पश्चिमी आलोचकों की पुस्तकों के नाम उन्हें सुझाते। 'रूपा एण्ड कम्पनी' में जा कर खरीदवा देते। नामवर उनका पारायण करते और मार्कण्डेय से उन पर बहस होती, एक लाइन बनती, पश्चिमी मानदण्डों के सहारे विरोधी लेखकों की कहानियों को काटने का प्रयास नामवर अपने लेखों मे करते—कुछ इस अदा से जैसे कुछ एकदम नया वे कह रहे हैं और हिन्दी कहानी में अब इन्क़लाब आया ही चाहता है।

लेकिन अश्क जी भी इलाह[illegible]

उनका नित्य का उठना-बैठना थ

कौन-सी पुस्तक ख़रीद ले गये

'नयी आलोचनाओं' के स्रोतो

सिलसिले में नामवर की बैठ

दाता उनके मार्कण्डेय थे, इसलिए नामवर के लेखों में विभ्रम तथा अन्त-विरोध अनायास आ जाते। इसी दौरान में 'अच्छी और नयी कहानी' पर जब उन्होंने लिखा तो अश्क जी ने संक्षिप्त रूप में उसका बड़ा तीखा उत्तर दिया। जवाब में नामवर ने 'सच्चे निर्णय के सहयोगी प्रयास में' फिर एक लेख लिखा, जिसमें अश्क जी पर कस कर व्यंग्य किया। जब अश्क जी ने उसी शीर्षक से उसका उत्तर दिया, नामवर जी के पश्चिमी स्रोतों की कलई खोली तो नामवर बौखला गये और फिर उनसे कोई उत्तर नहीं बन पड़ा। हाँ, उस लेख की केवल एक बात ले कर बाद में उन्होंने 'सहयोगी प्रयास में कुछ और' लेख लिखा जिसमें 'उषा प्रियम्वदा' की कहानी 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' पर बहस की।...जो भी हो इस सब से एक अत्यन्त कटु बहस लेखकों में चल पड़ी।

दूसरी बातों के अतिरिक्त यह कटु बहस भैरव के 'नयी कहानियाँ' छोड़ने का एक और कारण बनी, क्योंकि अनुबन्ध की एक लिखित शर्त का उल्लंघन हुआ और नयी कहानियाँ द्वारा केवल अपने ग्रुप को जमाने का जो प्रयास भैरव कर रहे थे, वह पत्रिका की लोकप्रियता के लिए घातक हुआ। कहानी लेखकों में विरोध बढ़ गया और ओंप्रकाश जी परेशान हो गये और उन्होंने भैरव को त्यागपत्र देने पर विवश कर दिया।

नयी कहानी के इस आन्दोलन के पीछे कोई सैद्धान्तिक आग्रह नहीं था, वरन् यह कुछ व्यक्तियों की निजी कुण्ठाओं और गलत महत्वाकाँक्षाओं का परिणाम था। हिन्दी कहानी का जितना अहित मार्कण्डेय, भैरव और नामवर ने अपने इस प्रयास से किया है उतना शायद किसी ने नहीं किया। इसी कारण हिन्दी कहानी 'आंचलिक' और 'शहरी' कथाकारों में बँटी, इसी कारण अच्छी-भली कहानियाँ लिखते-लिखते राकेश और यादव 'नये' के चक्कर में पड़े—यहीं से प्रेरणा पा कर मनहर और महीप ने 'सचेतन कहानी' का वैसा ही प्रतिक्रिया-मूलक आन्दोलन खड़ा किया और कौन कह सकता है कि 'अकहानी' नामक आन्दोलन भी वहीं से उद्भूत नहीं है और उसके पीछे भी वैसी ही गलत और कुंठित महत्वाकांक्षा नहीं है। इसी के कारण दुनिया जहान के जोड़-तोड़ हुए (और हो रहे हैं) और सक्षम कथाकारों का अपार समय व्यर्थ गया (और जा रहा है।)

विडम्बना यह है कि जिन लेखकों को जमाने के लिए यह सब किया गया

था वे लगभग मौन हो गये। इधर वर्षों से उनकी कोई उच्चकोटि की रचना देखने को नहीं मिली; आगे मिलेगी, इसमें सन्देह है।

०

'अच्छी और नयी कहानी' तथा 'सच्चे निर्णय के सहयोगी प्रयास में' नाम से अश्क जी ने नामवर जी के उत्तर में जो दो लेख लिखे, वे यहाँ संकलित हैं। उन्हीं दिनों 'आजकल' में भी उन्होंने एक लेख 'अच्छी कहानी या नयी कहानी' लिखा। वह भी यहाँ संकलित है। 'कहानी : अच्छी और उत्कृष्ट' लेख अश्क जी ने बाद में लिखा है और यह सच्चे माने में 'सहयोगी प्रयास में कुछ और' चिन्तन का फल है।—कहानी के जागरूक पाठकों, आलोचकों और सहज जानकारी प्राप्त करने वालों को यह महसूस होगा कि ये लेख आलोचना की घिसी-पिटी शब्दावली से अलग सच्ची और खरी बात कहते हैं। पूर्व और पश्चिम—दोनों की साहित्यिक उपलब्धियों के अध्येता अश्क जी की इस बात से सहमत होंगे कि सच्चे अर्थों में ये उपलब्धियाँ किसी भी स्टंट-आन्दोलन की देन न हो कर व्यक्ति-रचनाकार की निजी रचना-क्षमता का प्रतिफलन होती हैं। और आने वाली पीढ़ियाँ उसका मूल्यांकन भी इसी रूप में करती रही हैं।

०

नयी कहानी या अच्छी कहानी ?

पिछले कुछ वर्षों से पत्र-पत्रिकाओं में 'नयी' और 'अच्छी' कहानी के सम्बन्ध मे इतनी परस्पर-विरोधी चर्चाएँ छपी हैं कि साधारण पाठक तो दूर, साधारण लेखक का भी कन्फ़्यूज्ड (विभ्रमित) हो जाना सम्भावना से परे नहीं। इन चर्चाओं को पढ कर अच्छी या नयी कहानी के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत बना लेना लगभग असम्भव है।

किसी जमाने में डॉ० रामविलास शर्मा ने साहित्य की उपादेयता को ले कर बडे धुआँधार लेख लिखे थे। मैं उन दिनों पंचगनी के सैनिटोरियम में था। मुझे अच्छी तरह याद है कि उन लेखों का प्रभाव मुझ पर यह पड़ा था कि नाटक या कहानी के जो भी आधारभूत-विचार मेरे दिमाग में आते थे, वे एकदम पोच, असामाजिक, अनुपादेय लगते थे। यदि मैं निरंतर सोच-विचार के बाद, बरबस उन लेखों के कुप्रभाव से अपने आप को मुक्त न कर लेता तो शायद कुछ भी न लिख पाता। यदि कोई आलोचक विभ्रमित है, बददयानत है, पक्ष-पाती और पूर्वग्रही है, लेकिन साथ ही सशक्त शैली का स्वामी है (जैसे कि डॉ० रामविलास शर्मा या नामवर सिंह) तो उसके लिए पाठको को ही नहीं, लेखकों और आलोचको (विशेष कर नयें तथा कच्चे लेखकों और आलोचकों) को उलझा देना मुश्किल नहीं। मै यदि गत पैंतीस-छत्तीस वर्ष से साहित्य का पाठक न होता और मैंने देश-विदेश की उत्कृष्ट कहानियाँ न पढी होतीं तो मैं मान लेता हूँ कि मेरा हश्र भी साधारण पाठक, लेखक या आलोचक से भिन्न न होता। नये कहानीकारों के इस या उस ग्रुप के झंडाबरदार आलोचकों के परस्पर-विरोधी ही नही, कई बार आत्म-विरोधी लेखों को पढ़ कर इस बात का निश्चय तक कर पाना कठिन हो जाता है कि 'अच्छी' 'या नयी' कहानी कैसी होती है अथवा समकालीन कहानियों में कौन-सी अच्छी अथवा नयी है।

कई बार ऐसा भी होता है कि लेखक अपनी सोचने की लीक बना लेता है और यदि कोई रचना उस लीक पर पूरी नहीं उतरती तो उसे वह अच्छी नहीं लगती (लेखक के साथ ही नहीं, कई बार यह बात आलोचक और पाठक के साथ भी होती है) ऐसा लेखक अपनी ही शैली को सर्वोत्कृष्ट समझता है, उसके लिए किसी दूसरे लेखक की रचना को सराह पाना प्रायः कठिन हो जाता है।

सौभाग्य से मेरा सम्बन्ध आज के पुराने और नये कथाकारों से घनिष्ट रहा है और मैंने देखा है कि पत्रिकाओं में चाहे एक कथाकार दूसरे की प्रशंसा कर दे, पर व्यक्तिगत रूप से वह कम ही ऐसा करता है। (उर्दू-लेखको मे मैंने यही देखा, जबकि हिन्दी में प्रायः इसका उलट सही है। हिन्दी-कथाकार मुँह पर भले ही प्रशंसा कर दे, पर लिखित रूप में कभी ऐसा न करता, जब तक कि लेखक अपने गुट का सदस्य न हो।) नये कथाकारो मे ही नही, मैंने पुराने कथाकारो में भी ऐसा होते देखा है। मै ऐसी मनोवृत्ति को कभी नही समझ पाया। किसी लेखक की एक रचना पसन्द न आये, यह बात तो मेरी समझ मे आती है, लेकिन उसकी सभी रचनाएँ 'कूड़ा' लगें या वह लेखक एकदम 'चिर-कुट' लगे (ये दो शब्द मै प्रायः अच्छे कथाकारों के बारे में अच्छे कथाकारो के मुँह से सुनता रहता हूँ) यह बात मेरी समझ मे नही आती। इस मनोवृत्ति का कारण मुझे यही लगता है कि लेखक अपनी शैली तथा सोचने के ढंग को अपने मित्र अथवा विरोधी कथाकार मे पाना चाहता है, और न पा कर असन्तुष्ट हो जाता है। यदि लेखक अपने पक्ष का है (अपनी गोष्ठी अथवा गुट का सदस्य है) तो पत्र-पत्रिकाओ में उसकी सराहना की जाती है, पर अन्तरंग गोष्ठियो मे उसे बराबर खीचा जाता है। विरोधी लेखक के सम्बन्ध में, चूँकि कोई ऐसा संकोच नही होता, इसलिए उसे खुल कर लताड़ा जाता है।—इधर अज्ञेय जो के मैंने दो-तीन लेख अथवा वक्तव्य पढे है। नये कथाकारो में सर्वेश्वर अथवा रघुवीर सहाय के अतिरिक्त उन्हे किसी का नाम ही सुझाई नही देता।....

मै नही जानता, मै क्यों ऐसा नही कर सका। कारण खोजने की मैंने कोशिश भी नही की। लेकिन मुझे सदा पुराने हो या नये, विभिन्न शैलियो मे लिखने वाले, विभिन्न कथाकारो की रचनाएँ पसन्द आती रही है। उर्दू लेखकों में कृष्ण, बेदी, अस्मत, मंटो, अहमद अब्बास, गुलाम अब्बास, मुम्ताज मुफ़्ती, बलवंत सिंह मेरे साथ-साथ लिखते रहे है। याद-मात्र से इन लेखकों की दो-दो, चार-चार ऐसी कहानियाँ गिनवा सकता हूँ, जो मुझे अच्छी लगी है। हालाँकि इन सब की शैली न केवल मेरी लेखन-शैली से भिन्न है, बल्कि एक-दूसरे से भी भिन्न है। हिन्दी में उग्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, यशपाल, कमला चौधरी, विष्णु प्रभाकर मेरे साथ लिखते रहे है और इनमे से हरेक की एक-न-दो ऐसी कहानियाँ है, जो मुझे प्रिय है। नाम किसी कहानी का चाहे भूल जाऊँ लेकिन

उनके कथानक अथवा भाव मेरे स्मृति-पट पर अंकित है। बीच के कथाकारो मे लगभग सभी को मैंने पढा है और धर्मवीर भारती, रेणु, राकेश, यादव, हरिशंकर परसाई, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, जितेन्द्र, ओमप्रकाश श्रीवास्तव, शिवप्रसाद सिंह, केशवप्रसाद मिश्र, कृष्णा सोवती, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियम्वदा, अमरकान्त, शेखर जोशी, ठाकुर प्रसाद सिंह, श्रीमती विजय चौहान, राजकमल चौधरी कम-से-कम १०-१२ ऐसे लेखकों की एक-न-एक ऐसी कहानी मैं गिना सकता हूँ जो मुझे अच्छी लगी और जिस पर मै दो-चार पृष्ठ लिख सकता हूँ फिर कई लेखको के नाम याद नही रहे, पर कहानियो की याद रह गयी है—उनमें क्या भाया, अच्छा लगा, उसकी याद रह गयी है।

जव मै आलोचकों के लेख पढ़ता हूँ और उन्हे इस या उस कथाकार की प्रशंसा और उस या इस की घोर निन्दा करते पाता हूँ तो समझ नही पाता कि मेरी समझ का कुसूर है अथवा आलोचक का। कई वार तो ऐसा होता है कि आलोचक अपने मित्र-कथाकार की कहानी की प्रशंसा में जिन गुणों का वखान करता है, वे विरोधी पक्ष के लेखक की उस कहानी मे ज्यादा होते है, जिसकी वह निन्दा करता है। (नामवर सिंह की आलोचनाओं मे मुझे विशेष कर ऐसा लगा है) और आलोचक मुझे क्षमा करें, इस कारण मन में वडी वितृष्णा होती है और मुझे किसी पश्चिमी लेखक का यह कथन आंशिक रूप से सत्य दिखायी देने लगता है कि लेखक लिखते है और आलोचक (दलालों की तरह) उनके लेखन पर जीते है।

लेखक से इस वात की आशा की जाती है कि वह जिस चीज के बारे में लिखता है, उसे अच्छी तरह जानता हो, क्या आलोचक से ऐसी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए ? आलोचना (प्रसिद्ध आलोचक सी० एस० लेविस के शब्दों मे) सत्य तक पहुँचने की साझी खोज (common pursuit) होनी चाहिए, न कि साझी वाधा अथवा धाँधली।

तव प्रश्न उठता है कि क्या अच्छी या नयी कहानी की कसौटी खोजना गलत है और क्या अच्छी अथवा नयी कहानी-सम्वन्धी चर्चाएँ सर्वथा निरर्थक, अनुपादेय और वेकार है।

वात ऐसी नही। आलोचक यदि यह जानने की कोशिश करें कि जो कहानियाँ पचास-सौ साल के वाद भी जिन्दा रह गयीं या आलोचकों की अवमानना के वावजूद लोकप्रिय हुईं, उनमें क्या अच्छापन और नयापन है, तो शायद वे ठीक कसौटी ढूँढ़ कर दूसरों का मार्ग-दर्शन कर सकें। यह खोज

उपादेय हो सकती है और ठोस परिणामों पर पहुँचा सकती है। सफल, लोकप्रिय कहानियो को कजबहसी (polemics) के बल पर असफल करार देने और असफल कहानियो के नये भाव-बोध, बिम्बो और आयामों का ढिंढोरा पीटने से किसी नतीजे पर नही पहुँचा जा सकता। फिर यदि कोई आलोचक किसी त्रुटिपूर्ण कहानी की निन्दा करे, तो उसे ध्वस्त करने के बदले यदि वह उसे बेहतर बनाने के ऐसे संकेत सुझाये, जो कहानी को बेहतर बनाते हुए लेखक का रास्ता सुगम करें तो कुछ बात भी हो और लेखक आलोचक का आभार भी माने। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जब आलोचक स्वयं चाहे अच्छी कहानी न लिख सके, लेकिन अच्छी कहानी को भलीभाँति समझता हो। नामवर जी ने अपने किसी लेख मे यह लिखा है कि पुरानी और अच्छी ये तो परस्पर-विरोधी शब्द हैं। 'पुरानी कहानी अच्छी हो ही नही सकती।' इसका मतलब यह हुआ कि नयी कहानी अच्छी ही होगी। मेरी समझ में यह बात नहीं आती। पचासों ऐसी कहानियाँ है जो पुरानी है और शायद रहती दुनिया तक 'अच्छी' कहलायेंगी। पचासो ऐसी कहानियाँ लिखी जायँगी जिनकी शैली पुरानी ही होगी, लेकिन वे उन गुणों के कारण, जो कि अच्छी कहानी में होने चाहिएँ, अच्छी कहलायेंगी, चाहे नामवर जी या उनको तरह के दूसरे आलोचक उन्हे 'कूडा' ही समझते रहें। इसी तरह कोड़ियो ऐसी कहानियाँ नयी होने के बावजूद और उनके द्वारा अच्छी घोषित किये जाने के बावजूद असफल रह जायँगी और ऐसी नयी कहानियाँ भी होंगी जिन्हे आलोचको द्वारा मान्यता न मिलेगी, लेकिन वे अच्छी कहलायेंगी। यही नही, पुराने लेखक नयी शैलियो से प्रभावित हो कर नयी और नये लेखक पुरानी शैलियो की कहानियाँ लिखेंगे और दोनो मे कुछ कहानियाँ अच्छी समझी जायँगी। 'नया' शब्द केवल नये लेखक के लिए ही प्रयुक्त हो, ऐसा मै नही मानता। कहानी पिछले तीन सौ वर्षो से लिखी जा रही है और आज भी एक नया लेखक नयी वस्तु को दो सदी पुरानी शैली में लिख कर नयी बात कह सकता है। मेरे खयाल में यदि हम पुराने और नये कहानीकारो की उन कहानियो को एक साथ पढें, जो अच्छी साबित हो चुकी हैं या जिनका नाम प्रायः लिया जाता है या जिनके बारे मे दो मत नही हैं, और उनके गुणों को परखें तो हम अच्छी कहानी की कुछ खूबियों का पता पा सकते है। शर्त सिर्फ यही है कि पाठक या आलोचक अपने पूर्वग्रहों से मुक्त हो कर लेखक की शैली, उसको पृष्ठभूमि, उसकी विचारधारा को ध्यान मे रखते हुए, उसे पढ़ें, तब वे निश्चित रूप से उनमें रस भी पायेंगे और अच्छापन भी।

तब प्रश्न उठता है कि क्या अच्छी कहानी का कोई एक मानदण्ड नही है ? नामवर जी ने फ़रवरी की नयी कहानियाँ में अपने लेख 'अच्छी कहानी' में प्रो० लेविस के कथन को कुछ बदल कर कहा है :

'जो कहानी कुछ भी अच्छी होती है, उसमे अच्छे पाठ की सम्भावना होती है और जो उससे भी अच्छी होती है, वह अच्छे ढंग से पढने के लिए निमन्त्रित करती है, लेकिन जो कहानी बहुत अच्छी होती है, वह अच्छे ढंग से पढ़ने के लिए बाध्य करती है ?' लेकिन प्रश्न उठता है किसे ? अच्छे ढंग से पढने के बारे में नामवर जी उपर्युक्त लेख मे पहले लिख चुके है कि अच्छे ढंग से पढने वाले अपनी प्रिय कहानी को न केवल बार-बार पढते है, उसे पढने के लिए शान्ति और अवकाश की तलाश करते है। मैंने ऐसे पाठक देखे है, जो नितान्त फूहड़ रचनाओ को बार-बार पढ़ते है और शान्ति और अवकाश मे पढते है। इसलिए अच्छी कहानी को इस प्रकार न नापा जा सकता है, न खोजा। किसी पश्चिमी आलोचक ने क्या कहा है, उससे गरज़ नही। मै समझता हूँ कि वह मानदण्ड भी अच्छी कहानियो को एक साथ पढ़ने पर उन गुणों का उल्लेख करके ही पाया जा सकता है, जो उन सब में समान रूप से विद्यमान हों। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैंने यह पाया है कि वस्तु, शिल्प और अभिव्यक्ति—इन तीनों का समावेश जिस भी कहानी मे (वह पुरानी हो या नयी) उत्तम और सफल रूप से हुआ है, वह कहानी अच्छी उतरी है और जहाँ यह नही हो सका, वहाँ असफल रह गयी है, और तमाम शोर-शरावे के बावजूद असफल रह जायगी।

रहा 'नयी' का प्रश्न तो मै इस विषय पर 'नयी कहानियाँ : एक पर्यवेक्षण'—नामक 'लहर-विशेषाक' के अपने लेख मे विस्तार से अपना मत व्यक्त कर चुका हूँ। यदि हम प्रेमचन्द की आदर्शवादी अथवा आदर्शोन्मुख-यथार्थवादी कहानियो को लें और बाद के सभी पुराने उर्दू-हिन्दी लेखकों को भूल कर आज के लेखकों की कहानियों को पढें तो हमें कहानी का रूप ही नही वस्तु और शिल्प भी काफी कुछ बदला दिखायी देगा और हमें कहानी काफी नयी और विकसित दिखायी देगी। उदाहरण के लिए यदि हम प्रेमचन्द की कहानियो को पढने के बाद एकदम राजेन्द्र यादव, रामकुमार, निर्मल वर्मा, नरेश मेहता की कहानियों को लें तो हमें काफी कुछ नया लगेगा—इस नयेपन को झुठलाना वैसे ही गलत है, जैसे यह कहना कि ये नये लेखक एकदम किसी अजाने आकाश से ये तारे तोड़ लाये है अथवा पुराने लेखक कूड़ा लिख रहे है। इस विकासक्रम को जानने के लिए हमें प्रेमचन्दोत्तर उर्दू-हिन्दी लेखकों की कहानियों को भी

पढ़ना होगा और बीच के कथाकारों की कहानियों को भी और तब हमें उन रास्तों, मोड़ों और आयामों का पता चल जायगा, जहाँ से होती हुई हिन्दी-कहानी इस मंजिल पर पहुँची है।

नयी कहानी की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं, लेकिन सब नयी कहानियाँ अच्छी हैं अथवा सभी नये लेखक अच्छी ही कहानियाँ लिखते हैं, यह कहना मुश्किल है। इस निर्णय के लिए हमे इन नयी कहानियों को 'अच्छी' की तुला पर तौलना होगा। और कुछ समय प्रतीक्षा करनी होगी। समय के व्यवधान को पार कर, जो कहानी अपनी नयी वस्तु, नये शिल्प अथवा पुरानी वस्तु को देखने के नये कोण, अभिव्यक्ति के साफल्य, दृष्टि की गहराई और बदलते मूल्यो के प्रतिपादन के कारण जिन्दा रह जायगी, वह 'अच्छी' कहलायेगी। फतवे प्रायः गलत सिद्ध हो सकते हैं, इसलिए मै किसी किस्म का फ़तवा नही दूँगा।

१९६२

कहानी अच्छी और नयी

●

जब सम्पादक 'नयी कहानियाँ' का पत्र मिला कि मार्च के अंक में नामवर जी ने अपने कॉलम 'हाशिये पर' के अन्तर्गत जो लेख 'कहानी अच्छी और नयी' लिखा है, उस पर वे एक परिसम्वाद चला रहे हैं और मैं भी उस संदर्भ मे अपने विचार भेजूं, तो मेरा खयाल था कि नामवर जी ने नयी और अच्छी कहानी के सम्बन्ध मे कोई नयी (मौलिक) और अच्छी बात कही होगी—कोई वैसी बुनियादी बात, जिसे ले कर सोच-विचार के नये मार्ग खुलें और पाठक नयी अथवा अच्छी कहानी के बारे मे अपना निश्चित मत बना सके।

पत्रिका मिलने पर नामवर जी का लेख पढा तो लगा अव्वल तो उसमे उन्होने कोई मौलिक बात नही कही। स्वयं हिन्दी क्या और अंग्रेजी क्या, कहानी का ज्ञान न होने के कारण किसी पश्चिमी आलोचक की पुस्तक पढ़ कर उसके सिद्धान्तो को हिन्दी-कहानी पर लादने का प्रयास किया है, फिर यह लेख उन्होने शिवदानसिंह चौहान के 'लहर' वाले लेख के उत्तर मे लिखा है, क्योकि इसमें दबी हुई झुँझलाहट, खिजलाहट और युक्ति के लिए युक्ति देने का प्रयास ही नही, बल्कि 'तेली रे तेली, तेरे सिर पर कोल्हू' जैसी बातें भी लिखी हैं। पृष्ठ १३७ के पहले कालम के पहले पैरे में नामवर जी ने विरोधी पक्ष पर जो फब्तियाँ कसी हैं, उनका नयी अथवा अच्छी कहानी से कोई सम्बन्ध नहीं। उस पैरे को लिख कर उन्होने अपनी खिजलाहट को भले ही मिटा ली हो, नयी अथवा अच्छी कहानी के पक्ष मे कोई वजनदार दलील नही दी। वे लिखते हैं :

'यह आकस्मिक नही कि पुरानी रुचि के लोग बार-बार 'नयी कहानी' की जगह 'अच्छी कहानी' का सवाल उठाते हैं। यह किसी से छिपा नही कि जीवन में बार-बार 'अच्छे आदमी' की बात कौन चलाते है? आदमी अच्छा होना चाहिए, विचारधारा चाहे जो हो, ऐसे वाक्य के पीछे छिपी हुई भलमनसाहत की तह में कभी-कभी कितने दकियानूस और खतरनाक खयालात पलते है—इसे वहुत खोल कर कहने की जरूरत नही है। क्या अच्छी कहानी की बाँग देने वाले अच्छे आदमियो की भलमनसाहत से भी ऐसे ही खतरे नही हैं।'

मेरा नम्र निवेदन है कि अच्छी कहानी की बाँग देने वाले अच्छे आदमियों की भलमनसाहत से कोई खतरा हो या न हो, लेकिन नामवर जी की इस फतवे-

बाजी, कजबहसी और बे-मतलब की दलीलबाजी से हिन्दी-कहानी, उनके लेखकों और पाठकों को ज़रूर ख़तरा हो सकता है।

नामवर जी ने नयी कहानी के सम्बन्ध में अपने उलझे हुए विचारों को व्यक्त करने के लिए पत्रिका के चौदह कॉलम रँगे हैं। उस उलझाव को दूर करने के लिए कम-से-कम उनसे दुगने कॉलम दरकार हैं। तीन-चार कॉलमों में इस लेख के बारे में मत ही प्रकट किया जा सकता है, मतिभ्रम नहीं दूर किया जा सकता। उस कॉलम को पढ़ कर जो बातें सामने आयी हैं, उन्हें मैं क्रमशः लिखता हूँ :

१. नामवर जी ने पुरानी और नयी कहानी का अन्तर दर्शाने के लिए जिस 'नयी' कहानी को चुना है, वह लगभग चौथाई सदी पुरानी है। उस वक्त यह कहानी 'गुलामी' के नाम से छपी थी, इसके लेखक हैं राजेन्द्रसिंह बेदी। इसकी थीम वही है, जो 'वापसी' की, इसमें वे सभी गुण हैं जो नामवर जी ने 'वापसी' में गिनाये हैं। इसका शिल्प भी वही है, यद्यपि कुछ बेहतर है। बेदी के हिन्दी-कहानी-संग्रह 'दीवाला' की यह पहली कहानी है, जो 'वापसी' लिखी जाने के कुछ ही समय पहले नीलाभ प्रकाशन से छपी है। प्रकट है कि जिन लोगों ने 'गुलामी' नहीं पढी थी, उन्हें 'वापसी' अच्छी लगी, जिन्होंने पढ रखी थी, उन्हें उतनी अच्छी नहीं लगी। पाठक 'गुलामी' को पढ कर 'वापसी' को पढ़ेंगे तो उन्हें मेरे कथन की सच्चाई का पता चल जायगा।

२. नामवर जी को उषा प्रियम्वदा ही की कहानी का हवाला देना था तो उन्हें उक्त लेखिका की कहानी 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' चुननी चाहिए थी, जो अपनी एक-आध त्रुटि के बावजूद नयी भी है और अच्छी भी। बेहतर होता कि नामवर जी राकेश, रेणु, राजेन्द्र यादव, रामकुमार या निर्मल वर्मा की कोई कहानी चुनते, जो वस्तु और शिल्प दोनों के विचार से नये प्रयोग कर रहे हैं।

३. नामवर जी ने नयी कहानी पर इतने लेख लिखे हैं, पर वे आज तक सफाई के साथ यह नहीं बता सके (बतायें भी कैसे, जब वह स्वयं विभ्रम का शिकार हैं) कि नयी कहानी है क्या और उसकी क्या विशेषताएँ हैं ? एक ओर तो वे नये शिल्प, नयी वस्तु और नये भावबोध से आच्छादित, कहें कि आक्रान्त 'छोटे-छोटे ताजमहल' सी नयी कहानी को रगेदते हैं, दूसरी ओर 'वापसी' ऐसी पुरानी कहानी को नयी की संज्ञा दे कर उसके गुण गाते हैं। लगता है नयी कहानी वही है, जिसे नामवर नयी कह दें और अच्छी तो वह होगी ही जो उन्हें अच्छी लगे। उन्होंने निर्गुण की कहानी—'एक शिल्पहीन कहानी—का मज़ाक

कहानी अच्छी और नयी

●

जब सम्पादक 'नयी कहानियाँ' का पत्र मिला कि मार्च के अंक में नामवर जी ने अपने कॉलम 'हाशिये पर' के अन्तर्गत जो लेख 'कहानी अच्छी और नयी' लिखा है, उस पर वे एक परिसम्वाद चला रहे हैं और मै भी उस संदर्भ में अपने विचार भेजूँ, तो मेरा खयाल था कि नामवर जी ने नयी और अच्छी कहानी के सम्बन्ध मे कोई नयी (मौलिक) और अच्छी वात कही होगी—कोई वैसी बुनियादी बात, जिसे ले कर सोच-विचार के नये मार्ग खुलें और पाठक नयी अथवा अच्छी कहानी के बारे मे अपना निश्चित मत बना सके।

पत्रिका मिलने पर नामवर जी का लेख पढ़ा तो लगा अव्वल तो उसमें उन्होंने कोई मौलिक बात नही कही। स्वयं हिन्दी क्या और अंग्रेज़ी क्या, कहानी का ज्ञान न होने के कारण किसी पश्चिमी आलोचक की पुस्तक पढ़ कर उसके सिद्धान्तो को हिन्दी-कहानी पर लादने का प्रयास किया है, फिर यह लेख उन्होंने शिवदानसिंह चौहान के 'लहर' वाले लेख के उत्तर मे लिखा है, क्योकि इसमे दबी हुई झुँझलाहट, खिजलाहट और युक्ति के लिए युक्ति देने का प्रयास ही नही, वल्कि 'तेली रे तेली, तेरे सिर पर कोल्हू' जैसी बातें भी लिखी हैं। पृष्ठ १३७ के पहले कालम के पहले पैरे में नामवर जी ने विरोधी पक्ष पर जो फब्तियाँ कसी हैं, उनका नयी अथवा अच्छी कहानी से कोई सम्बन्ध नही। उस पैरे को लिख कर उन्होने अपनी खिजलाहट को भले ही मिटा ली हो, नयी अथवा अच्छी कहानी के पक्ष मे कोई वजनदार दलील नही दी। वे लिखते हैं :

'यह आकस्मिक नही कि पुरानी रुचि के लोग बार-बार 'नयी कहानी' की जगह 'अच्छी कहानी' का सवाल उठाते हैं। यह किसी से छिपा नही कि जीवन में बार-बार 'अच्छे आदमी' की बात कौन चलाते है ? आदमी अच्छा होना चाहिए, विचारधारा चाहे जो हो, ऐसे वाक्य के पीछे छिपी हुई भलमनसाहत की तह में कभी-कभी कितने दकियानूस और खतरनाक खयालात पलते है—इसे वहुत खोल कर कहने की जरूरत नही है। क्या अच्छी कहानी की बाँग देने वाले अच्छे आदमियो की भलमनसाहत से भी ऐसे ही खतरे नही है।'

मेरा नम्र निवेदन है कि अच्छी कहानी की बाँग देने वाले अच्छे आदमियों की भलमनसाहत से कोई खतरा हो या न हो, लेकिन नामवर जी की इस फ़तवे-

बाज़ी, कजवहसी और बे-मतलब की दलीलबाजी से हिन्दी-कहानी, उनके लेखकों और पाठको को जरूर खतरा हो सकता है।

नामवर जी ने नयी कहानी के सम्बन्ध में अपने उलझे हुए विचारो को व्यक्त करने के लिए पत्रिका के चौदह कॉलम रँगे है। उस उलझाव को दूर करने के लिए कम-से-कम उनसे दुगने कॉलम दरकार है। तीन-चार कॉलमों मे इस लेख के बारे मे मत ही प्रकट किया जा सकता है, मतिभ्रम नही दूर किया जा सकता। उस कॉलम को पढ़ कर जो बातें सामने आयी है, उन्हे मैं क्रमशः लिखता हूँ :

१. नामवर जी ने पुरानी और नयी कहानी का अन्तर दर्शाने के लिए जिस 'नयी' कहानी को चुना है, वह लगभग चौथाई सदी पुरानी है। उस वक्त यह कहानी 'गुलामी' के नाम से छपी थी, इसके लेखक है राजेन्द्रसिंह बेदी। इसकी थीम वही है, जो 'वापसी' की, इसमें वे सभी गुण है जो नामवर जी ने 'वापसी' मे गिनाये है। इसका शिल्प भी वही है, यद्यपि कुछ बेहतर है। बेदी के हिन्दी-कहानी-संग्रह 'दीवाला' की यह पहली कहानी है, जो 'वापसी' लिखी जाने के कुछ ही समय पहले नीलाभ प्रकाशन से छपी है। प्रकट है कि जिन लोगों ने 'गुलामी' नहीं पढी थी, उन्हे 'वापसी' अच्छी लगी, जिन्होने पढ रखी थी, उन्हें उतनी अच्छी नही लगी। पाठक 'गुलामी' को पढ कर 'वापसी' को पढ़ेंगे तो उन्हें मेरे कथन की सच्चाई का पता चल जायगा।

२. नामवर जी को उषा प्रियम्वदा ही की कहानी का हवाला देना था तो उन्हें उक्त लेखिका की कहानी 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' चुननी चाहिए थी, जो अपनी एक-आध त्रुटि के बावजूद नयी भी है और अच्छी भी। बेहतर होता कि नामवर जी राकेश, रेणु, राजेन्द्र यादव, रामकुमार या निर्मल वर्मा की कोई कहानी चुनते, जो वस्तु और शिल्प दोनो के विचार से नये प्रयोग कर रहे है।

३. नामवर जी ने नयी कहानी पर इतने लेख लिखे है, पर वे आज तक सफाई के साथ यह नही बता सके (बतायें भी कैसे, जब वह स्वयं विभ्रम का शिकार है) कि नयी कहानी है क्या और उसकी क्या विशेषताएँ है ? एक ओर तो वे नये शिल्प, नयी वस्तु और नये भावबोध से आच्छादित, कहें कि आक्रान्त 'छोटे-छोटे ताजमहल' सी नयी कहानी को रगेदते है, दूसरी ओर 'वापसी' ऐसी पुरानी कहानी को नयी की संज्ञा दे कर उसके गुण गाते है। लगता है नयी कहानी वही है, जिसे नामवर नयी कह दें और अच्छी तो वह होगी ही जो उन्हें अच्छी लगे। उन्होने निर्गुण की कहानी—'एक शिल्पहीन कहानी—का मजाक

कहानी अच्छी और नयी

●

जब सम्पादक 'नयी कहानियाँ' का पत्र मिला कि मार्च के अंक में नामवर जी ने अपने कॉलम 'हाशिये पर' के अन्तर्गत जो लेख 'कहानी अच्छी और नयी' लिखा है, उस पर वे एक परिसम्वाद चला रहे हैं और मैं भी उस संदर्भ मे अपने विचार भेजूं, तो मेरा खयाल था कि नामवर जी ने नयी और अच्छी कहानी के सम्वन्ध मे कोई नयी (मौलिक) और अच्छी बात कही होगी—कोई वैसी बुनियादी बात, जिसे ले कर सोच-विचार के नये मार्ग खुलें और पाठक नयी अथवा अच्छी कहानी के बारे मे अपना निश्चित मत बना सके ।

पत्रिका मिलने पर नामवर जी का लेख पढ़ा तो लगा अव्वल तो उसमें उन्होने कोई मौलिक बात नही कही । स्वयं हिन्दी क्या और अंग्रेज़ी क्या, कहानी का ज्ञान न होने के कारण किसी पश्चिमी आलोचक की पुस्तक पढ़ कर उसके सिद्धान्तो को हिन्दी-कहानी पर लादने का प्रयास किया है, फिर यह लेख उन्होने शिवदानसिंह चौहान के 'लहर' वाले लेख के उत्तर मे लिखा है, क्योकि इसमें दबी हुई झुँझलाहट, खिजलाहट और युक्ति के लिए युक्ति देने का प्रयास ही नही, बल्कि 'तेली रे तेली, तेरे सिर पर कोल्हू' जैसी बातें भी लिखी हैं । पृष्ठ १३७ के पहले कालम के पहले पैरे में नामवर जी ने विरोधी पक्ष पर जो फब्तियाँ कसी है, उनका नयी अथवा अच्छी कहानी से कोई सम्बन्ध नही । उस पैरे को लिख कर उन्होने अपनी खिजलाहट को भले ही मिटा ली हो, नयी अथवा अच्छी कहानी के पक्ष में कोई वजनदार दलील नही दी । वे लिखते है :

'यह आकस्मिक नही कि पुरानी रुचि के लोग बार-बार 'नयी कहानी' की जगह 'अच्छी कहानी' का सवाल उठाते है । यह किसी से छिपा नही कि जीवन में बार-बार 'अच्छे आदमी' की बात कौन चलाते है ? आदमी अच्छा होना चाहिए, विचारधारा चाहे जो हो, ऐसे वाक्य के पीछे छिपी हुई भलमनसाहत की तह मे कभी-कभी कितने दकियानूस और खतरनाक खयालात पलते है—इसे वहुत खोल कर कहने की जरूरत नही है । क्या अच्छी कहानी की बाँग देने वाले अच्छे आदमियों की भलमनसाहत से भी ऐसे ही खतरे नही है ।'

मेरा नम्र निवेदन है कि अच्छी कहानी की बाँग देने वाले अच्छे आदमियों की भलमनसाहत से कोई खतरा हो या न हो, लेकिन नामवर जी की इस फतवे-

बाजी, कजवहसी और बे-मतलब की दलीलबाजी से हिन्दी-कहानी, उनके लेखको और पाठको को जरूर खतरा हो सकता है ।

नामवर जी ने नयी कहानी के सम्बन्ध मे अपने उलझे हुए विचारो को व्यक्त करने के लिए पत्रिका के चौदह कॉलम रँगे है । उस उलझाव को दूर करने के लिए कम-से-कम उनसे दुगने कॉलम दरकार है । तीन-चार कॉलमो में इस लेख के बारे मे मत ही प्रकट किया जा सकता है, मतिभ्रम नही दूर किया जा सकता । उस कॉलम को पढ़ कर जो बातें सामने आयी है, उन्हे मैं क्रमशः लिखता हूँ :

१. नामवर जी ने पुरानी और नयी कहानी का अन्तर दर्शाने के लिए जिस 'नयी' कहानी को चुना है, वह लगभग चौथाई सदी पुरानी है । उस वक्त यह कहानी 'गुलामी' के नाम से छपी थी, इसके लेखक है राजेन्द्रसिंह बेदी । इसकी थीम वही है, जो 'वापसी' की, इसमे वे सभी गुण है जो नामवर जी ने 'वापसी' में गिनाये है । इसका शिल्प भी वही है, यद्यपि कुछ बेहतर है । बेदी के हिन्दी-कहानी-संग्रह 'दीवाला' की यह पहली कहानी है, जो 'वापसी' लिखी जाने के कुछ ही समय पहले नीलाभ प्रकाशन से छपी है । प्रकट है कि जिन लोगो ने 'गुलामी' नही पढी थी, उन्हे 'वापसी' अच्छी लगी, जिन्होने पढ रखी थी, उन्हें उतनी अच्छी नही लगी । पाठक 'गुलामी' को पढ कर 'वापसी' को पढेंगे तो उन्हे मेरे कथन की सच्चाई का पता चल जायगा ।

२. नामवर जी को उषा प्रियम्वदा ही की कहानी का हवाला देना था तो उन्हें उक्त लेखिका की कहानी 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' चुननी चाहिए थी, जो अपनी एक-आध त्रुटि के बावजूद नयी भी है और अच्छी भी । बेहतर होता कि नामवर जी राकेश, रेणु, राजेन्द्र यादव, रामकुमार या निर्मल वर्मा की कोई कहानी चुनते, जो वस्तु और शिल्प दोनो के विचार से नये प्रयोग कर रहे हैं ।

३. नामवर जी ने नयी कहानी पर इतने लेख लिखे है, पर वे आज तक सफाई के साथ यह नही बता सके (बतायें भी कैसे, जब वह स्वयं विभ्रम का शिकार है) कि नयी कहानी है क्या और उसकी क्या विशेषताएँ है ? एक ओर तो वे नये शिल्प, नयी वस्तु और नये भावबोध से आच्छादित, कहें कि आक्रान्त 'छोटे-छोटे ताजमहल' सी नयी कहानी को रगेदते है, दूसरी ओर 'वापसी' ऐसी पुरानी कहानी को नयी की संज्ञा दे कर उसके गुण गाते हैं । लगता है नयी कहानी वही है, जिसे नामवर नयी कह दें और अच्छी तो वह होगी ही जो उन्हें अच्छी लगे । उन्होंने निर्गुण की कहानी—'एक शिल्पहीन कहानी—का मज़ाक

उड़ाया है, इस बात को ले कर कि उसमें भावुकता का अतिरेक है, पाठकों की आँखो में आँसू आयें, इसकी पर्याप्त सामग्री कथाकार ने उपर्युक्त कहानी मे भर दी है और नामवर जी के अनुसार, जो पाठक निर्गुण की कहानी को पढ़ कर रो देते है, वे मूर्ख है। मै केवल उनसे पूछना चाहता हूँ कि उन्ही पाठको ने 'वापसी को 'नयी कहानियाँ' की १९६० की सर्वप्रथम कहानी करार नहीं दिया, इसका क्या सबूत है ?

४. निर्गुण की कहानी में भावुकता हो सकती है, पर वह 'वापसी' से कम व्यापक है, मै यह नही मानता। निर्गुण की कहानी का नायक जितना भोला है उससे कम भोले 'गुलामी' के पोस्टमास्टर और 'वापसी' के स्टेशन-मास्टर नही है। जिस दलील से नामवर जी निर्गुण के नायक को रगेदते है, बिल्कुल उसी दलील से 'वापसी' या 'गुलामी' के नायक को रगेदा जा सकता है। 'वापसी' या 'गुलामी' केवल व्यापकता के गुण के कारण बेहतर नही है, दूसरे गुणों के कारण बेहतर है। केवल व्यापकता का गुण किसी कहानी को अच्छी नही बना पाता। वस्तु, शिल्प और अभिव्यक्ति—जहाँ ये तीनों अच्छे है, वही कहानी अच्छी उतरती है।

५. आलोचना की इस पद्धति को देखते हुए मुझे शिवदानसिंह चौहान और नामवर मे कोई अंतर नही दिखायी देता। दोनों कन्फ़्यूज्ड (विभ्रमित) है, दोनों अहम् से आक्रान्त है, दोनो फ़तवे देते है और चाहते है कि उनके गलत फ़तवे और उलझे विचार लेखक और पाठक नतमस्तक हो कृतज्ञतापूर्वक शिरोधार्य करें। मै इन दोनो 'महान्' आलोचको से निवेदन करूँगा कि वे कुछ देर नयी और पुरानी कहानियों को ध्यान से पढें (यदि सम्भव है तो एक साथ बैठ कर पढें) दोनों की विशेषताएँ जानें, उनका अंतर और समानताएँ समझें, जानें कि कहाँ नयी कहानियाँ 'नयी' हो कर भी परम्परा से जुडी है। पहले अपने दिमाग के जाले उतार लें, फिर लेखको और पाठको का पथ प्रशस्त करने की सोचें।

६. नामवर जी ने चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के इस कथन पर व्यंग्य किया है। कि 'टेकनिक की दृष्टि से कहानी नामक यह साहित्यिक माध्यम क्रमशः इतना नपा-तुला और एग्ज़ैक्ट बन गया है कि अच्छी कहानी लिखना एक अत्यन्त कठिन कार्य बन गया है।' दूसरे ही वाक्य में उन्होने श्री शिवदानसिंह चौहान पर व्यंग्य किया है, जिन्हें चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी 'जिन्दगी की कीमत' अपने आप मे मुकम्मल कहानी लगती है। नामवर लिखते है :

'अब कौन पूछे कि यह 'अपने आप मे मुकम्मल कहानी' क्या चीज होती

है ?' लेकिन ऐसा लगता है कि जिनके लिए कोई कहानी 'अपने आप मे मुकम्मल' हो सकती हैं, उनकी आलोचना भी अपने आप में मुकम्मिल रहती है—किसी भी प्रश्न के लिए एकदम वन्द !

इस वात के अलावा कि नामवर जी की यह फब्तीवाज़ी आलोचना नही और न यह चन्द्रगुप्त जी अथवा शिवदान की बात का उत्तर ही है, मै यह कहना चाहता हूँ कि चन्द्रगुप्त जी का यह कथन गलत नही (चाहे आशिक रूप ही से हो, पर है सच्चा) कि अच्छी कहानी लिखना अत्यन्त कठिन है-और 'अपने आप में मुकम्मिल कहानी' भी होती है और संसार की कुछ सर्वश्रेष्ठ नयी और पुरानी कहानियाँ 'अपने आप मे मुकम्मिल' ही हैं। बल्कि आज भी जो कहानियाँ उत्कृष्ट कहलाती है, वे अपने आप मे मुकम्मिल होती है। अब नामवर जी को इसकी समझ नही तो इसमें किसका दोष है। इधर हाल ही मे कवि डिलन टॉमस की दो कहानियाँ छपी हैं। टॉमस कवि है, नया कवि है, उसकी कविता का गुण उनमें भी है। लेकिन कहानियाँ है अपने आप मे मुकम्मिल। नामवर जी ने उन्हें पढ़ा हो तो वतायें कि वे कैसे मुकम्मिल नही है ?

७. नामवर जी ने लिखा है कि कहानी पुरानी हो और अच्छी हो यह दो वातें परस्पर विरोधी है। यदि यह ठीक है तो प्रेमचन्द से ले कर मंटो तक (मॉपासाँ, ओ' हेनरी, मॉम आदि की बात न भी करें तो) सभी पुराने पैटर्न पर लिखने वालो की कहानियाँ घटिया हुई। और यदि 'नयी' होना ही कहानी को 'अच्छी' वना देता है तो फिर 'छोटे-छोटे ताजमहल' कैसे अच्छी नही ? अपने एक पिछले लेख मे उन्होने उसकी वड़ी गत बनायी है। इसे कहते है चित भी मेरी पट भी मेरी।

८. नामवर जी की मान्यताओ के पीछे चलें तो भी सिद्ध हो जाता है कि केवल नया शिल्प अथवा वस्तु कहानी को 'अच्छी' नही बना देता। तब यह कैसे गलत है कि पुराने शिल्प में भी अच्छी कहानी हो सकती है।

९ नामवर जी ने लिखा है : 'दर असल कहानी की एक ऐसी लीक बन चुकी है कि किसी के लिए भी अपने आप में मुकम्मिल और साधारणतया अच्छी कहानी लिखना आसान हो गया है।' मेरा नम्र निवेदन है कि श्री शिवदानसिंह चौहान भी कभी ऐसा ही समझते थे। वाकायदा उन्होने कहानी और एकांकी के क्षेत्र में तीर मारे। लीक तो नामवर जी के सामने है, ज़रा कोशिश कर देखें कि मुकम्मिल और साधारणतया अच्छी कहानी वनती है ?

१०. नामवर जी ने लेख के अन्त में यह लिखा है :

'जो इस एक रसता से बाहर निकल कर सचमुच कुछ नया लिखना और पढना चाहते हैं, उनकी समस्याएँ और हैं प्रश्न और हैं। वे प्राप्त परम्परा में शिल्प या सामग्री सम्बन्धी कुछ इजाफ़ा कर के ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते, बल्कि सर्वथा अज्ञात क्षेत्र में प्रवेश करने का जोखिम उठाने के लिए तैयार रहते हैं।....वह क्षेत्र जिसमें रिल्के के अनुसार अभी तक किसी शब्द ने भी कदम न रखा हो। यह पहले क्षेत्र वाली बात ही किसी कलाकृति को वह ताजगी प्रदान करती है, जिसके कारण वह वर्षों बाद भी आज की बनी हुई मालूम होती है।'

इस संदर्भ मे निवेदन है कि 'ओ' हेनरी', जिसे आज उसकी मृत्यु के पचास वर्ष बाद जीनियस मान लिया गया और जिसकी बेहतरीन कहानियाँ एग्जैक्ट भी हैं और 'अपने में मुकम्मल' भी, नामवर जी के इस पहले-पहल के सिद्धान्त पर कैसे पूरा उतरता है। क्योंकि शिल्प-शैली तो उसने प्रकट ही मॉपासाँ से ली, केवल उसमें अनुभूतियाँ दीं, नज़र भी अपनी और किंचित हास्य का ऐसा पुट भी जो, मॉपासाँ के यहाँ उतना नही था।....फिर ऐन उस वक़्त, जब उर्दू-कहानी में आज ही की तरह नयेपन का शोर बुलन्द था, इसी ओ' हेनरी की परम्परा मे लिखने वाले समर सेट मॉम से शिल्प और शैली उधार ले कर मंटो ने कहानियाँ लिखी और उस गहरी मानवीयता से, जो उसकी अपनी थी (और मॉम के पास नही थी) वह उर्दू-कथाकारों की प्रथम पंक्ति मे आ गया।

देने को मैं दसियों दृष्टान्त देता चला जा सकता हूँ, पर उससे कोई लाभ नहीं, क्योंकि नामवर जी ने रिल्के की कविताएँ चाहे जितनी पढी हों, कथाकारो की कहानियाँ बहुत कम पढी हैं। मैं जिनके नाम गिनाऊँगा, उन्हें नामवर जी ने पढ़ा भी नही होगा। लेकिन एक बात जो मै जोर दे कर कहना चाहता हूँ, वह यह है कि 'पहले-पहल ज़मीन तोड़ने वाले' जरूरी नही कि अच्छा ही लिखें और ख्यात हों। प्रायः प्रख्यात साहित्यकारो ने नयी ज़मीन नही तोडी, वरन् अपने इर्द-गिर्द होने वाले प्रयोगो को आत्मसात कर, उस प्रतिभा से, जो केवल उन्ही के पास थी, उन प्रयोगो में वे अनुभूतियाँ और विचार भरे, जो उनके अपने थे.... उनके अध्ययन, मनन अथवा अनुभूति का परिणाम थे और यों वे संसार मे प्रख्यात हुए। शेक्सपियर ने कोई नयी जमीन नही तोड़ी, उसकी जीवनी पढ़िए और उसके ज़माने में लिखे जाने वाले नाटको को पढिए तो मालूम होगा कि उस शैली और शिल्प में, जो उसके जमाने मे प्रचलित हो चुका था, उसने अपने सभी नाटक लिखे, पर प्रकट ही शेक्सपियर के पास जो प्रतिभा थी, वह पहल करने वाले उसके समकालीनों के पास नही थी इसलिए शेक्सपियर आज जगत-

प्रसिद्ध है और उन पहले-पहल वालो को कोई भी नही जानता। और जो बात शेक्सपियर के संदर्भ मे ठीक है, वही एवसर्ड नाटककार ईओनेस्को के सिलसिले में भी सही है। और भी निकट देखें तो हिन्दी नये काव्य में पहले प्रयोग प्रभाकर माचवे और शमशेर ने किये, लेकिन अज्ञेय उन्हे आत्मसात कर और नामवर के शब्द उधार लूँ तो कहूँ कि उनमें 'कुछ इजाफ़ा' कर इन पहल करने वालों को पीछे छोड़ गये। महान साहित्य पहले-पहल जमीन तोड़ने वाले नही सृजते, कुछ दिन शोर चाहे मचा लें। महान साहित्य के लिए जीवन का गहरा अनुभव, समन्वय की अतुल प्रतिभा, सृजन की दुर्दमनीय आकांक्षा, कला और शिल्प पर अद्भुत अधिकार, मन की बात को पाठको तक पहुँचाने की अपूर्व क्षमता, घोर निष्ठा और श्रम दरकार होता है। नामवर जी से मै पूछना चाहता हूँ कि इस एकरसता से बाहर निकल कर उनके मित्र-कथाकारों में, जो उनके कथानानुसार सचमुच कुछ नया लिखना चाहते हैं, कितने है जो सचमुच अच्छा ही लिख रहे हैं, अथवा जिन्हें उनके सिवा दूसरे भी अच्छा लिखने वाले मानते है ?

११. नयी कहानी नयी कविता की तरह 'नयी' हो सकती है, लेकिन जिस तरह हर नयी कविता अच्छी नही हो सकती, उसी तरह हर नयी कहानी भी अच्छी नहीं हो सकती। 'अच्छेपन' के लिए हमको केवल 'नयेपन पर ही ध्यान नहीं देना होगा, वल्कि उन गुणो का विश्लेषण करना होगा जो कहानी को (चाहे वह पुराने शिल्प की हो या नये की) वास्तव मे 'अच्छा' बताते है।

१२. जैसे अच्छी पुरानी कहानी लिखने के लिए सूझ-बूझ, अनुभूति, श्रम, शिल्प दृष्टि तथा अभिव्यक्ति दरकार थी, उसी तरह अच्छी नयी कहानी के लिए भी इन सब की ज़रूरत है। अच्छी नयी कहानो भी उतनी ही एग्ज़ैक्टिंग है जितनी पुरानी अच्छी कहानी। वस्तु, रूपाकार और एप्रोच, नयी को पुरानी से अलग करते है और अभिव्यक्ति, अनुभूति, सूझ-बूझ, वारीकवीनी (सूक्ष्मदृष्टि) के विना नयी हो या पुरानी, कहानी अच्छी नही हो सकती। दूसरे लेखको की वात छोड़ दें, यदि नामवर जी बेदी की 'गुलामी' और 'भोला' (पुराने ढंग की कहानियाँ) तथा 'दस मिनट बारिश में,' 'लारवे' और उनकी नयी कहानी 'हज्जाम-इलाहाबाद के' (जो हर लिहाज से नयी है) ध्यान से पढ़ें तो उन्हे पुरानी और नयी कहानियो के अंतर का कुछ-कुछ पता चल जायगा—याने अपने को सर्वज्ञ समझने का भ्रम तथा कठहुज्जती छोड़ कर यदि वे सचमुच इसका पता पाना चाहें तो !

१९६२

सच्चे निर्णय के सहयोगी प्रयास में

•

मई अंक के परिसम्वाद में प्रकाशचन्द्र जी गुप्त ने आशंका प्रकट की है कि क्या 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' की तरह 'नयी आलोचना' का भी सूत्रपात हो रहा है ? उनकी आशंका शायद निराधार नहीं। जिस प्रकार नया कवि तथा कथाकार पश्चिम की नयी शैलियों से प्रभावित होता है, उसी प्रकार यदि आलोचक भी बाहर की नयी आलोचना-पद्धति से प्रभावित हो कर हिन्दी-आलोचना को कुछ 'नया' देने का प्रयास करता है तो शायद बुरा नहीं करता। बुरा वह शायद तब करता है (यदि इसे बुरा माना जाय) जब वह किसी विदेशी लेखक की आलोचना-पद्धति अपना लेता है, पर उसका नाम तक लेना उचित नही समझता। प्रसिद्ध अंग्रेज़ी आलोचक लीवेस (सी० एस० लीवेस) ने दस वर्ष पहले एक पुस्तक लिखी थी 'साझी खोज' अथवा 'सहयोगी प्रयास' (common pursuit)। इधर वह पुस्तक सस्ते संस्करण में उपलब्ध हो गयी है। अपनी भूमिका मे उन्होंने माना है कि यह शीर्षक उन्होंने टी० एस० इलियट के निबन्ध से लिया है और पूरे-का-पूरा पैरा उद्धृत कर दिया है, जहाँ कि वे शब्द आते हैं :

'...और यहीं हमारे ख़याल में मौन रूप से सहयोगी श्रम के लिए स्थान था। आलोचक को, यदि उसे अपने अस्तित्व का महत्व जताना है तो सच्चे निर्णय पर पहुँचने के सहयोगी प्रयास में अपने पूर्वग्रहों और सनकों से (जिनके शिकार हम सभी हैं) मुक्त होना होगा और अपने अधिकाधिक सहयोगियों से अपने मतभेदों को मिटाने का प्रयास करना होगा...।'

'सच्चे निर्णय के सहयोगी प्रयास में,' शीर्षक नामवर जी ने इसी पैरे से लिया है। मैंने 'आज कल' के अपने लेख 'नयी कहानी और अच्छी कहानी' में लेविस का जिक्र करते हुए इसे 'सत्य तक पहुँचने की साझी खोज' का नाम दिया था, लेकिन नामवर ने इस संदर्भ में लेविस अथवा इलियट का नाम लेना जरूरी नही समझा)। लेकिन इलियट ने जो इस बात पर ज़ोर दिया कि आलोचक अपने पूर्वग्रहों और सनकों को छोड़ कर अपने अधिकाधिक सहयोगियों से अपने मतभेद मिटाने का प्रयास करें, उसे अपनाना नामवर जी ने आवश्यक नही समझा।

मैंने इधर नामवर जी के लेख बराबर पढे हैं। लेविस की आलोचना-पद्धति का प्रभाव उनके इधर के लेखों पर सुस्पष्ट है। शेक्सपियर की प्रसिद्ध ट्रैजिडी के सम्बन्ध में लेविस का निबन्ध 'भावुकता-प्रेमियों का ओथेलो' पढिए और 'धरती अब भी घूम रही है' पर अप्रैल में छपा नामवर जी का कॉलम और आपको नामवर जी की आलोचना-पद्धति की 'मौलिकता' के स्रोतों का पता चल जायगा।

लेकिन जैसा मैंने कहा—मै इसे कुछ वैसा बुरा नही मानता। दृष्टि हमे कही से भी मिले, किसी माध्यम से भी, हमारे लिए वह ग्राह्य होनी चाहिए। नामवरजी ने गलती केवल यह की है कि लेविस की आलोचना-पद्धति को उन्होंने पचाया नही और जल्दी के कारण उसे उन कहानियों पर लागू कर दिया है, जिन पर वह पूर्णतः लागू नहीं होती।

जहाँ तक विष्णु प्रभाकर की कहानी 'धरती अब भी घूम रही है' का सम्बन्ध है, नामवर जी ने जिस दलीलबाज़ी से उसे एकदम भावुकतापूर्ण (और यो निकृष्ट) करार दे दिया है, उस पद्धति से किसी भी अच्छी-से-अच्छी कहानी को घटिया साबित किया जा सकता है। परिसम्वाद मे देवीशंकर अवस्थी ने उसी पद्धति को प्रेमचन्द की कहानी पर लागू करके दिखा ही दिया है। इस पोलेमिक्स (कठहुज्जती) से रचनाओ में भावुकता ही नही ढूँढी जा सकती, वरन् दूसरे बीसियो दुर्गुण दिखा कर उन्हें उनकी ऊँचाई से गिराया जा सकता है। नामवर जी कोई अच्छी-से-अच्छी कहानी मुझे दें और इसी कजबहसी के बल पर मैं उसके परखचे उड़ा देता हूँ।

यह लिखने के बावजूद कि 'कहानी (धरती अब भी घूम रही है) है भी झकझोर देने वाली,' नामवर जी ने यह सिद्ध किया है कि उसका वास्तव मे कोई प्रभाव नही पड़ता। 'मन की सतह पर एक लहर उठी और विलीन हो गयी' ऐसी स्थिति होती है। नामवर जी के सारे लेख का उद्देश्य यह है कि जिन लोगो ने उसे पसन्द किया, जिनके मन पर उस कहानी मे वर्णित कटु सत्य का आभास हुआ, वे मानो 'अच्छी कहानी क्या है,' यह समझते ही नही या अतिशय भावुक हैं और विष्णु प्रभाकर ने उनकी मूर्खता का लाभ उठाने के लिए भावुकतापूर्ण कहानी के सभी प्रसाधनो को जुटा कर उन्हें मूर्ख बनाया है। प्रकट ही नामवर जी पर इस कहानी का कोई प्रभाव नही पड़ा। यदि यह बात सच है तो उन्होने शुरू में कैसे लिखा कि कहानी है भी झकझोरने वाली। शायद वे यह कहना चाहते हैं कि कहानी तो झकझोरने वाली है, लेकिन साधारण

पाठकों को, उन जैसे बौद्धिकों को नहीं।

नामवर जी पर अच्छी कहानी का, मन को हिला देने वाली कहानी का कोई प्रभाव न पडे, यह ठीक ही है, क्योंकि वे आलोचक हैं। आलोचक की स्थिति (विशेषकर उन जैसे आलोचक की) किसी डॉक्टर जैसी होती है। दिन रात खून बहते, चीड-फाड करते, लोगों की असह्य पीड़ा से कराहते हुए देख कर डॉक्टर इतना कैलस और कठकरेज हो जाता है कि जिस पीड़ा को देख कर साधारण व्यक्ति का मन द्रवित हो उठता है, डॉक्टर पर उसका कोई प्रभाव नही पडता। उस वक्त जब किसी के बहते अथवा सड़ते घावो को देख कर साधारण दर्शक की भूख-प्यास मर जाती है, डॉक्टर निर्विकार रूप से खा-पी सकता है, डॉक्टर की दृष्टि से यदि हम रोगी की पीड़ा से पीड़ित लोगो को देखेंगे तो हमें, वे सब के सब मूर्ख और भावुक दिखायी देंगे।

विष्णु प्रभाकर ने दसियों कहानियाँ लिखी हैं। उनकी किसी एक कहानी को ऐसी प्रसिद्धि नही मिली। क्यो ? यदि नामवर जी ने इस प्रश्न को सामने रख कर इस 'क्यों ?' का उत्तर खोजने का प्रयास किया होता तो उनके सामने दूसरे ही तथ्य आये होते और तब शायद वे कहानी को समझ भी सकते और पसन्द भी कर पाते।

विष्णु प्रभाकर ने अच्छे कथाकार की तरह कहानी को सब तरह से सम्भाव्य बनाने की कोशिश की है, जो बात कि सर्वथा श्लाघ्य है। दस साल की बच्ची न्यायमूर्ति से वह बात कह सके, इसका खयाल रखा है और अच्छी कहानी से शिल्प-सौष्ठव के अलावा सम्भावता से ज्यादा की माँग नहीं की जा सकती कहानी के अन्तिम प्रभाव को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कथाकार ने जो युक्तियाँ जुटायी है, वे न जुटायी गयी होती तो कहानी कच्ची और अविश्वसनीय रह जाती और उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ता।—यों छोटे बच्चो के मन में उस विचार का आना ही वर्तमान व्यवस्था पर गहरा व्यंग्य है। विष्णु प्रभाकर ने उस विचार को वाणी दे कर (कला के पूरे प्रसाधनों को काम में लाते हुए) अपनी बात पूरे जोर से कही है।

और कहानी का अन्तिम वाक्य उस व्यंग्य को और भी गहरा बना देता है कि—धरती अब भी घूम रही है ! मैं नहीं समझता कि नामवर जी लेखक से और किस बात की आशा करते है ? क्या वह उन बच्चो के हाथो मे झंडा पकडा देता और वे दुनिया को बदलने का प्रण कर लेते। स्थिति के

व्यंग्य पर लेखक ने अपनी ओर से एक पंक्ति जोड कर उसे और भी तीखा कर दिया है ।
मैंने नामवर जी का मार्च अंक का कॉलम पढ़ा था तो मेरा खयाल था कि वे शायद अच्छी कहानी की ओर हमें ले जा रहे हैं । मई अंक में परिसम्वाद के उत्तर में उन्होने जो लिखा है, उससे मालूम हुआ कि वे 'नयी कहानी' के विरुद्ध 'अच्छी कहानी' के नारे का खण्डन करना चाहते है और हम जैसे 'नासमझ' पाठको को दिखाना चाहते है कि पुराने लेखकों की जिन कहानियों को हम 'अच्छी' समझते आये हैं, वे कितनी बुरी हैं ।

ऐसी सूरत में नामवर जी ने अपनी समझ के अनुसार यह ठीक ही किया कि अच्छी समझी जाने वाली कहानी की धज्जियाँ (अपने जाने) उडायी और एक 'नयी कहानी' को 'अच्छी' साबित करने का (अपने जाने) भरसक प्रयास किया ।

'धरती अब भी घूम रही है' नामवर जी की आलोचना के बावजूद 'अच्छी' रहेगी और 'वापसी' उनकी तमाम वकालत के बावजूद पुरानी रहेगी, न नयी ही हो पायेगी और न बहुत अच्छी ।

०

अच्छी कहानी के विरुद्ध नयी कहानी की बडाई दर्शाने के लिए नामवर जी को राकेश, राजेन्द्र यादव, अमरकान्त, विजय चौहान आदि की उन कहानियों को लेना चाहिए था, जो वस्तु तथा शिल्प दोनो के लिहाज़ से नयी है । पर चुनी उन्होंने ऐसी कहानी, जो थीम और शिल्प दोनो के लिहाज से पच्चीस वर्ष पुरानी है । अपनी आलोचक-बुद्धि से काम ले कर नामवर जी ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वह 'गुलामी' से भिन्न है । मैंने (और मेरे साथ कुछ नये लेखको ने) दोनों कहानियो को पढा और हमारा निश्चित मत है कि 'वापसी' मे 'गुलामी' की अपेक्षा विशेष नयापन नही । 'गुलामी' के नायक का अकेलापन अथवा मजबूरी 'वापसी' के नायक से भिन्न नही । आप 'गुलामी' के बदले उस कहानी का शीर्षक 'मजबूरी' या 'बेबसी' कर दीजिए । वह शीर्षक एकदम फिट बैठ जायगा । शिवप्रसाद सिंह ने 'वापसी' पर जो आपत्तियाँ की है, उन्हें नामवर जी ने व्यंग्य से उड़ाने का प्रयास किया हैं, पर व्यंग्य से वे आपत्तियाँ उडायी नही जा सकती । जितना श्रम विष्णु प्रभाकर ने अपनी कहानी को सम्भाव्य बनाने के लिए किया हैं, यदि उतना श्रम उषा प्रियम्वदा ने 'वापसी' पर किया

होता तो वह कहानी 'नयी' चाहे न बनती पर 'अच्छी' जरूर बन जाती। मेरी इस मांग पर कि नामवर जी बतायें—नयी कहानी क्या है और उसकी विशेषताएँ क्या हैं ?' नामवर जी ने व्यंग्य किया है कि कम-से-कम एक लेखक ने ऐसे व्यंग्योचित सवाल की उम्मीद नहीं थी। नयी कहानी क्या है और पुरानी कौन-सी है, मैं इसे खूब समझता हूँ। मैं वेदी की कहानी 'गुनाही' को पुरानी और 'नारंगे' तथा 'इज्जात इलाहाबाद के' को नयी मानता हूँ। राजेन्द्र यादव की कहानी 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' मेरे निकट पुरानी (शिल्प के नाते) और 'अभिमन्यु की आत्महत्या' नयी है। राजेन्द्र यादव की 'लंचटाइम' पुरानी और अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' नयी है। मार्कण्डेय की कहानी 'गुलरा के बाबा' पुरानी और 'माही' नयी है। कमलेश्वर की 'मनवे का मालिक' पुरानी और 'मिस पाल' नयी है।

ये कहानियाँ अच्छी हैं कि नहीं, इस बात का निर्णय करने के लिए हमें 'अच्छी' कहानी के गुणों का विवेचन करना होगा। और इस लिहाज से 'दोपहर का भोजन' नयी भी है और अच्छी भी।

जब नामवर जी कहते हैं 'पुरानी कहानी अच्छी हो ही नहीं सकती,' तब उन्हें 'नयी' और पुरानी कहानी की विशेषताएँ बतानी ही होंगी। यह मांग इसलिए बचकानी नहीं है कि 'वापसी' जैसी, वस्तु और शिल्प—हर लिहाज से पच्चीस वर्ष पुरानी कहानी को नयी कह कर वे हमारे सिर मढ़ रहे हैं। उनसे मैंने विशेषताएँ चाही हैं, फतवे नहीं। फ़तवे और व्याख्या में अंतर है (वे शायद उन्हें एक ही चीज समझते हैं) इस बहस को उपयोगी बनाने, पाठकों तथा लेखकों का पथ-निर्देश करने और अपने निश्चय के अनुसार नयी कहानी के विरुद्ध 'अच्छी कहानी' के नारे का खण्डन करने के लिए उन्हें सफाई से बताना होगा :

१. वे पिछले दशक में लिखी गयी किन चन्द कहानियों को 'नयी' समझते हैं और किन्हें पुरानी ?

२. उन द्वारा घोषित नयी कहानियाँ पुरानी कहानियों से कैसे बेहतर हैं ?

उन्होंने दो पुरानी कहानियों को ले कर एक को घटिया और एक को बढ़िया (अपने जाने) सिद्ध कर दिया। पर अच्छी कहानी का नारा अपनी जगह बदस्तूर कायम है।

मैं नामवर जी की इस बात से सहमत हूँ कि नवीनता की खोज हरिशंकर परसाई की तरह करनी चाहिए। जैसे परसाई ने राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी

की (एक ही शीर्षक की कहानियों) 'एक कमजोर लडकी की कहानी' को ले कर उनके गुण-दोष गिनवाये है, वैसे ही नामवर जी को भी नयी और पुरानी कहानियों के नये और अच्छेपन की विवेचना करनी चाहिए। हवा मे बात करने से, अस्पष्ट बात कहने से अपने विभ्रम को पाठको और लेखको पर लादने से किसी निष्कर्ष पर नही पहुँचा जा सकता। यदि हमे नामवर जी के परामर्शानुसार कहानियो मे आशिक नया तथ्य ही खोजना है तो यह नया तथ्य जैसा कि मैने लहर के विशेषांक वाले अपने लेख में सविस्तार बताया है, प्रेमचन्द के समय से लगातार हिन्दी कहानी मे आ रहा है। देखने वाली आँख को तब से ले कर आज तक इन नये तथ्यो की अटूट शृंखला हिन्दी-कहानी में दिखायी देगी। इसीलिए मै चाहता हूँ कि वे अपने मत के अनुसार नयी कहानी की व्याख्या करें, स्पष्ट रूप से उदाहरण दें। वरना नयी कहानी का नारा एकदम वेबुनियाद और अच्छी कहानी का नारा अपनी जगह कायम रहेगा।

०

नामवर जी ने प्रकाशचन्द्र गुप्त की टिप्पणी को समझौतावादी कहा है। लेकिन ऐसा भी डॉक्टर हो सकता है जो रोज़-रोज़ की चीड-फाड़ और काट-छाँट के बावजूद मानवीय ह्यूमन रह जाय और मरीज़ के दुःख-दर्द से द्रवित भी हो सके।

यह बात नामवर जी ने ठीक लिखी है कि किसी एक कहानी में ठोस ढंग से नवीनता को रेखांकित करना चाहिए। दुर्भाग्य से जिस पद्धति से उन्होंने यह किया है, उस पद्धति से हर कहानी को किसी-न-किसी दूसरी कहानी के संदर्भ मे नवीन साबित किया जा सकता है। लेविस या किसी दूसरे पश्चिमी आलोचक से नामवर जी पद्धति लें, देखने—परखने की दृष्टि लें, इसमे किसी को आपत्ति नही हो सकती। आपत्ति तभी होगी जब उस पद्धति का प्रयोग वे गलत ढग से करेंगे। अकबर ने इसी प्रयास को लक्ष्य करके कहा था :

बढ़ायी शेख ने दाढ़ी अगरचे सन की-सी,
मगर वो बात कहाँ मालवी मदन की-सी।

१९६२

●

कहानी : अच्छी, उत्कृष्ट
(सहयोगी प्रयास में कुछ और)

●

नामवर जी के लेख—'सच्चे निर्णय के सहयोगी प्रयास में'—के उत्तर में जब मैंने उसी शीर्षक से 'नयी कहानियाँ' में लेख लिखा तो नामवर जी ने 'सहयोगी प्रयास में कुछ और—' शीर्षक से मेरे लेख को केवल एक बात को थाम कर लम्बा लेख धर घसीटा। वह लेख यदि 'नयी कहानियाँ' में छपा तो मेरी नजर से नहीं गुजरा। लेकिन उनकी पुस्तक 'कहानी : नयी कहानी' में छपा है और उसी में मैंने देखा है।

उसे पढ कर मुझे लगा है कि उन्होंने उसका शीर्षक गलत दिया है। 'सहयोगी प्रयास' की बजाय उन्हें 'विरोधी प्रयास' लिखना चाहिए था। नामवर जी सचमुच वैसा सहयोगी प्रयास कर सकते है—अपने विरोधियो के साथ मिल कर—जिसकी ओर इलियट ने संकेत किया था और जिसका हवाला प्रोफेसर लेविस ने अपनी पुस्तक 'साझी खोज' में दिया—मुझे इसमें सन्देह है। यदि वे ऐसा कर सकते तो मेरे लेख के मर्म को समझते और महज एक सीधे-सादे रिमार्क को ले कर अपनी पुस्तक के सात-आठ पृष्ठ न रँग देते।

मैंने अपने लेख—कहानी अच्छी और नयी—दूसरे पैरे में लिखा था : 'नामवर जी को उषा प्रियम्वदा ही की कहानी का उल्लेख करना था, तो उन्हें उक्त लेखिका की कहानी 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' चुननी चाहिए थी, जो नयी भी है (वापसी के मुकाबले में) और अच्छी भी।'

उस लेख की महज़ एक बात को काटने के लिए नामवर जी ने सहयोगी प्रयास मे कुछ और कसरत की। उनके लेख को पढ कर लगता है कि व्यर्थ की।

०

'जिन्दगी और गुलाब के फूल' उषा प्रियम्वदा की शुरू की कहानियों में से है। उसमें आरम्भिक कहानियों के दोष भी है। लेकिन उसमें सभी पुरानेपन के बावजूद नवीनता के ऐसे तत्व है, जो अनायास पाठक का ध्यान खीचते है, और 'वापसी' से वह कम अच्छी हो, ऐसी बात नही। क्योंकि 'वापसी' प्रकटतः बेदी की 'गुलामी' से प्रभावित है जबकि 'जिन्दगी और गुलाब का फूल' में अनुभूति की ताज़गी है।

नामवर जी ने मेरी बात को गलत सिद्ध करने के लिए उस कहानी में कई दोष गिनाये है। वह कहानी मैंने लगभग आठ-दस वर्ष पहले पढी थी। यह देखने के लिए कि नामवर जी द्वारा गिनाये गये दोष उसमे है या नही, उसे कही से ढूँढ-कर फिर पढना होगा।....उसमें से एक छोटा-सा सम्वाद दे कर नामवर जी ने यह व्यंग्य किया है कि वह किसी सस्ती फिल्म का सम्वाद लगता है और 'नयी' कहलाने वाली कहानी मे ऐसा सम्वाद नही हो सकता। कहानी मे जिस स्थल पर वह सम्वाद आया है उसे देखे बिना महज उन चंद पंक्तियो को पढ़ कर कोई पाठक क्या राय कायम कर सकता है। यथार्थ जीवन में हम कई बार ड्रामाई प्रभाव पैदा करते है और वैसे सम्वाद बोलते है। मुझे सम्वाद म बजाते—खुद कोई बुराई दिखायी नही दी।...कहानी मे बार-बार गुलाब के फूलों का उल्लेख आया है। जिस पर नामवर जी ने आपत्ति की है। उन्हे चूँकि उस कहानी का बखिया उधेडना था, इसलिए उन्होने उसमें छिद्रान्वेषण किया। मुझे उस दोष की कोई याद नही। राजेन्द्र यादव की 'कुलटा' में (जिसमे कुछ प्रसंग बडे उत्तम ढंग से लिखे गये है) बन्दूक की गोलियो वाला प्रतीक बार-बार आता है और बेतरह खटकता है। उषा की कहानी में वही दोष होता तो मुझे ज़रूर खटकता। जो दोष मुझे उस वक्त लगा था, वह यह है कि लेखिका ने भाई का चरित्र सम्भाव्य नही बनाया। उस पर उसने श्रम नही किया अथवा यो कहें कि उस पर उतना ध्यान नही दिया, जितना कि अपेक्षित था। जो भाई इतना भावप्रवण है कि ज़रा-सी बात पर पिनक कर लगी-लगायी नौकरी छोड आता है, वह अपनी छोटी बहन के ज़ुल्म को बरदाश्त करेगा? वैसा भावप्रवण भाई तो घर छोड़ देता और कही दूसरी जगह जा कर किस्मत आजमाता। यदि लेखिका को ऐसे भाई की ज़रूरत थी, जिसका अपमान बहन कर सके, जिसका अधिकार वह छीन सके, तो किसी दूसरे ढंग से वह स्थिति पैदा की जा सकती थी। यह हो सकता था कि भाई की नौकरी मिलने की उम्मीद है और उस उम्मीद मे घर वाले उसकी हर ज़रूरत का ख़याल रखते है, पर भाई असफल रहता है, बहन सफल हो जाती है और भाई के अधिकार छीन लेती है।

बहरहाल, कहानी में भाई की नौकरी छोड़ना उतना महत्वपूर्ण नही, जितना नौकरी पर लग जाने और घर का ख़र्च चलाने वाली बहन का, भाई के सब अधिकार छीन लेना। जिस प्रकार मुझे कहानी का वह दोष आज भी याद है, उसी प्रकार वह गुण भी, जिसका नोटिस (झिझक के साथ ही सही नामवर)

जी लेने पर विवश हुए हैं। अपनी पुस्तक 'कहानी : नयी कहानी' के पृष्ठ २०८ पर वे लिखते हैं :

'कथाकार की यथार्थ दृष्टि कहीं-कहीं उभरती दिखायी देती है—खास तौर पर बहन-भाई के सम्बन्ध के चित्रण में। नौकरी करने के बाद बहन किस तरह धीरे-धीरे परिवार पर हावी होती जाती है, इसके एक-एक ब्योरे का बड़ा ही सजीव वर्णन उषा प्रियम्विदा ने किया है।—उसकी सारी चीजें वृन्दा के कमरे में जा चुकी थीं, सबसे पहले पढ़ने की मेज, फिर घड़ी, आराम-कुर्सी और अब कालीन और छोटी मेज भी। पहले अपनी चीजें वृन्दा के कमरे में सजी देख उसे कुछ अटपटा-सा लगता था, पर अब वह अभ्यस्त हो गया था, यद्यपि उसका पुरुष-हृदय घर में वृन्दा की सत्ता स्वीकार न कर पाता था—छोटे-छोटे ब्योरे का यह हाल है कि घर में आने वाले अखबार की बात को ले कर भी अधिकार-परिवर्तन का मार्मिक रूप खड़ा कर दिया गया है : पहले जब तक वह स्वयं न अखबार पढ़ लेता था, वृन्दा को अखबार छूने की हिम्मत न पड़ती थी, क्योंकि वह हमेशा पन्ने गलत तरह से लगा देती थी। अब उसे अखबार लेने वृन्दा के कमरे मे जाना पड़ता था। इसलिए उसने घर का अखबार छोड़ दिया था—यहाँ तक कि पहले भाई के अनुसार (भाई का रुख देख कर अथवा भाई की इच्छानुसार होना चाहिए अ० थ०) घर के सब काम होते थे, अब खाना भी बहन की सुविधा के अनुसार बनता था। नारी-दृष्टि, जो छोटे-से-छोटे ब्योरे पर रहने के लिए (यह कहाँ का मुहावरा है ? अ०) विख्यात मानी जाती है, उसकी सहज पुष्टि जैसे कहानी 'जिन्दगी और गुलाब के फूल करती, है।'

मेरा नम्र निवेदन है कि किसी नये लेखक की 'अच्छी' कहानी से इससे ज्यादा की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यदि अपनी तमाम त्रुटियों के बावजूद, जिसे नामवर जी ने खोद निकाला है, और उस एकाध दोष के चलते, जिसकी ओर मैंने संकेत किया है, कहानी की महत्त्वपूर्ण बात ऐसे समक्ष ढंग से पेश की गयी है कि आठ-दस वर्ष बाद भी चर्चा का विषय बन सकती है, तो मैं उस कहानी को अच्छी ही कहूँगा।

फिर अपने लम्बे लेख की अंतिम पंक्ति में इतना नामवर जी ने और माना है कि ऐसे ही नये प्रयास आगे चल कर नयी कहानी के पूर्व-पथ प्रमाणित हुए हैं। तब यदि मैंने उसे 'वापसी' के मुकाबले में 'नयी' भी कहा तो क्या गलत किया।

०

लेकिन अच्छी का मतलब उत्कृष्ट कभी नही होता। नामवर जी यह गलती कर गये है कि मैंने उस कहानी को 'अच्छी और नयी' कहा तो उन्होंने उत्कृष्ट समझ लिया और उसे निकृष्ट और पुरानी साबित करने के लिए एडी-चोटी का जोर लगा दिया और मेरी कहानी 'छिद्रान्वेषी' के उस खीर खाने वाले आलोचक ब्राह्मण की तरह, जिसने परम स्वादिष्ट खीर में चावल का एक कडक दाना निकाल कर रानी का उत्साह भंग कर दिया था, नामवर जी ने कहानी मे एक शब्द 'सुखदायी' खोज निकाला और घोषणा की कि कोई नया लेखक ऐसा घिसा-पिटा शब्द नही लिख सकता। ...नये लेखक कई बार कैसे घिसे-पिटे, बेतुके और अप्रचलित शब्द इस्तेमाल करते है और कैसी चौपट भाषा लिखते है, इसे नामवर जी और किसी की नही तो अपने इर्द-गिर्द घूमने वाले कुछ पूर्वांचली लेखों की कहानियाँ पढ कर जान लेंगे। मै इस संदर्भ मे कुछ नही कहूँगा। मै तो इतना ही कहना चाहता हूँ कि जब मैंने उषा की उस कहानी को 'अच्छी' कहा था तो मेरा मतलब उत्कृष्ट से नही था।

०

पिछले कुछ वर्षों में अच्छी और नयी कहानी को ले कर, जितना वाद-विवाद हुआ है, उसमें प्राय. 'अच्छी' को लोगों ने 'उत्कृष्ट' के अर्थों मे ही लिया है, हालाँकि उत्कृष्ट बनने के लिए एक 'साधारण अच्छी कहानी' पर वही गुज़रती है जो रेत के कण पर मोती बनने की प्रक्रिया में।

उन पचासो कहानियो की बात करूँ, जो मैंने गत अर्द्ध-शती मे पढी है, तो वे निम्नलिखित किसी-न-किसी कोटि में आ जायेंगी.

नितान्त निकृष्ट	निहायत घटिया	(अटर रब्बिश, बॉश !)
निकृष्ट	घटिया	(रब्बिश !)
साधारण	मामूली	(सो-सो !)
साधारणतया अच्छी	ठीक-ठाक	(ऑर्डिनरी)
अच्छी	(गुड)	
बहुत अच्छी	(वेरी गुड)	
बहुत-बहुत अच्छी	याने उत्कृष्ट	(वेरी-वेरी गुड)
अत्यन्त उत्कृष्ट	याने महान	(ग्रेट)

मैंने इन कोटियो के आगे कोष्टको मे वे शब्द दिये है, जो किसी रचना को आँकते समय लोग साधारणतया बोल-चाल की भाषा मे इस्तेमाल करते है।

ढेरों कहानियाँ जो आये दिन छपती रहती हैं, प्रायः पहली पाँच कोटियो मे आती है। इसलिए यदि शिवदानसिंह चौहान ने चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जी की कहानी 'ज़िन्दगी की कीमत' को 'साधारणतया अच्छी' कहा तो उसे कोई बहुत बड़ा क्रेडिट नही दिया। इतने भर की तो हर कथाकार से आशा की जाती है। चन्द्रगुप्त जी पुराने कथाकार हैं। उनसे तो 'अच्छी' बल्कि 'बहुत अच्छी' कहानी की अपेक्षा है।

कौन कहानी किस कोटि मे आती है, इस प्रश्न के उत्तर मे प्रायः पाठक की अपनी रुचि-अभिरुचि का भी विशेष दखल रहता है। उदाहरण के लिए जो पाठक कहानी मे किसी नग्न चित्रण को जघन्य पाप समझता है, उसे ऐसी कहानी, जिसमें किंचित भी अश्लीलता हो (वह कला की दृष्टि से कितनी भी उत्कृष्ट क्यों न हो) नितान्त निकृष्ट दिखायी देगी और मन-पसन्द विषय पर मन-पसन्द ढंग से लिखी कहानी (चाहे वह कला के मानदण्डो पर पूरी न भी उतरती हो) अत्यन्त उत्कृष्ट। लेकिन साधारण पाठक की रुचि से अलग कहानियो के सम्बन्ध मे निर्णय लेने के कुछ नुक्ते है, जो गत शती मे मान्यता प्राप्त करने वाली कहानियो के कारण आप-से-आप बन गये है।

नितान्त निकृष्ट तथा साधारण कहानियो की चर्चा मैं नही करूँगा लेकिन 'साधारणतया अच्छी' कहानी मेरे खयाल में उसे कहा जायगा, जो पढते समय अच्छी लगती रहे। चाहे फ़ौरन बाद मे हमारे दिमाग से उतर जाय। प्रकट है कि ऐसी कहानी किसी दिलचस्प घटना के चित्रण अथवा रोमानी या हास्यरस की प्रवहमान शैली के बल पर ही पढी जा सकेगी। 'साधारणतया अच्छी' कहानी से किसी तरह की गहराई, मनोवैज्ञानिकता, प्रतीकात्मकता कला और शिल्प के सौष्ठव तथा दृष्टि की सूक्ष्मता की अपेक्षा नही रखी जा सकती। साधारणतया अच्छी कहानियाँ प्राय. मनोरंजक होती हैं। यद्यपि पुराने लेखको की साधारणतया अच्छी कहानियो मे दोषपूर्ण भाषा की अपेक्षा नही रहती, पर नये लेखको की ऐसी कहानियो में भाषागत दोष भी मिल सकते हैं।—ऐसी कहानियो का उपयोग मेरे खयाल में किंचित मनोरंजक ढंग से वक्त काटने मे सहायता देने से ज़्यादा कुछ नही हो सकता।

उपर्युक्त पंक्तियाँ पढ कर प्रायः प्रश्न उठाया जा सकता है : क्या नये कहानीकारो, सातवें दशक के कहानीकारो या फिर अ-कहानीकारो के यहाँ 'साधारणतया अच्छी' कहानियाँ नही होती ? मेरा निवेदन है कि अधिकांशतः ऐसी ही होती है। हर दौर मे और हर लेखक के यहाँ (विशेष कर उसके

आरम्भिक काल मे) कुछ-न-कुछ ऐसी कहानियाँ मिल जाती हैं।

'अच्छी कहानी' में भाषागत तथा कलागत सौष्ठव 'साधारणतया अच्छी' कहानी से ज्यादा होता हैं। साथ ही वह केवल मनोरंजन से कुछ ज्यादा पाठक को देती है।

'अच्छी कहानी' के माध्यम से—उसकी टोन कितनी ही हल्की क्यो न हो, उसकी विषय-वस्तु कितनी भी मामूली क्यो न हो, उसका अन्त कितना भी बेतुका और उसकी भाषा कितनी भी दोषपूर्ण क्यो न हो—पाठक को लगेगा कि उसने लेखक के माध्यम से ज़िन्दगी के किसी धडकते टुकडे का स्पर्श पाया है अथवा बुरी या भली मानवीय सम्भावना का उसे पता चला हैं। (जब मैंने 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' को अच्छी की संज्ञा दी तो उसका यही पक्ष मेरे सामने था। नौकरी पर लगी बहन द्वारा बेकार भाई की चीज़ों पर धीरे-धीरे अधिकार करने का इतना विशद और 'विविड' चित्रण उषा प्रियम्वदा ने किया कि लगा—हाँ ज़िन्दगी ऐसी भी हो गयी हैं और लडकियाँ अब अबला ही नही रही, सबला भी हो रही हैं। जुल्म सहने वाली ही नही, जुल्म करने वाली भी हो रही हैं और भारतीय परिवारो मे अपने-आप महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे है।—जिन्दगी का यह पक्ष, जो पहले नही दिखाया जा सकता था, कि वह था ही नही, मुझे नया लगा—इसीलिए मैंने कहानी को नयी भी कहा और अच्छी भी।

प्रकट है कि बहुत अच्छी कहानी मे वस्तुगत और शिल्पगत दोष खत्म हो जाते हैं। उसमें गहराई भी आ जाती है और गीराई (व्यापकता) भी। और उसके नक्श हमारे दिमाग पर अमिट छाप छोड जाते है। अपनी सरलता अथवा जटिलता, सूक्ष्मता अथवा प्रतीकात्मकता के कारण वह हमें बार-बार गुहराती है। बहुत अच्छी रचना का मै यह गुण मानता हूँ कि दोबारा हो या सहबारा, जब भी हम उसके पास जायें, उसमे नया रस और नये अर्थ पायें।

बहुत-बहुत अच्छी तथा महान कहानियों के बारे में कोई निश्चित गुण बताना कठिन है। संसार में जितनी उत्कृष्ट और महान कहानियाँ है, वे उतने ही गुण अपने में रखती है। एक से दूसरी भिन्न हैं। भिन्न कारण से हैं। भिन्न प्रभाव डालती हैं। संसार के बडे-से-बडे कथाकार के यहाँ भी दो-एक ही महान कहानियाँ होती है। आठ-दस उत्कृष्ट, बहुत अच्छी, शेष अच्छी अथवा साधारणतया अच्छी। यदि कोई सक्षम कथाकार सारी ज़िन्दगी लिखता रहे और उसके कलम से दो-एक भी महान कहानियाँ निकल जायें तो उसे अपना कृतित्व सफल समझना चाहिए। यह और बात है कि अहं का मारा लेखक अपनी हर कहानी को महान

समझे (जैसा कि प्राय: लेखक समझते है।) ...मुझे १९४८ की एक घटना याद आती है। मै पंचगनी से कुछ स्वस्थ हो कर इलाहाबाद लौटा था और श्रीपत के यहाँ १४ हेस्टिंग रोड पर ठहरा हुआ था। एक शाम अचानक श्री हंसराज रहवर आ गये। उस जमाने में उन्होंने कृष्णचन्द्र के विरुद्ध मोर्चा ले रखा था। आ कर पूरा एक घंटा कृष्णचन्द्र को गालियाँ देते रहे। जब वे चलने लगे तो मै उन्हें हेस्टिंग और थार्नहिल रोड के चौराहे तक छोडने गया। उन दिनों उनकी कोई कहानी छपी थी। मैने उसकी प्रशंसा की कि मुझे अच्छी लगी . .

'ओह, दैट इज ग्रेट !' उन्होने बिना मेरी बात पूरी सुने कदरे झूम कर कहा।

मै उसकी एकाध त्रुटि पर अपने मूल्यवान सुझाव प्रकट करना चाहता था, पर उनकी बात सुन कर चुप लगा गया।

आज उस महान कहानी की याद करता हूँ तो दिमाग के पर्दे पर एक बड़े से शून्य के सिवा और कुछ भी नही उभरता।....हम लोग जब कहानियाँ पढते है और कहते और लिखते है कि हमने बहुत अच्छी कहानी पढी है और यह हमारे मन पर अमिट प्रभाव छोड़ती तो हम नही जानते कि कुछ वर्ष गुजर जाने पर उसका कुछ भी हमें याद नहीं रहेगा। यह केवल उत्कृष्ट कहानियो के भाग्य मे होता है कि वे मानस पर अमिट रेखाएँ बना जाती है और उनमें जो अपनी अपील मे सार्वजनीन होती है, वे संसार मे जहाँ भी पढ़ी जाती है, पसन्द की जाती है और अन्यन्त उत्कृष्ट याने महान कहलाती है।

सन्दर्भ

●

नयी कहानी—एक पर्यवेक्षण—लेख अश्क जी ने १९६१ के लहर के नयी कथा विशेषांक के लिए लिखा।

१९५७ से '५९ तक नयी कहानी में गँवई-गाँव के कथाकारों और ग्रामीण आलोचकों का जोर रहा। अपनी इस मान्यता को १९५८ और '५९ में उन्होंने आगे बढ़ाया, लेकिन '५९ के बाद उस इनिशिएटिव (अगुवाई) को राकेश, यादव और उनके शहरी मित्रों ने उनके हाथों से छीन लिया।

हुआ यह कि इस बीच कमलेश्वर इलाहाबाद से दिल्ली चले गये। इलाहाबाद में तो न वे देहाती कथाकारों मे गिने जाते थे, न शहरी और अपनी आइडेंटिटी के लिए दबी जबान से अपने 'कस्बाती कथाकार' होने की घोषणा करते थे। (फिर 'संकेत' काण्ड को ले कर भैरव और मार्कण्डेय और यों नामवर से उनके सम्बन्ध भी कटु हो गये थे और चाहे नामवर लिखते हों और भैरव छापते हों, पर इस आन्दोलन के सूत्रधार मार्कण्डेय थे और यह आन्दोलन उन्हीं के कुटिल चातुर्य का परिणाम था—इसी से काम ले कर पहले कमलेश्वर के साथ मिल कर उन्होने 'जितेन्द्र' और 'ओमप्रकाश श्रीवास्तव' को काटा था, अब नामवर और भैरव की सहायता से राकेश तथा यादव को काट रहे थे—लेकिन दिल्ली जा कर कायस्थ-सुलभ उस तेज़ी और चाबुकदस्ती से जो ठाकुरों या यादवों के बस की नहीं, कमलेश्वर राकेश और यादव से मिल गये। इसी बीच राकेश 'सारिका' के सम्पादक हो गये। तब इन शहरी कथाकारों ने उसी कठहुज्जती और बददयानती से जो नामवर अपनाये हुए थे, अपने 'एकदम परम्पराओं से कटे होने' और आंचलिक कथाकारो की अपेक्षा सच्चे मायनों में 'नये' होने की घोषणा कर दी और धड़ाधड़ लेख लिखे और इतना शोर मचाया कि नामवर को नयी कहानियाँ १९६० के अपने लेख 'साधारण पाठक सहज दृष्टि' में वर्णित ऐसी कहानी की माँग को भूल कर, जिसे लिखते हुए लेखक और पढ़ते हुए पाठक कहानी बन जाय, और अपनी सारी पुरानी दलीलो को काटते हुए, राकेश और यादव के मुकाबिले में निर्मल वर्मा को आगे बढ़ाना पड़ा।

एक तरफ भैरव, नामवर और मार्कण्डेय और दूसरी तरफ राकेश, यादव

और कमलेश्वर के निकट सम्पर्क में रहने और इन सभी लेखकों की की लगभग तमाम कहानियों को पढ़ने के कारण अश्क जी एक ऐसे दर्शक की तरह, जो तमाशे का अंग होते हुए तमाशाई भी हो, इस आन्दोलन का रस लेते रहे। यही कारण है कि वे उस कुशलता से नयी कहानी का निरपेक्ष पर्यवेक्षण कर सके।

प्रस्तुत लेख इस संग्रह में आने से पहले कई संकलनों में आ चुका है और इसका ऐतिहासिक महत्व यह है कि इस लेख ने सच्चे मायनों में नये कथाकारों को आगे बढ़ने में सहायता दी है।

●

नयी कहानी : एक पर्यवेक्षण

●

'नयी कहानी' में वस्तु और प्रकार की कोई सार्थक उपलब्धि है ? इस प्रश्न को ले कर पिछले दिनो इलाहाबाद रेडियो से एक परिसम्वाद ब्राडकास्ट हुआ। जिन 'नये' (?) कथाकारों ने उसमें भाग लिया, उनके नाम है—इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतराय, बी० डी० एन० साही और अश्क....इन नामो का उल्लेख मैंने इसलिए किया है कि जब मुझसे परिचर्चा मे भ ग लेने के लिए कहा गया था और मुझे नामो का पता चला था तो मैंने आपत्ति की थी कि इनमें नये कथाकारो का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई नही, पुराने कथाकार 'नयी कहानी' का अस्तित्व या उपलब्धि कुछ मानेंगे नही और यह सेमिनार 'नयो कहानी' के सम्बन्ध में पुराने कथाकारो के विरूद्ध फतवों पर खत्म होगा।

और यदि सेमिनार के एक दिन पहले शाम को स्थानीय नये कथाकारो ने आदरणीय जोशी जी को काफ़ी हाउस में घेरा न होता तो बात वही होती, जिसका मैंने उल्लेख किया....सेमिनार के आध-एक घण्टा पहले जब मैं पहुँचा तो रेडियो के लॉन में बिछे कौचो पर सेमिनार में भाग लेने वाले आदरणीय कथाकार बैठे थे, यशपाल अभी पहुँचे न थे और शेष इस वात पर आश्चर्य प्रकट कर रहे थे कि आखिर यह नयी कहानी' है क्या ? उन्हें उसके अस्तित्व तक से इनकार था, पर जब सेमिनार के लिए सब अन्दर स्टूडियो में गये और जोशी जो ने एनाउंसमेंट देखी—'नयी कहानी मे वस्तु और प्रकार की ...' तो बोले कि इसमें तो 'नयी कहानी है' यह मान कर ही चला गया है। हमे केवल यह देखना है कि उसकी वस्तु और प्रकार की कोई सार्थक उपलब्धि है या नही ? अपने प्रवर्तन भाषण में उन्होने यही बात दोहराई और बायी ओर बैठे सज्जन से कहा कि आप शुरू कीजिए।

उन सज्जन ने कहा कि नयी कहानी प्रेमचन्द्र के 'कफन' ही से शुरू हो गयी थी और तब से ले कर आज तक 'नयी कहानियाँ सदा लिखी जाती रही है। उन्होने नयी वस्तु और शिल्प का उल्लेख कर राजेन्द्र यादव की कहानी 'अभिमन्यु की आत्महत्या' के नितांत प्रयोगात्मक प्रयास तक बात को पहुँचाकर बायी ओर बैठे दूसरे सज्जन की ओर विषय को ठेल दिया। उन दूसरे सज्जन

ने 'अभिमन्यु की आत्महत्या' या किसी दूसरे प्रयोग पर राय देने के बदले अपने सामने बैठे लखनऊ-वासी तीसरे कथाकार मित्र से अपनी पुरानी बहस का उल्लेख किया कि वे नयी कहानी के अस्तित्व को नही मानते, जब कि मैं मानता हूँ। और बिना किसी नयी कहानी या प्रयोग का उल्लेख किये उन्होंने यह भी कहा कि वे नयी कहानी की उपलब्धि से आश्वस्त है। तीसरे महानुभाव ने उसी बहस का उल्लेख किया जो वे लखनऊ में उन दूसरे सज्जन से किया करते थे (और चूँकि उन्होने एक भी नयी कहानी न पढी थी) इसलिए कुछ कहानी के आधारभूत तत्वों और कुछ भूले-बिसरे जमाने में लिखी अपनी कहानियों का उल्लेख कर इधर-उधर की बातो में दो के बदले आठ मिनट लगा दिये (तय यह था कि पहले दौर में सब लोग दो मिनट फिर दूसरे दौरे में सब को दो-दो मिनट दिये जायेंगे) और बडे जोर से कहा कि नयी कहानी की कोई सार्थक उपलब्धि वे नही मानते। चौथे ने उनका समर्थन किया कि उनकी समझ मे नही आता, नयी कहानी में नया क्या है ? उन्होंने प्रेमचन्द्र की कुछ कहानियाँ गिनायीं और पूछा कि वे कैसे नयी नही है और नये कथाकारों की आठ-दस कहानियों के नाम लिये और पूछा कि वे कैसे पुरानी नही है ? पाँचवे साहब ने (जो न जाने किस कारण कहानीकारों की उस मज-लिस में बुला लिये गये थे, क्योकि कविताएँ अथवा काव्य की आलोचनाएँ उन्होने कुछ लिखी थी, पर कहानी एक भी नही लिखी थी।) उनका उत्तर देने के बदले नयी कहानी के मानवीय पक्ष का उल्लेख कर यह दर्शाया कि उन्होंने कम-से-कम दो 'नयी कहानियाँ'—कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' और शेखर जोशी की 'कोसी का धटवार' ध्यान से पढी है।....इसी सब में सारा समय समाप्त हो हो गया। तब आदरणीय जोशी जी ने, जो बहस सुनने के बदले घड़ी और स्टूडियो की लालबत्ती की ओर देखते रहे थे, उनको खत्म करने का संकेत किया और परम उल्लास से घोषणा की कि आज के परिसम्वाद से वे इस परिणाम पर पहुँचे है कि नयी कहानी की उपलब्धि खूब घनी और सार्थक है और सभी उपस्थित जन उससे परम संतुष्ट है।.... और जब रेडियो की लालबत्ती चली गयी तो रेडियो से संलग्न श्रोताओ ने ऐसे सफल और मनोरंजक परिसम्वाद पर उन्हें ढेरो बधाइयाँ दीं।

मन की बात कहूँ तो ऐसा हास्यास्पद और निरर्थक परिसम्वाद मैंने कभी नही सुना। तो भी जिन महानुभाव ने नये कहानीकारों की आठ-दस कहानियो का उल्लेख कर पूछा था कि वे कैसे नयी है, और कैसे प्रेमचन्द से आगे है ? उन्होने एक आधारभूत प्रश्न उठाया था और मेरे खयाल में उस पर पूरी तरह

विचार करके उस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए था।

०

जहाँ तक हिन्दी की नयी कहानी के आरम्भ और विकास का सम्बन्ध है, 'नयी' के नाम को ले कर वही एक प्रश्न नही, प्रश्नो की एक शृंखला सामने आ खड़ी होती है।

● नयी कहानी का आरम्भ कहाँ से माना जाय ? क्या प्रेमचन्द के यहाँ 'नयी कहानी' नाम की कोई चीज़ है ?

● यदि प्रेमचन्द को पुरानी कहानी का प्रतिनिधि माना जाय और उनसे भिन्न—मनोवैज्ञानिक यथार्थ—विशेषकर सेक्स को ले कर जो कहानियाँ उन्ही के समय में लिखी जाने लगी थी, उन्हे 'नयी' की संज्ञा दी जाय तो क्या उस दृष्टि से जैनेन्द्र नये कहानीकार नही हैं ? क्योकि प्रेमचन्द की तुलना में उनकी कहानियाँ वस्तु और शिल्प के लिहाज से एमदम भिन्न हैं।

● यदि जैनेन्द्र को भी पुराना कहानीकार माना जाय तो फिर क्या 'नयी कहानी' का अविर्भाव यशपाल से स्वीकारा जाय ? क्योंकि यशपाल के यहाँ वस्तु और उसे देखने वाली जो दृष्टि है, वह पहले तीनो के यहाँ नही है।

● और फिर अमृतराय....? जिन्होंने 'आह्वान' को छोड़ कर शायद ही कोई कहानी पुराने शिल्प में लिखी हो।

● यदि इन सबको ही 'पुराने कथाकार' मान लिया जाय तो नयी कहानी 'किससे' या 'किनसे' शुरू हुई ? नयी कविता के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कहा जा सकता है (सप्रमाण) कि उसे शमशेर और प्रभाकर माचवे ने शुरू किया, मुक्तिबोध और नेमिचन्द्र जैन ने उसके समारम्भ मे योग दिया और अज्ञेय ने उसका समन्वित रूप प्रस्तुत किया (नामो के आगे-पीछे के बारे मे विवाद हो सकता है, पर मूल वात से कोई इनकार नही कर सकता) क्या नयी कहानी के सम्बन्ध में भी कोई ऐसी वात कही जा सकती है ?

फिर घूम-फिर कर वही दो प्रमुख प्रश्न सामने आते है .

१. क्या प्रेमचन्द के यहाँ भी कुछ ऐसी कहानियाँ नही, जो उनके सतत प्रगतिशील और जागरूक कथाकार ने अपने अंतिम दिनो में लिखी, जो हर लिहाज़ से उनकी पुरानी आदर्शोन्मुख कहानियो से भिन्न है और जिन्हें 'नयी' की सज्ञा, वस्तु और शिल्प दोनो के लिहाज़ से, दी जा सकती है। मिसाल के लिए 'नशा,' 'वडे भाई साहब,' 'मनोवृत्तियाँ,' और 'कफन'।

२. इसके विपरीत क्या आज के नये कथाकारो के यहाँ कुछ ऐसी कहानियाँ नही है, जिनमे चाहे कुछ खूब उच्चकोटि की है, लेकिन शिल्प और शैली के लिहाज से पुरानी कहानी से भिन्न नही ? उदाहरण के लिए मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक,' राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है,' शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हो,' मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा,' भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत,' अमरकान्त की 'डिप्टी कलेक्टरी,' कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया,' कमलेश्वर की 'देवा की माँ,' कृष्ण बलदेव वैद की 'बदबूदार गली,' आदि.... आदि....।

०

रेडियो के उपरोक्त सेमिनार मे उठाये गये प्रश्न ही का नही, इन सभी प्रश्नो का कोई-न-कोई उत्तर दिये बिना हम आगे नही बढ़ सकते।

जहाँ तक शिल्प और वस्तुगत प्रयोगों का सम्बन्ध है, इसमे कोई सन्देह नही कि ये प्रयोग निश्चित रूप से (बदलते हुए राजनीतिक और सामाजिक माहौल के कारण) प्रेमचन्द के यहाँ आरम्भ हो गये थे और प्रेमचन्द की उपर्युक्त चारो कहानियाँ मेरे इस कथन का प्रमाण है। 'कफ़न' और 'बडे भाई साहब' जैसा पात्रो का चरित्र-चित्रण, कथा की कथानक-हीनता और यथार्थ की पकड़ आज की किसी भी नयी कहानी की उपलब्धि मानी जा सकती हैं।

लेकिन इस पर भी 'नया' सब कुछ प्रेमचन्द के यहाँ ही समाप्त नही हो गया। जैनेन्द्र ने 'बडे भाई साहब' की मनोवैज्ञानिकता को दूसरे धरातलो पर (और भी गहरे पैठ कर) उठाया। जैनेन्द्र की 'अपना पराया,' 'फाँसी' अथवा 'पाज़ेब' आदि पुरानी तरह की कहानियाँ है। लेकिन 'राजीव और उसकी भाभी,' 'बिल्ली बच्चा,' 'एक रात,' 'नीलम देश की राजकन्या' और 'रत्नप्रभा' उस नयेपन को और भी आगे बढ़ाती हैं।

इसी कड़ी में अज्ञेय की 'जीवनी शक्ति,' 'रोज़,' 'लेटर बक्स' और 'हीलीबोन की बतखें' आती है और यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि 'हीली-बोन की बतखें' में यह शैली अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची।

यशपाल ने पुराने वस्तु-सत्य को मार्क्सवादी दृष्टि से देखा और परखा। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने जहाँ तन और उसकी सहज आवश्यकताओ की गहराई में डुबकी लगा कर, खुर्दबीन से देखी जाने वाली मन की स्थितियो को अपनी गहरी अन्तर्दृष्टि से उजागर किया, वहाँ यशपाल ने शरीर और मन के साथ अर्थ को

जोड़ कर सामाजिक अथवा वैयक्तिक सम्बन्धो को परखा और उस परख के परिणाम हमारे सामने रखे। उनकी कहानी 'पराया सुख' उनको कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है और यशपाल की सूझ-बूझ अकाटच तर्क और गहरी अन्तर्दृष्टि की परिचायक है।

और यो प्रेमचन्द के जमाने ही से नयी कहानी पुरानी के साथ-साथ अपने नये शिल्प, शैली और दृष्टि को लिये हुए चलने लगी और यदि मैं कहूँ कि यह विकास अभी जारी है, नयी कहानी दो-चार दिशाओ में ही नही दशों दिशाओ मे विकास कर रही है तो गलत न होगा। बेशुमार लेखक, जिनका नाम चाहे उतना सामने न आये, इस विधा में प्रयोग कर रहे हैं। लेखक का नाम (बार-बार सामने न आने के कारण) याद नही रहता, पर कहानी याद रह जाती है। यह प्रगति इतनी बहुमुखी है कि इसे शब्दों अथवा शब्दगत रूढियो में बाँध पाना कठिन लगता है और किसी नयी दिशा में बढ़ने वाला हर कथाकार समझता है कि उसी की दिशा वास्तव में नयी है—पिछले दिनो 'नयी कहानी' के देहाती और शहरी पक्ष को ले कर जो शोर मचा, वह इसी धारणा का परिणाम था।

०

वास्तव में दो महायुद्धो ने संसार भर को जैसे झकझोर कर रख दिया है। आज के लेखक ने पूरे-के-पूरे राष्ट्रों को दूसरी जातियो अथवा राष्ट्रो से एक अंधी, क्रूर पाशविकता का व्यवहार करते हुए, एक अमानवीय कठोरता से उसे पद-दलित करते हुए, उनका अस्तित्व तक मिटाते हुए देखा और अजाने ही उसकी पुरानी मान्यताएँ बदल गयी। ऐसी पाशविकता ऐसी क्रूरता तो पहले कहानियो में कही नही थी। साहित्य में तो क्रूर-से-क्रूर व्यक्ति के मन मे भी ममता को खोज दिखाया जाता था। इस सामूहिक पाशविकता, का कारण जानने के लिए समूह की इकाई—व्यक्ति—उसकी उत्पत्ति, विकास, उसके मनोभावो और उद्वेगों की ओर लेखक की दृष्टि गयी। डार्विन, मार्क्स और फ्रॉयड ने इस काम में उनका पथ-निर्देश किया। एक ने मानव की उत्पत्ति, दूसरे ने उसके क्रिया-कलाप और तीसरे ने उसके मनोविज्ञान के सम्बन्ध में पुरानी धारणाओं को बदल दिया और मानव के कृत्यों का कारण पशु से उसके विकास, मानव-समाज को ऐतिहासिक और आर्थिक यथार्थताओ अथवा उसके विकसित या अविकसित मन की गहराइयो में खोजा जाने लगा।

इस तेहरी दृष्टि से देखने पर पुराने माने हुए सत्य झूठे दिखायी देने लगे। —भाई अपनी बहनों से उतना प्यार नहीं करते, जितना बहनें अपने भाइय से —हमारे यहाँ यह एक माना हुआ सत्य था। पर युद्ध की विभीषिका, दिनोदिन बढती कीमतों और देश के विभाजन के बाद, जब लडकियाँ नौकरी करने लगीं, वे न केवल आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी हुईं, वरन माता-पिता और छोटे भाई-बहनों की पालन-कर्ता बनी तो घर मे उनकी स्थिति अनायास बदल गयी और बेरोजगार भाइयों के लिए कहीं-कहीं उनका व्यवहार वैसा ही उपेक्षापूर्ण हो गया, जैसे कभी पहले भाइयो का बहनो के प्रति होता था। न केवल यह, बल्कि माता-पिता को भी उनके इस व्यवहार में कोई असंगति दिखायी नही दी। उषा प्रियम्वदा ने अपनी कहानी 'ज़िन्दगी और गुलाब के फूल' में इसी वस्तु-सत्य को नयी दृष्टि से परखा है। इसी बीच मैंने एक बंगला लेखक की कहानी पढी, जिसमे बड़ा भाई, जो कोई छोटी-सी नौकरी करता है, लगातार बहन से रुपया हथियाता है और इस बात से डरता है कि वह किसी से प्रेम करके शादी न कर ले। बहन आखिर इस दुश्चक्र को तोड़ देती है और अपने मन चाहे युवक के साथ चली जाती है।

दसियो पुराने राजनीतिक, सामाजिक अथवा वैयक्तिक सत्य इस तेहरी दृष्टि के प्रकाश में झूठे दिखायी देने लगे। मानव की सद्वृत्तियों ही को देखते रहने के बदले, लेखक का ध्यान उसकी ग्रन्थियो, कुप्रवृत्तियो और स्वभाव की विषमताओं की ओर भी गया। जब पुरानी कहानियों के आदर्श पात्र और उनकी स्थितियाँ जीवन में कही दृष्टिगोचर न हुईं तो वैसी कहानियो से वितृष्णा होने लगी। लेखक के साथ-साथ पाठक भी कहानी से मनोरंजन की अपेक्षा कुछ अधिक की माँग करने लगे। तब गढ़े-गढाये काल्पनिक कथानकों का जादू टूटा, कथाकार ने बदलते जीवन के तकाजे को मान, पहले निर्वैयक्तिक यथार्थवादी दृष्टि से मानव और समाज को देखा और ऐसी कहानियाँ लिखी, जो जीवन का एक जीता-जागता, उसकी गति से स्पन्दित, खण्ड-मात्र दिखायी देती थी। ऐसी कहानियाँ प्रेमचन्द के वक्त ही से लिखी जाने लगी थी। प्रेमचन्द की 'बडे भाई साहब,' अज्ञेय की 'रोज,' अमृत राय की 'कस्बे का एक दिन' ऐसी ही कहानियाँ हैं। नये कथाकारो में अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन,' इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।....फिर कथाकार ने वैयक्तिक दृष्टि से अपने पात्रो के अन्तर में झाँका और अर्धचेतन, उपचेतन और अचेतन तक में गोते लगा कर मानव की ग्रथियो, विकृतियों और कुप्रवृत्तियों से पर्दा उठाया। जैनेन्द्र की

'रत्नप्रभा' और अज्ञेय की 'हीलीवोन की बतखें,' से ले कर मोहन राकेश की 'मिस पाल,' मार्कण्डेय की 'उत्तराधिकार,' राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है,' और राजकमल चौधरी की 'बस स्टॉप' तक—इन कहानियो की लम्बी शृंखला है।....यही नही, नये कथाकार ने उस वैयक्तिकता मे भी निःसंग दृष्टि अपनायी और अपने ही मन के भावो का एक निरपेक्ष द्रष्टा की तरह विश्लेषण करने का प्रयास किया। जितेन्द्र की 'ये घर · ये लोग' और राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्म-हत्या' इसके उदाहरण है।

दृष्टि बदली, मानव और जीवन को देखने के ढंग बदले, तो कहानी का शिल्प भी बदला। पहले की-सी कथानक-प्रधान, झटका देने और मधुर टीस उपजाने वाली, गठी-गठाई कहानियों के बदले जीवन की गहमागहमी, रंगारंगी, कटु-यथार्थता, जटिलता, संश्लिष्टता का प्रतिबिम्ब लिये हुए[1] सीधे-सादे स्केच की-सी,[2] निबन्ध की-सी,[3] संस्मरण[4] अथवा यात्रा-विवरण[5] की-सी, कुछ प्रभावो अथवा स्मृतियों का गुम्फन मात्र,[6] वर्णनात्मक,[7] चित्रात्मक,[8] डायरी के पन्नों[9] अथवा पत्रों का रूप लिये[10] हुए, एक ओर लोक कथा और दूसरी ओर उपन्यास की हदो को छूती[11] हुई—तरह-तरह की कहानियाँ लिखी जाने लगी। पहले कहानियो में उपमाओ का प्रयोग होता था, जिससे उनकी सरलता और सुगमता द्विगुणित हो जाती थी, अब उनमें स्पष्ट अथवा अस्पष्ट बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग होने लगा, जिससे उनकी जटिलता और सश्लिष्टता बढी। निर्मल वर्मा की 'परिन्दे,' मार्कण्डेय की 'धुन,' राजेन्द्र यादव की 'अभि-

---

१. जिन्दगी और जोंक (अमरकान्त), जानवर और जानवर (मोहन राकेश) प्लाट का मोर्चा (शमशेर बहादुर सिंह)

२. खेल, लड़के (रघुवीर सहाय)

३ समाप्ति (जैनेन्द्र)

४ अंकल (रामकुमार), द्रौपदी (लक्ष्मीनारायण लाल)

५ पहाड़ की स्मृति (यशपाल)

६ खुशबू (राजेन्द्र यादव), खिड़की (मलयज)

७ खामोशी (कृष्ण बलदेव वैद)

८. निशाऽऽ जी (नरेश मेहता)

९. तिष्यरक्षिता की डायरी (नरेश मेहता)

१० सईदा के खत (अमृत राय)

११ नीलम देश की राजकन्या (जैनेन्द्र), तथा नीली झील (कमलेश्वर)

मन्यु की आत्म-हत्या,' अमृतराय की 'मंगलाचरण' ऐसी ही कहानियाँ है। लेकिन कहानी के नये शिल्प मे प्रतीकों की आवश्यकता थी। उपमाएँ प्राय' बाहर की स्थितियो को समझाने में सहायता देती है, विम्ब और प्रतीक मन की स्थितियो को समझने मे सहायक होते है। कई बार जिस मानसिक स्थिति को समझाने के लिए पैरे और पृष्ठ रँगने की आवश्यकता होती है, वह मात्र एक विम्ब अथवा प्रतीक के माध्यम से समझा दी जाती है।

लेकिन जैसे वस्तु और शिल्प के ये प्रयोग पुराने कथाकारो मे भी मिलते हैं, वैसे ही गठी-गठाई, झटका दे कर खत्म होने या मन मे एक टीस-सी छोड देने वाली कहानियाँ नये कथाकारो ने भी लिखी हैं। मै यहाँ नये कहाने वाले-कथाकारों में से प्रत्येक के यहाँ से दो-दो कहानियाँ देता हूँ, जिनसे पहली पुरानी कहायेगी और दूसरी नयी। जैसे राकेश के यहाँ 'मलवे का मालिक,' और 'नये बादल,' राजेन्द्र यादव के यहाँ 'जहाँ लक्ष्मी कैद है,' और 'खुशबू,' रेणु के यहाँ 'तीर्थोदक,' और 'मारे गये गुलफाम,' कृष्णा सोबती के यहाँ 'सिक्का बदल गया,' और 'गुलाब जल गंडेरियाँ,' मन्नू भण्डारी के यहाँ 'सियानी बुआ,' और 'यह भी सच है,' मार्कण्डेय के यहाँ 'गुलरा के बाबा,' और 'माही,' अमरकान्त के यहाँ 'डिप्टी कलेक्टरी,' और 'दोपहर का भोजन,' भीष्म साहनी के यहाँ 'चीफ की दावत,' और 'इमला,' इन कहानियो को पढ कर मालूम होगा कि ये तथाकथित नये कथाकार कुछ एकदम नये नहीं हैं 'पुराने' के साथ जुडे है।

०

नये कथाकारो को मै तीन श्रेणियो में बाँटना चाहूँगा :

१ वे कथाकार, जिन्होंने चाहे दो-एक नये प्रयोग किये हो, लेकिन साधारणतः उनकी कहानियाँ नख से शिख तक चुस्त और दुरुस्त पुरानी शैली के पूरे मँजाव के साथ लिखी जाती है। इनमें राकेश, शिवप्रसाद सिंह, रेणु, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, ऊषा प्रियम्वदा और शेखर जोशी प्रमुख है।

२ वे कथाकार, जिन्होंने चाहे चार-छै कहानियाँ पुरानी शैली की लिखी हो, पर जिनका रुझान नये शिल्प और नयी वस्तु की ओर है। इनमे राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, राजकमल चौधरी और प्रयाग शुक्ल के नाम उल्लेखनीय हैं।

३ वे कथाकार, जिन्होने एकदम नया शिल्प और नयी वस्तु अपनायी है। इनमें रामकुमार, निर्मल वर्मा, रघुवीर सहाय, नरेश मेहता, राजेन्द्र किशोर,

मुद्राराक्षस, रणधीर सिन्हा, वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता, शरद जोशी आदि के नाम लिये जा सकते है।

ऐसे बेगिनती नये कथाकार, जिनकी दो-एक कहानियाँ ही मैंने पढी है (जिनकी कहानियों की तो याद है, पर लेखको की नही) इन्ही तीन श्रेणियों के अन्तर्गत आते है। दयानन्द अनंत या ऐसा ही कुछ नाम याद आता है, जिनकी बडी ही सुन्दर नख-से-शिख तक दुरुस्त कहानी 'गुइयाँ गले न गले' मैंने पढी थी और रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव की कहानी 'वेश्या नही बनूँगी' अभी पढी है, जिसमें शिल्पगत नया प्रयोग है, यद्यपि कहानी उतनी अच्छी नही। इन सभी कथाकारो के सम्मिलित प्रयत्नों से नयी कहानी का जो रूप सामने आता है, वह उज्जवल दीखता है। पुरानी परम्परा से हट कर लिखने वालो ने भी कुछ बड़ी सुन्दर कहानियाँ दी है—मार्कण्डेय की 'माही,' रामकुमार की 'हुस्ना बीवी,' निर्मल वर्मा की 'परिन्दे,' नरेश-मेहता की 'तथापि,' अमरकात की 'दोपहर का भोजन,' राजकमल चौधरी की 'बस स्टाप'— इस कथन का प्रमाण है। एक खतरा अवश्य है कि नयी कहानी नयी कविता की तरह पश्चिम की वस्तु-स्थितियो और मनोभावनाओ को अपने ऊपर लाद कर दुर्बोध, दुर्गम और अवास्तविक न हो जाय! विशिष्टिता के चक्कर मे कुछ नये कथाकार इसका भी प्रयास कर रहे है। श्रीकान्त वर्मा की कहानी 'टोर्सो' इसका उदाहरण है। उसका पुरुष न यहाँ का पुरुष लगता है, न युवती यहाँ की युवती। मार्कण्डेय की 'घुन' और अमृत राय की 'मंगलाचरण' का प्रतीक इतना दुर्बोध है कि लेखक के समझाये ही समझ में आता है और इस पर भी वह कथा से स्वतः निःसृत नही, ऊपर से लादा हुआ प्रतीत होता है। फिर पद्य तो आत्मरत हो कर जी सकता है (तथापि इसमे मुझे संदेह है) लेकिन गद्य के लिए दुर्बोध हो कर जीना मुश्किल है। अच्छी वात यही है कि इन कथाकारो मे राकेश, शिवप्रसाद सिंह, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, कृष्णा सोवती, कमलेश्वर, मन्नू भण्डारी, ऊषा प्रियम्वदा आदि के रूप मे ऐसे सक्षम कथाकर हैं, जो परम्परा से कटे नही, वरन पुरानी परम्परा के गुणो को अपनी शैली में समो कर नयी वस्तु को अत्यन्त मनोरंजक और हृदयग्राही ढंग से दे रहे हैं।

०

जहाँ तक विगत की तुलना में वर्तमान कहानियों के सार्मथ्य का प्रश्न है, पुराने कथाकार के नाते मेरे लिए उस पर कोई राय देना संगत नही है। नये कथा-

कारों और आलोचको को 'कफ़न,' 'मनोवृत्तियाँ,' 'बडे भाई साहब,' 'नशा,' 'एक रात,' 'रत्नप्रभा,' 'पाज़ेब,' राजीव और उसकी भाभी,' 'जीवनी शक्ति,' 'रोज़,' 'लेटर बक्स,' 'हीलीबोन की बतखें,' 'पराया सुख,' 'पहाड़ की स्मृति,' 'अपनी-अपनी जिम्मेदारी,' धर्मयुद्ध,' 'समय' जैसी उच्चकोटि की पुराने लेखको की नयी कहानियाँ पढ कर अपनी राय बनानी चाहिए। बड़ी झिझक के साथ मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि नये लेखको की कुछ कहानियाँ इनके बराबर चाहे पड़ जायँ, पर इन पर भारी कम ही पडेंगी। लेकिन साहित्य मे तुलना कोई अच्छी चीज नही। एक सुन्दर रचना की तुलना दूसरी सुन्दर रचना से की ही नही जा सकती। केवल दोनो का रस लिया जा सकता है। नये कथाकारो मे नये ढंग से बात कहने की जो ललक है, नये रूपाकार को ढूँढने या अपनाने की जो छटपटाहट है, पुराने के प्रति जो खिजलाहट अथवा आक्रोश है, वह उनकी यौवन शक्ति का ही प्रतीक है और इसीलिए आश्वस्त भी करता है। क्योंकि पुराने के प्रति आक्रोश और नये की खोज जिन्दगी का परिचय देती है। नये लेखको में जो लोग प्रयोग को महज़ प्रयोग के लिए, अपनी विशिष्टता सिद्ध करने या दूसरो को चौकाने के लिए लेंगे, वे शायद दूर तक नही जा सकेंगे, जो विभिन्न प्रयोग कर के ऐसी शैली अपना लेंगे, जिसमें वे अपनी अनुभूतियो को अपने विशिष्ट ढंग से व्यक्त कर सकें और ज़िन्दगी भर टामकटोये न मारें, वे जरूर साहित्य पर अपनी शैली की अमिट छाप छोड जायेंगे।

इसके अतिरिक्त नये लेखक के लिए इस बात का भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि वह कैसा भी नया प्रयोग क्यों न करे, उसकी दृष्टि साफ रहे और जो वह कहना चाहता है, वह जरूर कह दे। यह नहीं कि वह कहना कुछ चाहे और छपी कहानी कुछ और कहे। 'अभिमन्यु की आत्म-हत्या' में ऐसी ही बात हुई है। कथ्य वहाँ बोधगम्य नही रहा और लेखक जो कहना चाहता है, वह नही कह पाया। कहानी की अन्तिम पंक्ति—'वह मेरी आत्मा की लाश थी' सारे कथ्य को झुठला देती है। मेरे ख़याल मे आत्मा की हत्या करके जो आदमी लौटता, वह यह कहानी न कहता। हुआ वास्तव में यह कि कथा का नायक आत्म की हत्या करने गया था, पर आत्म की लाश नही, सजीव आत्म को अपने कंधे पर लादे लौट आया। सुभद्रा उसके अन्तर की माँ, याने सृजन-शक्ति याने आत्म, और भी गहरे में जायँ तो—आत्मा ही का प्रतीक है। उसने उसे छोड़ा कहाँ ? ख़त्म कहाँ किया ? डुबाया कहाँ ? उसे तो वह ले कर चला आया

है, अपने शिशुओं के लिए, याने अपनी रचनाओं के पालन-पोषण के लिए....
ऐसा ही किंचित धुँधलापन मार्कण्डेय की 'घुन' मे भी है, लेकिन राजेन्द्र यादव ने अपनी कहानी 'खुले पंख : टूटे डैने' में थीम को वडी कुशलता से निभाया है और मार्कण्डेय की 'माही' छोटी होने पर भी, प्रयोग के नयेपन और संकेत (सज्जेशन) के अति सूक्ष्म होने के वावजूद, मन पर अमिट प्रभाव छोड जाती है। क्योकि जो वात मार्कण्डेय उस कहानी में कहना चाहता है, वह उसने वडी वारीकी, लेकिन पूरी सफ़ाई से कह दी है।

यहाँ एक बात वोधगम्यता के सम्वन्ध मे कहना चाहता हूँ। कई बार कहानी उच्चकोटि की होती है, पर चूँकि पाठक उसे उस ध्यान से नही पढता जिसकी यह अधिकारिणी होती है, इसलिए वह उसके मर्म पर उँगली नही रख पाता, यद्यपि सूत्र पा जाने पर वह बार-बार उसे पढ़ता है। लेखक मीठा हलवा वना कर कहानी पाठक के सामने रखे कि वह एक ही बार मे उसे गटक जाय, वोधगम्यता के नाम पर ऐसी माँग मैं नहीं करता। कहानी जहाँ अपने ही शिल्पगत दोष के कारण दुर्गम हो जाती है, वही मुझे शिकायत है; और 'अभिमन्यु की आत्म-हत्या' और 'घुन' ऐसी ही कहानियाँ है।

o

जहाँ तक मेरे मत का प्रश्न है, मैं समझता हूँ कि सवसे महत्व की चीज वस्तु और उसे देखने वाली दृष्टि है। उसके वाद शिल्प का स्थान है। १९३८ से '४८ तक उर्दू-कहानी में लगभग वे सभी प्रयोग किये जा रहे थे, जो कि आज हिन्दी में किये जा रहे है (कोई अन्वेषी वड़ी आसानी से उस वक्त की पत्रिकाओ को देख कर मेरे कथन की सच्चाई को जान सकता है) और उस वक्त आज की हिन्दी कहानी की तरह उर्दू कहानी की गति में वाढ पर आयी नदी का वेग था और कथाकारों की तीन पीढियाँ एक ही वक्त मे प्रतिस्पर्धा के साथ, सृजनरत थी। नये-नये प्रयोग आये दिन हो रहे थे। ऐन उस वक्त मॉपासाँ और मॉम के शिल्प से प्रभावित हो कर मंटो ने कहानियाँ लिखनी शुरू की और उसी पुराने-शिल्प को पूरी तरह अपना कर, अपनी वस्तु के नयेपन, दृष्टि की गहराई और गहन मानवीयता के साथ उर्दू कहानी साहित्य में अपने लिए अमर स्थान वना गया।

नये कथाकारों के सामने मैं मंटो की मिसाल रखना चाहता हूँ। शिल्प वे कोई भी अपनायें. यदि उनकी दृष्टि साफ़ और गहरी है, कहने के लिए उनके पास कुछ नया है, अपना है, अनुभूत है (चुराया या सयत्न अपने ऊपर

लादा हुआ नहीं) और उनके हृदय में गहरी मानवीयता है, तो जो वे लिखेंगे, सीधा दिल पर असर करेगा। और हिन्दी साहित्य ही नहीं, हिन्दी के माध्यम से विश्व साहित्य पर अपनी नक़्श छोड़ जायगा।

१९६१

पत्र-परिचर्चा

असामान्य अनुभव या साधारणता में छिपी गहराई

•

नयी कहानियाँ से रेणु और राकेश का पत्ता काटने के बाद भी भैरवप्रसाद गुप्त ने एक कॉलम 'हाशिये पर' श्री नामवर को दिया और दूसरा कॉलम 'जो लिखा जा रहा है' मार्कण्डेय जी को। नामवर, जैसा कि पहले विस्तार से बताया जा चुका है, अपने कॉलम मे अपने गुट के विरोधी नये सक्षम शहरी लेखकों को योजनाबद्ध रूप से काटने लगे। मार्कण्डेय जी ने पुराने प्रसिद्ध लेखकों को 'मटियामेट' करने का बीड़ा उठाया।

मार्कण्डेय ने उन दिनों उग्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय, अश्क पर लेख लिखे और 'नयी कहानियाँ' से भैरव के हट जाने पर 'माया' में यशपाल पर; और बड़ी सफ़ाई से उन्हें काटा और ब्रूटस के गुणो का बखान करने वाले मार्क-एण्टनी की भाषा मे उन लेखकों के गुण बताये और उनकी अच्छी कहानियों को निकम्मा साबित किया। इसकी कुछ हानि उन लेखको को हुई हो या नही, मार्कण्डेय जी को यह लाभ हुआ कि लोगों ने उन्हें कथाकार के बदले आलोचक मान लिया।

इसी सिलसिले में मार्कण्डेय ने पहला वार अश्क जी पर किया। और दिसम्बर, १९६१ में उन्होंने अश्क जी के कहानी-संग्रह 'पलँग' की समालोचना की—एक नयी टेकनिक से—उनकी बहुचर्चित कहानी ठहराव' की नायिका शक्को की सहेली मन्नो की ओर से अश्क जी के नाम लिखे एक पत्र के माध्यम से।

अश्क जी को पत्र पढ़ कर हैरत हुई, क्योंकि 'पलँग' की सभी कहानियाँ छपने से पहले उन्होंने अपने इन दोनो मित्रों को सुनायी थीं और मार्कण्डेय जी ने विशेष कर उनकी प्रशंसा की थी।

तब अश्क जी ने भैरव से कहा कि मै इस आलोचना का उत्तर लिखूंगा।

"तुम लिखो, मैं अगले महीने इसी कॉलम में तुम्हारा पत्र छापूँगा।" भैरव ने कहा।

"इसका उत्तर कुछ लम्बा होगा।"

"तुम लिखो, चार पृष्ठ तक लम्बा उत्तर मैं छाप दूंगा।"

यद्यपि अश्क जी 'कहानी' वाले अपने लेख के संदर्भ में अपने इस 'परम' मित्र की कायरता और बदनियानती देख चुके थे, पर उन्होंने लम्बा पत्र (नम्बर–१) लिखा और भैरव को दे आये।

उस शाम को मार्कण्डेय भैरव से मिलने गये तो वापसी पर वे अश्क जी को रिक्शे में जाते मिले। इतने भन्नाये हुए कि उन्होंने अश्क जी की 'हैलो मार्कण्डेय' का उत्तर नहीं दिया और मुँह फेर कर निकल गये। अश्क जी ने रिक्शा मोड़ लिया और उन्हें सिविल लाइन्ज जा पकड़ा। तब भैरव ने कहा कि मार्कण्डेय उतना लम्बा पत्र छापने का विरोध करते हैं। तुम उसे कुछ छोटा कर दो।

"पर तुमने कहा था—चार पृष्ठों का लिखो।" अश्क जी ने व्यंग्य किया, "तुम वही पुराने कायर हो!"

इस पर मार्कण्डेय आगे आ गये और उस तेजी से, जो उन्हीं का हिस्सा है, उन्होंने अश्क जी को समझाया कि लेख की किसी बात पर उन्हें आपत्ति नहीं, पर लेख लम्बा है। "अश्क जी, आप सभी युक्तियाँ रखें, पर उसे छोटा कर दें।" मार्कण्डेय जी ने कहा, "मेरा कॉलम तो कट नहीं सकता। इतने लम्बे पत्र के लिए जगह नहीं।" (जैसे सम्पादक भैरव नहीं मार्कण्डेय थे)।

"छोटा बहुत तीखा हो जायगा और तुम उसे बरदाश्त नहीं कर पाओगे।" अश्क जी ने कहा।

इस पर दोनों ने आश्वासन दिया कि नहीं, कैसा भी तीखा हो, पर पत्र छोटा होना चाहिए, क्योंकि लम्बा पत्र होगा तो मार्कण्डेय का कॉलम नहीं जा पायेगा।

"ठीक है, मैं एक पृष्ठ का पत्र लिख दूंगा।"

दूसरे दिन अश्क जी ने एक छोटा-सा पत्र (पत्र नं० २) लिखा और भैरव के घर ले गये।

पत्र पढ़ते ही भैरव बमकने लगे—"ठीक है, मैं इसे छापूँगा।...अब तो तुम्हें शान्ति मिलेगी।...अब तो तुम खुश हो।...मैं इसे छापूँगा...तुमको शान्ति मिलनी चाहिए।"

जितना भैरव चिल्लाते, अश्क जी मुस्कराये जाते। "नहीं पसन्द आया तो मैं एक और लिख देता हूँ। छोटे पत्र में तो जवाब इसी तरह दिया जा सकता है।"

"ठीक है, और तरह नहीं दिया जा सकता तो मै इसे ही छापूँगा!"... और वे सीने पर ज़ोर-ज़ोर से हाथ मारने लगे।

"मैंने यह छपवाने के लिए नहीं लिखा, तुम्हें यह बताने के लिए लिखा है कि मैं संक्षिप्त पत्र लिखना जानता हूँ और तीखी बात का उत्तर देना मुझे आता है। तुम इसे चाहे छापो नहीं, पर मार्कण्डेय को दिखा देना।"

और भैरव से पत्र वापस ले कर उन्होंने एक तीसरा पत्र लिखा, जो न पहले जितना लम्बा था और न दूसरे जितना छोटा। न पहले जितना व्याख्यात्मक न दूसरे जितना संघातक। और यह पत्र मार्कण्डेय के कॉलम 'जो लिखा जा रहा है' के अन्तर्गत 'एक औरत का पत्र' के उत्तर में जनवरी, १९६२ की नयी कहानियाँ में छपा।

अश्क के नाम एक औरत (मार्कण्डेय) का ख़त

०

इस बात का उल्लेख करते हुए कि शक्को (ठहराव की नायिका) के पत्र का उत्तर वह शक्को को देने के बदले अश्क जी को क्यो दे रही है मन्नो (मार्कण्डेय) ने अश्क जी को सम्बोधित करते हुए लिखा : कि जीवन अपने सहज रूप मे किसी पहले से तय किये हुए मोर्चे पर महज़ लेखक की कुण्ठा की पूर्ति के लिए संगठित नही हो सकता। हार-जीत के मिले-जुले योग के अन्दर ही से कोशिशो की छान-बीन हो सकती है—और होती भी है, पर चूंकि अश्क जी के लिए यह सब मनुष्य की दुर्बलताओ मे शामिल है और हर स्थिति मे सफलता की खोज को वे कला मे भी परम लक्ष्य बनाये हुए है, इसलिए प्रेम का कोई व्यवस्थित प्रसंग मिलते ही वे झट उसमें 'बिचवई' करने के लिए पक्षधर बन कर पत्र लिख देने की हद तक पहुँच जाते है। इसीलिए शक्को को न लिख कर मन्नो (जिसे ठहराव की नायिका शक्को ने पत्र लिखा था) अश्क जी ही को पत्र लिखती है। 'नाम में क्या रखा है अश्क जी,' मन्नो (मार्कण्डेय) कहती है, 'बात आपकी है, इसलिए यह उत्तर भी सीधे आपको लिख रही हूँ।'

०

['ठहराव' अश्क जी के कहानी-संग्रह 'पलँग' की एक कहानी है। जिसमें केवल एक पत्र है जो शक्को नाम की एक युवती अपनी शादी के दो वर्ष बाद अपनी सहेली मन्नो का पत्र पा कर उसे उत्तर मे लिखती है। मार्कण्डेय मन्नो बन कर न केवल शक्को के उस पत्र का उत्तर अश्क जी को देते है, वरन उस पत्र में पलँग की अन्य कहानियो की छिछली समालोचना भी करते है :]

०

'ठीक भी है,' मन्नो (मार्कण्डेय) अश्क जी को लिखती है, 'शक्को आपकी रचना है, इसलिए यदि उसके मुँह में आपने अपनी ज़बान और सीने मे अपना दिल रख दिया है तो इसका बुरा नही माना जाना चाहिए। सभी ऐसा करते है, लेकिन सच्चाई के नज़दीक वही पहुँचते है, जिनके पास चरित्र और उसके पूरे परिवेश की समझ और उसकी रचना के लिए शिल्पगत कुशलता होती है।' और यो शुरू करके मन्नो (मार्कण्डेय) लिखती है कि अश्क जी के पास वह शिल्प-

गत कुशलता नही है, यह कहने की धृष्टता तो वह नहीं करेगी, पर इतना ज़रूर कहना चाहेगी कि 'ठहराव' में आवेग और ममता की जो कसौटियाँ अश्क जी ने निर्मित की है, वे शब्दार्थ में तो गलतफहमी पैदा करती ही हैं, कहानी के घटना-चक्र और रचना-प्रक्रिया की कमजोरियों के कारण और भी बेमानी हो उठी है—कि हेमी और नागपाल, दोनों के लिए अश्क जी कथा में जो प्रसंग लाये है, उनमें न तो आवेग हैं और न ममता।

"बेचारा हेमी रात में सोते मे चौंक कर पूछता है 'कौन ?' और अश्क जी की शक्को रानी उत्तर देती है, 'मै शक्को !'" और यों व्यंग्य कर के मन्नो कहानी से उद्धरण देती है, 'मेरे (शक्को के) होंटों से बमुश्किल आवाज़ निकली और दूसरे ही क्षण मै उसके सीने से चिमट गयी,' और कमेंट करती है कि इस प्रक्रिया में आवेग होता तो शक्को जी बच्चे से हो जाती और यदि शक्को की जगह मन्नो होती तो हेमी के इस ठण्डेपन का पूरा मज़ा चखाती और उसे तीसरे सेक्स का मान बैठती । और लिखती है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि यह शक्को का आवेग था तो नागपाल के संपर्क ही में शक्को को कौन-सी ममता मिली ? सुहागरात को, बड़े ही उकता देने वाले ढंग से, वह अपनी मृत माँ की कथा ले बैठा और खासे सिनेमाई ढंग से दोनो जने माँ की तस्वीर के सामने पहुँच गये—यही गनीमत है कि शक्को ने उस समय कोई गाना नही शुरू किया, नही पूरी तरह फ़िल्मी दृश्य प्रस्तुत हो जाता।

इसके बाद मन्नो (मार्कण्डेय) नौकर के साथ माँ की कृपा वाले प्रसंग की आलोचना करती है और लिखती है कि वह प्रसंग भी 'स्टेल' और सतही है; कि बेचारी माँ की ओर पल भर को भी किसी का ध्यान नही जाता ।

मन्नो (मार्कण्डेय) को इस बात में भी आपत्ति है कि नागपाल सुहाग-कक्ष में प्रवेश करते ही अपनी दुलहिन से यह पूछ बैठता है कि उसे कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई और बेचारी चाची की शिकायत करने लगता है, जो विवाह के प्रबन्ध में लगी हुई थी । यह आपत्ति करने के बाद मन्नो लिखती है, "अगर शक्को में ममता उमड़ आने के महज़ यही कारण थे तो इसमें ज़रा भी सन्देह नही कि मात्र लेखक ने इस ममता-भरे स्नेह की अनुभूति की होगी ।"

(इतना लिखने के बाद मन्नो भूल जाती है कि वह साधारण लड़की है और एकदम मार्कण्डेय की भाषा में बोलने लगती है :)

"यदि खींच-तान कर भी इन्हें (नागपाल और शक्को को) दो विश्वसनीय मानव-चरित्रों की संज्ञा दी जाय तो भी कहानी के शिल्पगत गठन की कमज़ोरियो

के कारण वे ग्राह्य नहीं होते।" और इस बात पर अफसोस प्रकट करती है कि इन्हीं दोनों चरित्रों को 'ठहराव' के लेखक की सहानुभूति प्राप्त है, क्योंकि ममता की नींव पर प्रेम की इमारत खड़ी करने का भार इन्ही के कमज़ोर कन्धों पर आ पड़ा है। मन्नो (मार्कण्डेय) को इस बात पर हैरत होती है कि जो पात्र अश्क जी की मान्यताओं का बोझ ढोने का काम करते हैं, वे ही कृत्रिम हो उठते हैं। हाँ, हेमी ज़रूर ज़िन्दा पात्र है, क्योंकि वह शक्को के आवेग की धार पर अपनी सारी सहजता के कारण बलिदान हो चुकता है। यही कारण 'झाग और मुस्कान' (पलँग की एक अन्य कहानी) के 'हरिया' की शक्ति का है, जो अपनी सारी विसंगतियों के साथ उभर आता है और एक समर्थ और श्रेष्ठ चरित्र के रूप में उस कहानी की रीढ़ बन जाता है (और यही मन्नो (मार्कण्डेय) 'ठहराव' की आलोचना भूल कर उसके लेखक पर सीधा व्यक्तिगत आक्रमण करते हुए लिखती है :) "मुझे बार-बार लगता है : जैसे अपने वैयक्तिक अनुभवों के लिए ही आपका रचनाकार पूर्णतः समर्पित है और अपने पर इस कदर लुभाये रहने के कारण आपकी सहानुभूति के चरित्र मशीनी हो उठते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आपके जीवनानुभव ही असामान्य हैं।"

अपनी इस बात को मन्नो (मार्कण्डेय) यों व्याख्यायित करती है कि अश्क जी ने अपनी कहानी 'पलँग' के लिए फिर सुहाग-कक्ष ही को चुना है और फिर बेचारी माँ को प्रेत की तरह पृष्ठभूमि मे ला खड़ा किया है।

मन्नो (मार्कण्डेय) का यह कहना है कि अवान्तर प्रसंगो के बावजूद 'ठहराव' के नागपाल और 'पलँग' के केशी में कोई अंतर नही। इन दोनों चरित्रों के पीछे कलागत अन्तर्संघर्ष की कोई पीठिका नही उभरती। इतना जरूर लगता है कि इन पात्रों के सर्जक के मन में इन चरित्रों के लिए कोई उद्वेग है जरूर, पर उन्हें 'कलागत सौष्ठव' प्रदान करने मे किन्हीं कारणों से वह सफल नही हो पाया।

इतना ही नही मन्नो (मार्कण्डेय) को तो यह भी लगता है कि 'झाग और मुस्कान' के मल्होत्रा और 'बेबसी' (पलँग की एक अन्य कहानी) के लाल को भी लेखक ने उसी मिट्टी से गढ़ा है। उम्र चूँकि इन दोनो की ज्यादा है, इसलिए 'हिसाब-किताब' में ये और भी 'प्रवीण और अधिक ठण्डे' हैं, लेकिन यदि उन दोनों की सुहागरात का हाल किसी तरह मालूम किया जाय तो मन्नो (मार्कण्डेय) को पूरा यकीन है कि नागपाल और केशी की अपेक्षा उस रात उन दोनो ने कम नाटक न किया होगा।

यह सब लिखने के बाद, मन्नो फिर एक बार यह भूल जाती है कि वह

औरत है और मार्कण्डेय के स्वर में बोल उठती है—"आवेग (जिसे मैं शक्ति मानती हूँ) की कमी को पूरा करने के लिए किसी भी अन्य मानवीय प्रकृति को प्रेम के आधार के रूप मे मानना स्वयं अपने में एक वड़ा असंतुलन है। बहर-हाल मेरी राय तो यह है कि इन चरित्रों को आप कुछ दिन असली शिला-जीत के सेवन की सलाह दें।"

लेखक को यह सद्‌परामर्श देने के बाद मन्नो (मार्कण्डेय) सेक्स पर अपने विचारों के मोती बिखेरती हुई अश्क जी को विश्वास दिलाती हैं कि वह शक्को का मजाक नही उड़ा रही, कि उसे शक्को की मानसिक पीड़ा का पूरा आभास है। सेक्स और एकातिक जीवन में समझौता कर के जीने वाली स्त्री संसार में सबसे दयनीय होती है और उस हालत में तो और भी, जब वह एक संतुलित और सहज व्यक्ति (हेमी) की चहेती रह चुकी हो।

मन्नो (मार्कण्डेय) के ख़याल में औरत कोई अलग जीव नही है। वैसे ही जैसे आवेग के विना प्रेम कोई चीज़ नही है। औरत को पहेली मान कर ममता, आवेग आदि के द्वारा अपने को जीवित रखने और रेशे उधेड़ने मे वह कोई बुराई नही मानती, पर इतना वह ज़ोर दे कर कहना चाहती है कि प्रेम की प्रतिक्रिया स्त्री-पुरुष दोनों में होती है। उसके स्तर भिन्न हो सकते है, पर वह इकतरफा नहीं होती। बहुत-से पुरुष स्त्री की तरह और स्त्रियाँ पुरुष की तरह प्यार चाहती हैं और मन्नो ने जो कुछ भी इस संदर्भ में जाना समझा है, उससे वह इसी परिणाम पर पहुँचती है कि सेक्स के साथ आवेग निहायत जरूरी है। विना सेक्स के प्रेम की वात करना 'मानवीय राग के प्रवेश-द्वार की अनभिज्ञता' ही प्रदर्शित करेगा। कि ममता का द्वार उसके वाद पड़ता है; लेकिन मन्नो को लगता है कि अश्क जी वहाँ पहले ही घुसे वैठे हैं और अब तक भूल चुके हैं कि वहाँ तक पहुँचने का पहला दरवाज़ा कौन-सा था।

'ठहराव' की इतनी लम्बी विवेचना और लेखक पर व्यक्तिगत आक्षेप करने के वाद मन्नो लिखती है कि संग्रह (पलँग) के मुख्य स्वर के रूप में विज्ञापित कहानियाँ (पलँग, झाग और मुस्कान, ठहराव, वेबसी और एम्बेसेडर) अश्क जी के कलाकार की मुख्य उपलब्धियाँ नही। उन्हें विरुद्ध-भाव-प्रकृति की रचना में ही सफलता मिलती है—जहाँ कि वे आलोचक होते है और असम्पृक्त हो कर व्यंग्य अथवा विरोध करते हैं। 'खाली डिब्बा' (पलँग की एक अन्य कहानी) मे इसीलिए चरित्रो के कोण साफ़ उभरे हैं और वात बन गयी है।

'झाग और मुस्कान' के 'हरिया' पर लेखक को बधाई भेजते हुए मन्नो इस

बात पर खेद प्रकट करती है कि उसमें प्रोफेसर मल्होत्रा के बेमानी अनुभव-तन्त्र का बेकार जाल बुन दिया गया है।

अन्त मे मन्नो, मार्कण्डेय नही, सचमुच मन्नो बन जाती है और लिखती है :

"हेमी अच्छा है, अश्क जी, मैंने उसे सम्पूर्ण विरोधाभासों और अन्तर्संघर्षो मे पाया है। इसलिए शक्को की तरह मेरे आगे हार-जीत की कोई बाजी नही है—प्रेम के किसी आगामी अनुभव से इस सम्बन्ध की भर्त्सना करने का भी मेरा इरादा नही है। वरना इस विस्तृत संसार में प्रेम का अनुभव ही जोड़ती रह जाऊँगी। इसलिए मै हेमी से पढती हूँ—भावनाओं के चक्कर मे भी पड़ गयी हूँ, अच्छे नम्बरों से पास हो कर हेमी से विवाह भी करना चाहती हूँ। आशा है, आशीर्वचन ज़रूर भेजेंगे।"

और नीचे नाम है :

स्नेहाधीन आपकी (ठहराव की)

मन्नो

अश्क का पत्र : एक औरत के नाम-१

●

प्रिय मन्नो,

'नयी कहानियाँ' में अपने नाम तुम्हारा पत्र पढा। तुमने मुझे सीधा खत लिखा होता तो वह ऐसा न होता, तुम्हारी ओर से बात कहते-कहते मार्कण्डेय यह भूल जाते है कि बात एक लडकी लिख रही है, किसी हिन्दू घराने की अनब्याही लड़की ! क्योंकि शिलाजीत की बात तुम क्या लिखतीं, जबकि ब्याही लड़कियों को भी उसका पता नही होता। जिनके पति शिलाजीत खाते है, वे भी उसे थके दिमाग की दवा ही बताते है। तुम ऊँचे घराने की माडर्न लडकी, तुम लिखती भी तो किसी हार्मोन की बात लिखती, शिलाजीत की नही। मार्कण्डेय ने शायद अपने अनुभव से यही बात लिख दी और भूल गये कि पत्र एक लड़की लिख रही है।

लेखक ने अपनी कुण्ठा कहानी में व्यक्त की है, यह इम्प्रेशन भी मार्कण्डेय का है, तुम्हारा नही, क्योकि तुम तो जानती हो, यह कहानी किसी लड़की (शक्को असली नाम नही) ही की है, मुझे तो उसे लिख भर देने का श्रेय है !

शक्को, तुम जानती हो, मेरी पत्नी की भी सहेली है। उसी के माध्यम से जब मैने उसकी कहानी सुनी तो मैने भी यही समझा था कि शक्को ने अपने समझौते को आदर्श का नाम दे दिया है और यदि वह सच ही नागपाल से प्रेम करने लगी है तो इतनी ही बात नही कि सुहागरात को अपनी स्वर्गीया माँ की बातें सुनाते-सुनाते वे आर्द्र हो आये और शक्को रानी अपने उस पहले प्यार को भूल बैठीं और उनकी ममता उमड़ आयी।

शक्को के हृदय मे ममता उमड़ी ज़रूर, क्योकि उसने ऐसा ही कहा था, लेकिन उस ममता के पहले निश्चित रूप से वह अपने पति की ओर आकर्षित हुई। यही बात बाद में मैने शक्को से जिरह कर के जान ली। तुमने शक्को के पत्र को ध्यान से पढ़ा होता तो तुम भी इसे जान लेती। नागपाल बेहद सुन्दर है—हेमी के मुकाबिले में कही सुन्दर—और सुन्दरता ऐसी महत्वहीन चीज़ नही कि उसे नज़र-अन्दाज कर दिया जाय। तुम लड़की हो, सीने पर हाथ रख कर कहो कि क्या सुन्दरता का आकर्षण मामूली आकर्षण है ?....तुमने शक्को के इन शब्दो को ध्यान से नही पढ़ा, जो उसने नागपाल जी के बारे में लिखे है—

"सच कहूँ तो पहली बार उन्हें नज़र भर के देखा—गोरा-चिट्टा रंग, चौडा माथा, वड़ी-वड़ी आँखें, गोल चेहरा, गठा हुआ बदन और मँझला कद—कुर्ते और पायजामे में वे वडे ही अच्छे लगते है।"....और यह अनजाना आकर्षण हो वह कारण था कि कुछ क्षण बाद ही अपने क्रोध को भूल कर वह अनायास मजाक कर बैठी—"तो क्या लड़ूँ भी अपने ही से!"....यह कहते ही उसने अपनी जीभ काट ली ज़रूर, पर सौंदर्य का जादू तो चल चुका था। हार तो वह उसी क्षण गयी थी। बाकी तो उसे केवल वहाना चाहिए था। यह और बात है कि अपनी विशिष्ट मानसिक स्थिति और व्यक्तिगत कारणो से उसके पति ने वही वहाना उसे जुटा दिया। रही उसकी ममता, तो यह भी उस मुहब्बत ही का दूसरा नाम है, जो अपने पति के लिए—विशेषकर उसके सौदर्य और सादगी के कारण—उसके मन में जगी।....हो सकता है कि नागपाल तथा-कथित जवाँ-मर्दों की तरह कोई दूसरी वात किये विना उसे पलँग की ओर घसीटते तो वह अपने क्रोध में उस सौंदर्य को न देख पाती, पर उन थोडे क्षणों मे, जव वे अपनी बात कहते रहे, उनका सौदर्य और सौम्यता उस पर अजाने ही अपना प्रभाव करती रही।

यहाँ यह सवाल जरूर उठता है कि एक आदमी को तीव्र रूप से चाहने के बाद किसी दूसरे की ओर इतनी जल्दी आकर्षित हुआ जा सकता है? इस सम्बन्ध मे तुम्हे सिर्फ़ इतना ही कहूँगा कि अपने अन्तर मे झाँको और खुली आँखो से दुनिया को देखो तो तुम इस सत्य को पा जाओगी! यदि हेमी शक्को को इतना चाहने के बाद तुम्हें चाह सकता है तो शक्को ही नागपाल को क्यों नही चाह सकती, जो कि उसका पति भी है? क्या इसलिए कि वह औरत है और औरत के बारे मे यह प्राय: कहा जाता है कि वह एक वार जिसे दिल दे देती है, उसी के नाम की माला जपती रहती है। तो इस सम्बन्ध मे मन्नो, मै तुमसे कहूँगा कि इससे वड़ा झूठ दूसरा कोई नही है। मर्द औरत में, मै इस संदर्भ में कोई अंतर नही मानता। यह कहानी तो खैर बहुत पहले लिखी गयी, पर यदि तुम नयी कहानियाँ पढ़ती हो तो तुमने मन्नू की कहानी 'यही सच है' जरूर पढी होगी, जो इसी सत्य की ओर संकेत करती है।

नागपाल जी ने सिनेमाई ढंग से अपनी बात ज़रूर कही है, पर वह तुम्हारी या मार्कण्डेय जी की तरह तथाकथित इन्टलेक्चुल नहीं हैं। हो सकता है, उन्होंने किसी फिल्म में कोई दृश्य देखा हो और अपनी बात कहने के लिए अजाने ही उसकी पुनरावृत्ति कर दी हो। शक्को ने जैसी बात सुनायी, मैंने थोड़े हेर-फेर

के साथ लिख दी। मै लेखक के नाते, बना कर कुछ दूसरी बात भी लिख देता तो इससे बात मे कोई अंतर नही पड़ता। सिनेमा का प्रभाव आम लोगों के जीवन में कहाँ पड़ता है, यह भी इससे परिलक्षित होता है और चूँकि यह मेरा प्रिय विषय है, इसलिए उस बात को बदलने की मैंने जरूरत नही समझी !....अभी मै कैलिमपॉन्ग से आ रहा था कि सिलीगुडी के स्टेशन पर गाडी चल कर फिर रुक गयी। मालूम हुआ कि एक लडकी किसी आवारा लौंडे के चक्कर मे पड़ गयी, जो उसे भगा कर बम्बई ले जा रहा था। घर से भागते वक्त वह लड़की अपने बाप की मेज़ पर लिफ़ाफे में सिर्फ एक वाक्य लिख कर रख आयी थी—'प्यार किया तो डरना क्या'—बाप ने जल्दी की और गाड़ी छूटने से पहले उन्हें पकड़ लिया, वरना उस प्रेम और आवेग की माहीयत उस पर भली-भाँति खुल जाती।....

नागपाल द्वारा अपनी माँ के सिलसिले में बातें ऊबा देने वाली और 'स्टेल' है, हो सकता है, पर साधारण जीवन निहायत ऊबा देने वाला और स्टेल है, लेकिन वही बार-बार दोहराई जाने वाली बातें जिन्दगी को असर-अन्दाज़ करती रहती है, और मै उनमें बहुत कम तोड़-मरोड करता हूँ। दूर की कौड़ी लाने में मेरा विश्वास नही, ज़िन्दगी को यह साधारणता और स्टेलनेस ही कई बार इतनी गहराई दे जाती है कि विशिष्टता के चक्कर में कल्पना को दौड़ाने की मै ज़रूरत नही समझता।

शक्को रानी आवेग मात्र से बच्चे से हो जाती, यह तुमने बड़ी ही आवेग-भरी नासमझी की बात कही है। उसके लिए हेमी में आवेग होना जरूरी था और हेमी की आवेगहीनता के कारण सुस्पष्ट है। हेमी कैरियरिस्ट है और कैरियरिस्ट प्रेम को कभी अपने मार्ग की बाधा नही बनने देता। वह मजनूं या फ़रहाद की तरह का प्रेमी होता तो उसे बच्चे से कर देता या भगा कर ले जाता या तुम्हें चाहने के बदले 'शक्को', 'शक्को' पुकारता और सिर धुनता फिरता, पर वह निम्न मध्यवर्ग का भीरु प्रेमी है। तुम्हारे सिलसिले में चूंकि वे सब बन्धन नही है, इसलिए हो सकता है, उसमें वह कायरता या आवेगहीनता चरितार्थ न हो और तुमने उसका दूसरा रूप ही देखा हो।

मैंने शक्को का पत्र लिखने के बाद पहले तुम्हारी ओर से शक्को को चार पंक्तियो का एक उत्तर भी लिखा था कि तुम शक्को के उस पत्र के बावजूद हेमी को चाहने लगी हो और उससे शादी कर रही हो। (मार्कण्डेय को वह अंत पसन्द था) पर दोबारा लिखते वक्त मैंने उसे काट दिया। तुमको अच्छी

तरह जानते हुए शक्को को इस बात का एहसास है कि तुम उसके चक्कर मे पड़ोगी और यह बात उस पत्र ही से जानी जा सकती है। फिर तुम्हारा हेमी से विवाह करना या न करना शक्को की कहानी में कोई महत्व नहीं रखता।

एक बात इस सिलसिले में और कहनी है, शक्को उस रात चाहे नागपाल की ओर आकर्षित हुई हो, पर वह आवेग और गहरे प्यार में अंतर भी उसी दिन जान पायी हो, ऐसी बात नही। जाने उसे कितनी बार अपने उस आवेग की याद आयी होगी, जाने उसने कितनी बार नागपाल से हेमी का मुकाबिला किया होगा। ये सब बातें मैंने शक्को से नही पूछी कि शक्को तुम्हारे जितनी मार्डन नहीं, पर उसने यही बात अपने विवाह से दो वर्ष बाद बतायी और मैंने अन्दाजा लगाया कि वह नापुख्ता नही रही है और प्रेम-प्रेम में अंतर करना जान गयी है। इसीलिए कहानी का नाम 'ठहराव' है। कहानी कहने के लिए मैं ज़िन्दगी को झुठलाता नही। शादी से बाद अपने पहले प्यार के कारण अपने पतियों को जीवन भर मन से अंगीकार न करने वालियों की संख्या हमारे यहाँ कम नही, पर अपने पहले प्यार के बावजूद पतियों को चाहने वालियों की संख्या भी काफी है।

सुहागरात ही को नागपाल अपनी माँ को किस्सा निहायत उबाऊ ढंग से ले बैठे, इस पर तुम्हें आश्चर्य होता है, पर हेमी से तुम्हारी शादी हो तो देखना कि वही उस रात अपनी विधवा माँ और अपने संघर्ष की कितनी कहानियाँ तुम्हें सुनाता है। दुर्भाग्य से सुहाग-कक्षों मे टेप-रेकार्डर नही होते, वरना उस अति साधारण स्थिति पर आश्चर्य प्रकट करने और विशिष्टता का आग्रह ले कर चलने वाले कहानीकारों को जाने कितनी बार दाँतो तले उँगली दबानी पड़े।

रही पलँग की दूसरी कहानियों की बात तो बल्ली, जब तुम अपनी सहेली के मनोविज्ञान ही को नही समझ सकी, जिसे तुम इतने निकट से जानती हो, तो उन कहानियो की बारीकियो को क्या समझोगी, जो ऐसे लोगों के अनुभवों पर लिखी गयी हैं, जिन्हें तुम नही जानती। फिर 'मेरी कहानियाँ जीवन का प्रतिबिम्ब होते हुए भी उसकी साधारणता में छिपी गहराई को उजागर करती है, इसी कारण कई बार दूसरों को मेरे अनुभवों में असाधारणता लगती है।' सवाल आँखों और आँखों का है। कुछ आँखों मे बीनाई होती है, पर बारीकबीनी नही होती; वे केवल स्थूल को देखती हैं। मै क्या करूँ मेरी आँखें स्थूल से परे भी बहुत कुछ देखती है और जब मै अपने देखे हुए सत्य को अनुभव की तुला पर तोल लेता हूँ और उसकी सच्चाई में मुझे विश्वास हो

जाता है तो मैं उसे कहानी के माध्यम से व्यक्त कर देता हूँ। स्थूल आँखों से देखने वालों को वह गलत, झूठा, काल्पनिक या अविश्वसनीय लगे तो मैं क्या कर सकता हूँ! कहानी मैं केवल मनोरंजन के लिए नही लिखता, यद्यपि इस बात का खयाल रखता हूँ कि वह नितान्त विरस न लगे, लेकिन मनोरंजन से ज़्यादा भी कुछ मैं उसमें देना चाहता हूँ। हाँ, यह बात जरूर है कि जो पाठक मनोरंजन से ज्यादा भी उसमे कुछ पाना चाहते है, उनके लिए कहानी को दोबारा या सहबारा पढ़ना ज़रूरी है। मै जानता हूँ, मेरे कुछ नये कथाकार मित्र मेरे इस दावे से बडे झल्लाते है, पर मैं उत्कृष्ट कथाकृति का यह गुण मानता हूँ कि जितनी बार उसे पढ़ा जाय, वह नया अर्थ और नया रस दे। कई बार केवल एक शब्द या वाक्य या एक संकेत कहानी के नये 'ऐवेन्यूज़' पाठक के सामने खोल देता है और सरसरी नज़र से कहानी पढ़ने वाला प्रायः उन्हें नजर-अन्दाज कर जाता है।

लाल या मलहोत्रा या केशी की कमज़ोरी का उल्लेख करना गौण पात्रो को आलोचना का विषय बना कर कहानी को 'डिवंक' और 'डिरेल' करने के बराबर है। हालाँकि उन तीनो कहानियो में क्रम से आया, लल्लन और केशी की माँ ही प्रमुख पात्र है। उनके मनोविज्ञान, कुण्ठाओ या ग्रन्थियो को उभारने के लिए वैसे पात्रो का सहारा लिया गया है। यदि वे पात्र वैसे कमजोर, शरीफ़ या नाज़ुक-मिज़ाज न होते तो आया, लल्लन या केशी की माँ की बात उतनी सफाई या बारीकी से कही ही न जा सकती। उन्हें 'डिसकस' करने के बदले इन गौण पात्रों को ले बैठना आँख फोड़ने के लिए घुटने पर लाठी मारने के बराबर है। कथाकार पेट्रोमैक्स की तरह रोशन एक सत्य दिखाना चाहता है, पर दिखाता है ढिबरी के माध्यम से। तुम्हारा यह प्रयास पेट्रोमैक्स को न देख कर ढिबरी की कमज़ोरी ही को देखने के बराबर है।

पत्र लम्बा हो गया है। मुझे सीधे पत्र लिखती तो मैं उन कहानियो पर विस्तार से रोशनी डालता। मेरी बातो के प्रकाश में उनको ध्यान से पढोगी तो निश्चय ही उन सत्यो को पाओगी, जिनको दिखाने के लिए मैंने उन कहानियो को लिखा है।

सस्नेह
अश्क

●

अश्क का पत्र : एक औरत के नाम-२

●

प्रिय मन्नो,

तुम्हारे माध्यम से मुझ तक मार्कण्डेय की बात पहुँची। मैं तुम्हारे पत्र का क्या उत्तर दूँ ? मेरा यह पुराना अनुभव है कि जब तक युवा लेखक अपने कृतित्व के प्रति पूर्णतः आश्वस्त नही होता, वह जबानी चाहे किसी रचना की कितनी भी प्रशंसा क्यो न करे, प्रिंट में कभी नहीं करता—विशेषकर अपने से बेहतर लेखको की। वह किसी बहुत अच्छी कहानी को पढ़ता है तो उसे 'डिबंक' या 'डिरेल' करने का प्रयास करता है। वह उसके आधारभूत विचारों को नही छूता, उसके प्रमुख पात्रों को भी नही लेता, कही इधर-उधर से उनमें कमज़ोरियाँ ढूँढ़, अथवा उसके गौण पात्रो को विवेचन का विषय बना कर नितान्त अप्रासंगिक बातें उठा कर, उनका मज़ाक उड़ाता है। मार्कण्डेय इसके अपवाद नहीं, इसका मुझे अफसोस है। इतनी देर लिखते रहने के बाद उनमे कुछ कॉन्फिडेन्स आ जाना चाहिए था।

कहानी 'ठहराव' हो या 'झाग और मुस्कान,' 'बेबसी' हो या 'पलँग,' नागपाल या मलहोत्रा, लाल या केशी उसके प्रमुख पात्र नहीं हैं। उनमें प्रमुख पात्र उन कहानियो की नारियाँ हैं—शक्को, लल्लन, आया और केशी की माँ। उन नारियो के जिन मनोभावो को, उनके मनोविज्ञान के जिन तान-पलटों को, उनके जिन दबे-छिपे आवेगो अथवा आकांक्षाओ को, और उनके मन या तन की जिस भूख को मै दिखाना चाहता था, उसके लिए 'ठहराव' में एक ओर हेमी और दूसरी ओर नागपाल, 'झाग और मुस्कान' में एक ओर मल्होत्रा और दूसरी ओर हरिया, 'बेबसी' मे लाल और 'पलँग' मे केशी जैसे पात्रों की ही जरूरत थी। इनमें से एक भी पात्र रंच भर इधर-से-उधर होता तो बात कभी न कही जा सकती। तुम यह सवाल उठा सकती थी कि ऐसी कहानियाँ लिखने का क्या उद्देश्य है ? लेकिन पात्र कमजोर है, यह कहना बेसमझी का सबूत देना है। मार्कण्डेय यदि उपरोक्त प्रमुख पात्रो की शक्ति अथवा कमज़ोरी को ले कर कुछ लिखते तो मैं उत्तर देता। अब उन्होने किसी पात्र को कमजोर कहा है तो मुझे दुख नही हुआ और किसी पर बधाई दी है तो प्रसन्नता नहीं हुई, क्योंकि उन्होने गौण पात्रो को ले कर अप्रासंगिक बातें लिखी है। मलहोत्रा जरा भी दबंग पात्र

होता (तुम्हारे शब्दो मे, शिलाजीत खाये हुए) तो वह कमजोरी के क्षण मे, लल्लन को दबोच लेता, कहानी वही खत्म हो जाती और उस स्वस्थ लेकिन अपढ़ मेहतरानी के अन्तर में छिपी बारीक तहो को दिखाना असम्भव हो जाता। और हरिया ज़रा भी कमजोर पात्र होता तो लल्लन सदा उसे जूते के तले रखती, बुला कर साबुन से न नहलाती।

अब रहा इन पात्रो को जरा-सा शिलाजीत खिलाने का तुम्हारा व्यंग्य। तो भाई, नागपाल, मल्होत्रा, लाल अथवा केशी तो किंचित ठंडे पात्र है, नपुसक नही है, हो सकता है शिलाजीत के सेवन से उनमें थोड़ी-सी गर्मी आ जाती, पर मार्कण्डेय की पुरानी कहानी 'उत्तराधिकार' और नयी 'पक्षाघात' के नायक तो नितांत नपुंसक है। उन्हे तो टेस्टोस्टेरॉन के इन्जेक्शन भी नही उठा सकते। मेरे ठंडे पात्रो के माध्यम से मुझ पर जो व्यक्तिगत व्यंग्य किया गया है, क्या वह तुम मार्कण्डेय पर भी करोगी? कहानी के पात्रो मे इस तरह लेखक को ढूंढना बड़े गलत नतीजो पर पहुँचा देता है, मन्नो।

अच्छी रचना को पढ़ कर पसन्द करने के लिए गहरी समझ-बूझ चाहिए (मार्कण्डेय में वह है, क्योंकि जब ये कहानियाँ मैंने लिखी थी तो उन्होने सुनी थी और पसन्द की थी) लेकिन प्रिंट या कॉलम में सामूहिक रूप से उसकी प्रशंसा करने के लिए बड़ा दिल, साहस और अपने कृतित्व के प्रति पूर्ण आश्वस्तता की अपेक्षा है (वह दुर्भाग्य से अभी कुछ अन्य युवा लेखको की तरह उनके पास भी नही है।) पर ज्यो-ज्यो वे हीनभाव से मुक्त होगे, वह निश्चय ही यह करना भी सीख जायँगे, इसकी मुझे आशा है।

तुमसे मैं फिलहाल यही कहूँगा कि मार्कण्डेय की 'उत्तराधिकार' और 'पक्षाघात' ध्यान से पढ़ो, यदि पढ़ सको, क्योंकि वे खासी उलझी (बारीक नही) कहानियाँ है और फिर उतने ही ध्यान से मेरी इन चारों कहानियो को पढो, तुम्हें अपनी सभी बातो का उत्तर मिल जायगा।

सस्नेह
अश्क

●

अश्क का पत्र : एक औरत के नाम-३

प्रिय मन्नो,

तुम्हारे माध्यम से मुझ तक मार्कण्डेय की बात पहुँची। मै तुम्हारे पत्र का क्या उत्तर दूँ? तुमने किसी कहानी के आधारभूत विचार को नही छुआ, उनके प्रमुख पात्रों को नही लिया, इधर-उधर से उनकी कमजोरियाँ ढूँढ, उनके गौण पात्रो को विवेचन का विषय बना कर नितान्त अप्रासंगिक बातें उठा, उनका मजाक उडाया है और उन गहरी कहानियों को 'डिरेल' या 'डिबंक' करने का प्रयास किया है।

कहानी 'ठहराव' हो या 'झाग और मुस्कान,' 'बेबसी' हो या 'पलँग,' नागपाल या मलहोत्रा, लाल या केशी उनके प्रमुख पात्र नही है। उनके प्रमुख पात्र कहानियों की नारियाँ है—शक्को, लल्लन, आया या केशी की माँ। उन नारियाँ के जिन मनोभावों को, उनके मनोविज्ञान के जिन तान-पलटों को, उनके जिन दबे-छिपे आवेगो अथवा आकाक्षाओ को और उनके मन या तन की जिस भूख को मै दिखाना चाहता था, उसके लिए 'ठहराव' में एक ओर हेमी और दूसरी ओर नागपाल, 'झाग और मुस्कान' में एक ओर मलहोत्रा और दूसरी ओर हरिया, 'बेबसी' में लाल और 'पलँग' में केशी—जैसे पात्रो की ही जरूरत थी। इनमे से एक भी पात्र रंच भर इधर-से-उधर होता तो बात कभी न कही जा सकती।

तुम यह सवाल उठा सकती थीं कि ऐसी कहानियाँ लिखने का क्या उद्देश्य है? यह अथवा वह पात्र ठण्डा या कमजोर है, यह कहना कहानी को उसके आधारभूत विचार की पटरी से डिरेल करके डिबंक करने के बराबर है। तुम यदि उपरोक्त पात्रियो की शक्ति अथवा कमजोरी (स्ट्रेंथ या वीकनेस) को ले कर कुछ लिखती और कहानी के शिल्प या बिनावट को ले कर कोई आधारभूत बात उठाती तो मै उत्तर देता। अब यदि तुमने किसी पात्र को कमजोर कहा है तो मुझे दुःख नही हुआ और यदि किसी की सहजता, अथवा शक्ति की दाद दी है तो खुशी नही हुई, क्योंकि तुमने जो बातें लिखी है, वे गौण पात्रो को ले कर लिखी है और नितान्त अप्रासंगिक हैं। मलहोत्रा जरा भी दबंग पात्र होता (तुम्हारे शब्दों में, शिलाजीत खाये हुए) तो वह कमज़ोरी के क्षण में लल्लन को दबोच लेता,

कहानी वहीं ख़त्म हो जाती और उस स्वस्थ लेकिन अपढ़ मेहतरानी के अन्तर में छिपी बारीक तहों को दिखाना असम्भव हो जाता और हरिया ज़रा भी कमजोर पात्र होता तो लल्लन सदा उसे जूते-तले रखती, बुला कर यो साबुन से न नहलाती।

अब रहा उन पात्रो को ज़रा-सी शिलाजीत खिलाने का तुम्हारा व्यंग्य। तो भाई, नागपाल, मलहोत्रा, लाल या केशी तो किंचित ठण्डे पात्र हैं, नपुसक नही है, तो सकता है शिलाजीत के सेवन से उनमे थोड़ी गर्मी आ जाती, पर मार्कण्डेय की पुरानी कहानी 'उत्तराधिकार' और नवीनतम कहानी 'पचाघात' के प्रमुख नायक नितात नपुसक है, उन्हें तो टेस्टोस्टेरॉन के इंजेक्शन भी नही उठा सकते। वे पात्र क्यों वैसे है, उनके कारण नायिकाओ को क्या सहना पड़ा है, क्या यह जानने के बदले तुम उनके लिए भी हार्मोन्ज के इन्जेक्शन तजवीज करोगी ? फिर मेरी कहानियों के उन ठण्डे पात्रो के माध्यम से तुमने मुझ पर जो व्यक्तिगत व्यंग्य किया है, क्या वही तुम 'उत्तराधिकार' और 'पचाघात' के लेखक पर भी करोगी और कहोगी कि उनके लेखक ने अपनी कुण्ठा अथवा स्नायविक दुर्बलता अपने पात्रो में भर दी है ? कहानी के पात्रो मे इस प्रकार लेखक को ढूंढ़ना बडे गलत और हास्यास्पद नतीजों पर पहुँचा देता है, मन्नो।

तुमने 'ठहराव' पर विस्तार से लिखा है। वह कहानी पिछले पाँच-छै वर्षो से बराबर लेखको और आलोचको की कृपा का भाजन बनी हुई है। पहली बार पढने पर वह यो ही-सी लगती है, दूसरी बार पढ़ने पर झुँझलाहट और झल्लाहट आ जाती है। अभी तक इसके सम्बन्ध में मित्रो के झल्लाहट भरे पत्र मिल रहे है। कहानी जितने ध्यान से पढ़े जाने की माँग करती है, उतने ध्यान से तुमने उसे नही पढ़ा। तुम्हारे पत्र को पढ़ कर मैं तुमसे ही कुछ प्रश्न पूछता हूँ—क्या हेमी के प्रति शक्को का प्यार गहराई लिये हुए है, अथवा केवल यौवनारम्भ का आवेग ? (किसी युवक युवती को कुछ समय तक एक स्थान में रख दो और वे प्रेम करने लगेंगे—यह कथन तो तुमने सुना होगा) या शक्को को बच्चे से करने के लिए केवल'मात्र उसी का अपना आवेग काफी था ? हेमी कैसे मलहोत्रा या लाल से भिन्न है ? कम ठण्डा या हिसाबी-किताबी है ? यदि हेमी कायर और हिसाबी-किताबी होते हुए भी सहज है, तो लाल या मलहोत्रा अपने ठंडेपन (तुम्हारे कथनानुसार) के बावजूद क्यो सहज नही ? फिर क्या अपने पति के प्रति सुहागरात में शक्को के मन में केवल ममता ही जगी ? क्या वह अपने पति की सुन्दरता पर अजाने ही तो मुग्ध नही हो गयी ? (कि अपना

क्रोध भूल कर वह मजाक कर सकी—'तो क्या मैं लड़ूँ भी अपने ही से ?) क्या सेक्स की भूख ही तो ममता का झीना आवरण नहीं पहने थी ? क्या कोई लडकी, जो केवल अवसर की सुविधा के कारण किसी फूहड़ या कैरियरिस्ट को चाहने लगती है (हँमी सब कुछ होते हुए भी विशुद्ध कैरियरिस्ट है) अपने सुन्दर और सुसंस्कृत पति को चाहने नहीं लग सकती ? क्या कोई औरत एक ही वक्त में दो मर्दो को प्यार नही कर सकती ? क्या किसी पति का सौदर्य और बडप्पन पत्नी के हृदय से यौवन के आवेग को भुलाने की क्षमता नहीं रखता ? क्या सुहागरात को लोग एक ही अक्लमंदी की बात करते है, अन्य मूर्खतापूर्ण बातें नही करते ? क्या सिनेमा का साधारण लोगों के जीवन पर वैसा प्रभाव नही पड़ रहा है कि वे अपने जीवन में कोई वैसा आचरण करें ? (नागपाल तुम्हारी तरह तथाकथित इन्टलेक्चुअल नही है !) यदि शक्को शादी के तत्काल बाद तुम्हें यह पत्र लिखती तो क्या वह ऐसा ही होता ? प्यार और आवेग के अंतर को क्या वह उसी पहली रात जान गयी ? क्या बाद के जीवन की कसौटी पर इन्हें परख कर उसने वह अंतर नही जाना ?....तुम कहानी को एक बार फिर ध्यान से पढ़ते हुए इन प्रश्नो के उत्तर ढूँढोगी तो शायद तुम्हें अपनी सभी आपत्तियों का जवाब मिल जायगा। अच्छी और गहरी कहानियों को यों सतही, सरसरी और बचकानी नजर से नहीं पढ़ा जाता। उनकी पंक्तियो में गहरे संकेत निहित होते है। वे लेखक ही से नही, पाठक से भी (आलोचक से तो और भी) श्रम और समझदारी की माँग करती है।

और 'पलँग' की कम से कम पाँच कहानियाँ ऐसी है। मेरा कथन केवल लेखक के थोथे दम्भ और अहं का परिचायक नही। मैंने वर्षों इन कहानियो की वस्तु पर विचार किया है और एक-एक को महीनों के श्रम से लिखा है। तुम्हें 'खाली डिब्बा' ही अच्छी लगी, हालाँकि 'खाली डिब्बा' और 'टोपियाँ और डॉक्टर' संग्रह की कमजोर कहानियाँ है। अपने मानसिक स्तर को कुछ बढाओ और तनिक ध्यान से इन्हें फिर पढो।

इस छोटे-से पत्र मे इन अत्यंत गहरी कहानियो के सभी नुक्ते समझाना मेरे बस में नही। कभी फिर तुम्हारे इस पत्र को ले कर मै विस्तार से इन पर लिखूंगा।

सस्नेह
अश्क

●

वस्तु से अलग एक वाक्य

●

मई १९६५ के नयी कहानी विशेषांक पर अपनी सम्मति देते हुए अश्क जी ने शानी की कहानी 'एक कमरे का घर' पर विस्तार से लिखा और उसकी एक-दो बातों की सख्त आलोचना की।

शानी से अश्क जी के सम्बन्ध बहुत अच्छे रहे हैं। उनको जगदलपुर (मध्य-प्रदेश) की गुमनामी से निकाल कर हिन्दी कथा-क्षेत्र में आगे लाने, उनका पहला कथा-संग्रह छापने, दूसरे कथा-संग्रह के सिलसिले में उन्हें ठीक परामर्श देने और उन्हें अपने अधिकांश मित्रों से मिलाने का श्रेय अश्क जी को है। 'अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व,' में स्वयं शानी ने स्वीकारा है कि अश्क जी अपनी व्यस्तता की परवाह न कर इलाहाबाद के साहित्यिकों से उन्हें मिलाने निरन्तर घूमते रहे। लेकिन जो लोग अश्क जी को निकट से जानते हैं, उन्हें यह मालूम है कि वे सदा नये लेखकों को प्रोत्साहन देते हैं, उनकी किंचित खाम रचनाओं की भी प्रशंसा करते है, पर जब उन्हें लिखते हुए आठ-दस वर्ष बीत जाते हैं तो वे उनके बारे में उतने ही निर्मम हो जाते है, जितने पुरानों के बारे में और तब उनकी रचनाओं के सिलसिले में राय देते हुए वे सच्ची बात कहने से संकोच नहीं करते। वे चुप भले ही रहें, पर कलम उठाते हैं तो झूठी बददयानती-भरी बात कभी नहीं लिखते। यही कारण है कि कल जो कथा-कार उनके मित्र और प्रशंसक बने घूमते थे आज उन्हें गालियाँ देते दिखाई देते हैं। अश्क जी कभी इस बात की चिन्ता नहीं करते। किसी रचना के बारे में कमिट करने में अपने पुराने अथवा नये साथियों जैसी झिझक और गणनाएँ उनके यहाँ नहीं। वे स्पष्ट, दो टूक और सच्ची बात कहना अपने रचनाकार का धर्म समझते है।

शानी ने उनके पत्र को पढ़ कर बड़ा विक्षोभ भरा उत्तर नयी कहानियाँ के सितम्बर, १९६५ के अंक में दिया। चूंकि फिर शानी ने कई ग़लत बातें लिखीं और अपनी उस खासी कमज़ोर कहानी की 'सर्व-स्तरीय पकड़' का उल्लेख किया और देश की धर्म-निरपेक्षता के खिलाफ़ जो वाक्य उन्होंने लिखा था उस पर शर्मसार होने के बदले उसे उचित ठहराया, इसलिए अश्क जीने

फिर उसका उत्तर दिया, जो नवम्बर, १९६५ की 'नयी कहानियाँ' में छपा। यहाँ अश्क जी के मई वाले पत्र से केवल वह हिस्सा दिया जा रहा है, जो शानी की कहानी से सम्बन्ध रखता है (शेष पत्र अगले परिच्छेद में उद्धरित है।) इसके साथ ही शानी का उत्तर और अश्क जी का प्रत्युत्तर भी प्रस्तुत है।

अश्क जी का पत्र

●

प्रिय कमलेश्वर,

'नयी कहानियाँ' का विशेषांक जहाँ तक कहानियो का सम्बन्ध है, पढ गया हूँ। इम्प्रेशन ताजे है, सो लिख रहा हूँ।

शानी की कहानी 'एक कमरे का घर' का अन्तिम भाग बहुत अच्छा है। लेकिन पहले हिस्से मे काफ़ी ढीलापन है और तेकनिक की दृष्टि से कहानी शिथिल और पेचीदा हो गयी है। कई बार शिल्प का ढीलापन लेखक जानबूझ कर लाता है और वह पूरी कहानी के सन्दर्भ मे गुण बन जाता है, पर लगता नहीं कि यहाँ लेखक ने जानबूझ कर ऐसा किया है और कहानी बेहतर बनी है।

पहली बार पढ़ने पर कहानी ठीक से समझ मे नही आयी—किसी वैचारिक गहराई के कारण नही, लेखन की अनगढ़ता, शिथिलता और पेचीदगी के कारण। कहानी रात मे शुरू होती है जबकि कहानी का नायक 'एहसान' चाहता है कि उसकी पत्नी उठ कर उसकी चारपाई पर आ जाय। मुझे पहले लगा कि वह किसी दूसरे कमरे में उसे ले जाना चाहता है। जब कहानी के अन्त में मालूम हुआ कि वह उसी कमरे में लेटा है, तो फिर कहानी को दोबारा पढना पड़ा। —तब ४६ वें पृष्ठ की ११ वी पंक्ति के पहले दो शब्द 'वापसी में' खटके। इन्हीं दो शब्दो के कारण मै समझा था कि वह अपने कमरे में वापस आते वक्त मनी-प्लाट से छू गया। लेकिन यदि वह अपने कमरे मे ही है, तो वह कमरा खासा बड़ा होना चाहिए, जिसमें उसे उठ कर अपनी पत्नी की चारपाई तक जाना पडा। कहानी गठ जाती और उसमे जोर आ जाता, यदि एहसान अपनी चारपाई पर लेटा ही अपनी पत्नी बिब्बो की चारपाई की ओर झुक कर उसे बुलाता। क्योंकि ज़ाहिर है कि यदि पुरुष-स्त्री एक ही कमरे में दो चारपाइयो सोये है तो युवा साली की चारपाई दोनों के बीच नही हो सकती। उसकी चार-

पाई बहन की चारपाई की ओर को ही होगी। बीच मे तभी होगी यदि पति ने वैसा प्रवन्ध किया होगा और साली के प्रति उसके मन में आकर्षण होगा। फिर जहाँ दूसरे ग़ैर-ज़रूरी ब्योरे कहानी मे दिये गये है, वहाँ उस कमरे का सही नक्शा भी कथाकार को पाठक के हितार्थ देना चाहिए था ताकि केवल इतना भर समझने के लिए उसे कहानी को बार-बार न पढ़ना पडे।

इसके अलावा दो परिच्छेदों के बाद कहानी में तीसरा परिच्छेद 'सबीहा तुम' से शुरू कर के शानी ने फिर पाठक को बेकार उलझा दिया है। यह नहीं लिखा कि वह रात को वापस लौटा है। यों ही सहसा बीच में यह सूचना दे दी है कि सबीहा अपनी खाट पर चली गयी थी और दस्तरख्वान के बर्तन उठाने बिब्बी पास आयी....और पाठक सहसा फिर पृष्ठ उलटने पर विवश हो जाता है कि क्या यह उसी रात का किस्सा है या किसी और रात का....? दस वर्ष तक लिखते रहने वाले कथाकार से कहानी के बेहतर संयोजन और संगठन की अपेक्षा है। जो कहानी कि बडी खूबी से एक ही बार बिना किसी परिच्छेद के ज़ोरदार तरीके से लिखी जा सकती थी, उसे बेकार के ब्योरे और परिच्छेदो से उलझा दिया गया है।

इसके अलावा कहानी में देश के धर्म-निरपेक्ष होने की बात पर, मैं नहीं जानता, शानी ने क्यों व्यंग्य किया है। बिना संकुचित दृष्टि का शिकार हुए, यदि देखा जाय तो अल्प-संख्यकों और पिछड़े वर्गों को आज के भारत में लाभान्वित होने के अतिरिक्त अवसर प्राप्त हो रहे हैं और उनकी तुलना में बहु-संख्यकों तथा उच्च-वर्ग वालो को अनुचित रूप से वंचित और प्रताड़ित होना पड रहा है, जब कि व्यक्तिगत रूप से उनका कोई अपराध नही है—उनके पुरखों का भले ही हो। फिर क्या नौकरियाँ पाने में मुसलमानों को ही कठिनाई है? जहाँ कायस्थो का ज़ोर है, वहाँ ब्राह्मणो को क्या दिक्कत नही है? अथवा ब्राह्मणों के कारण कायस्थ परेशान नही है? भूमिहारों और राजपूतों मे; ठाकुरों और अहीरों मे क्या यही समस्या नहीं है? उच्च-वर्ग वालो की हालत यह है कि हाल ही मे एक ब्राह्मण ने नौकरी पाने के लिए अपने को हरिजन लिखा दिया। किसी जागरूक लेखक के लिए इस तरह किसी कहानी में अपनी हीन-ग्रन्थि को बेमतलब बुन देना, अच्छी बात नही। पाकिस्तान के निरन्तर खतरे के आगे भी देश की व्यवस्था धर्म-निरपेक्ष है (उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यो न हो) यह कम प्रशंसा की बात नही—क्या शानी समझते है कि सदियों पुराना जातिवाद और साम्प्रदायिकता छू-मन्तर से उड़ जायगी? उन्होंने अपनी

कहानी में वे पंक्तियाँ ऐसे ही लिख दीं, जैसे कोई संकुचित और कट्टर हिन्दू लेखक कहानी लिखते-लिखते गैर-जिम्मेदारी से यह लिख जाय कि बाहर से मुसलमान चाहे लाख नैशनलिस्ट बनें, पर रहेंगे वे पाकिस्तानी ही। ऐसी गैर-जिम्मेदारी की अपेक्षा एक जागरूक लेखक से नहीं की जा सकती। मुझे अफसोस है कि शानी ने कहानी मे निहायत गैर-जिम्मेदारी से ये पंक्तियाँ लिखी है। यदि उनके सामने यह समस्या है तो इसी समस्या को ले कर पूरी कहानी लिखनी चाहिए और 'नयी कहानियाँ' को साहसपूर्वक उसे छापना चाहिए। यो संदर्भहीन पंक्तियाँ अत्यन्त भ्रामक हो सकती हैं और लाभ के बदले हानि पहुँचा सकती हैं। अपने नायक से अध्यापकी छोड कर एजेण्टी कराने के लिए क्या शानी को और दूसरा कोई अच्छा कारण नहीं मिल सका? कहानी तो एक एजेण्ट के परिवार के लिए रिहायश की कम जगह और सेक्स की समस्या को ले कर है। देश की धर्म-निरपेक्षता की समस्या तो उसमें कही है ही नही।[1]

मई ६, १९६५ अश्क

शानी का उत्तर

...मेरी कहानी 'एक कमरे का घर' के सन्दर्भ मे अपने पत्र में अश्क जी ने जो व्यक्तिगत आक्षेप किये है, उन्हे पढ कर घोर आश्चर्य हुआ और शायद आश्चर्य से अधिक दुःख। मै नही जानता कि अश्क जी ने वह पत्र किस मूड में लिखा है, लेकिन चूंकि वे साधारण पाठक नही, एक अत्यन्त ज़िम्मेदार और प्रतिष्ठित लेखक है, अतः सहसा इस बात पर विश्वास नही होता कि कहानी की मूल-सम्वेदना को गहरी तथा सर्व-स्तरीय पकड़ और सहानुभूतिपूर्ण विचार दिये बिना, वे एक छोटी-सी बात ले उडेंगे और लेखक पर बरसते हुए सकीर्णता, हीनभाव-ग्रस्तता और गैर-जिम्मेदारी आदि के सारे इल्जाम उस पर धर देंगे।

आज भी मै यह समझ सकने में असमर्थ हूँ कि कहानी देश की धर्म-निरपेक्ष नीति पर व्यंग्य किस प्रकार करती है? रचना मे प्रसंगवश आये एकाध फ़िकरों

---

१. नोट : इसी पत्र का शेष भाग, जिसमें विशेषांक की अन्य कहानियों पर अश्क जी की सम्मति है, 'कुछ इकतरफ़ा पत्र' शीर्षक परिच्छेद में देखिए।—सं०

(फिक़रे-सं०) से क्या कहानी का पूरा स्वर बना करता है ? साहित्यिक कृति मे आये एकाध वाक्यों (वाक्य-सं०) को रचना की मूल-सम्वेदना के सन्दर्भों से काट कर देखना और उसे स्वतन्त्रता से मनचाहे अर्थ देना सिर्फ ज्यादती ही नही, वैसी ही असाहित्यिकता है, जैसी कहानी के सृजित पात्र अथवा चरित्र मे दुराग्रह-पूर्वक लेख़क का चरित्र, उसकी वल्दियत या उसकी ज़ात ढूंढने की कोशिश....

क्या वस्तुस्थिति का निस्संग संकेत अथवा तटस्थ चित्रण गैर-ज़िम्मेदारी है ? और अगर यह गैर-ज़िम्मेदारी है तो फिर लेखकीय ज़िम्मेदारी क्या है ? देश या स्थान वह कोई भी हो, बावजूद राष्ट्रीय नीति और उदारता के, क्या अल्प-संख्यकों की एक निश्चित साइकॉलोजी—सही या गलत—नही बन जाती ? क्या 'जेन्विन,' लम्बी और कष्टसाध्य बीमारी के बाद आयी मृत्यु ही मृत्यु होती है और वहम से हुई मौत की कोई वेदना नही होती ? अगर कायस्थो या ब्राह्मणो या भूमिहारों और राजपूतों के बीच भी यही समस्या है तो उससे इस कहानी में वर्णित स्थिति कैसे झूठी हो जाती है, या यह उस स्थिति को कहाँ झुठलाती है ? बरअक्स इसके क्या यह और अधिक सच्ची, सार्वजनीन और व्यापक संदर्भो को नही छूने लगती ? साहित्यिक कृतियो का मूल्यांकन अगर इसी प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है तो सबसे बडे अपराधी मोहन राकेश है, जिन्होने 'मलबे का मालिक' जैसी कहानी लिखी है ।

मुझे बेहद दुःख है कि अश्क जैसे लेखक ने अपने आक्षेपो की गम्भीरता समझे बगैर एक दूसरे लेखक के बारे मे ऐसी असाहित्यिक व अशोभनीय बातें कही है । यह तो खामखा बात को उसी तरह का 'कलर' देना हुआ, जैसा कि दुर्भाग्यवश इस देश की एक राजनीतिक-साम्प्रदायिक पार्टी आये-दिन अक्सर दिया करती है ।

यो उन्होने सारे पत्र में स्वयं एक बात सही कही है कि सदियो पुराना जातिवाद और साम्प्रदायिकता छू-मन्तर से नही उड़ जायेगी और मेरा इस पर अफसोस करना व्यर्थ है ।

सितम्बर १९६५ शानी

अश्क जी का प्रत्युत्तर

●

शानी की कहानी 'एक कमरे का घर' के एक वाक्य को ले कर मैंने मई के अपने पत्र में जो आलोचना की थी, उसके सम्बन्ध में सितम्बर अंक में शानी

का रोष और खेद भरा पत्र पढा। मुझे हैरत है कि उन्हें अपनी कहानी मे देश की धर्म-निरपेक्ष नीति के बारे मे वह 'स्वीपिंग रिमार्क' देने के बारे में अपनी गैर-जिम्मेदारी दिखायी नही दी (हालाँकि उनके निकटतम मित्रों को दिखायी दी है कि उनके पत्र मुझे मिले हैं) यदि शानी ने मोहन राकेश की तरह 'मलबे का मालिक' जैसी कहानी लिखी होती और उस क्षोभ को, जिसे वे अल्पसंख्यकों की निश्चित सायकॉलोजी कहते है, ले कर मोहन राकेश की तरह उसके सब पहलुओं को व्यापक सम्वेदना और गहरी अन्तर्दृष्टि से उकेरा होता, तो मैं भी उनकी प्रशंसा करता, पर कहानी तो उन्होंने एक सैलिंग एजेण्ट के एक कमरे के घर और उसकी कुण्ठित और दमित सेक्स-भावना को ले कर लिखी और उसमे निहायत हल्के बहाने से देश की धर्म-निरपेक्ष नीति के बारे में एक स्वीपिंग रिमार्क जड़ दिया। क्या नायक को एजेण्ट बनाने के लिए उन्हें और कोई उपयुक्त बहाना नही मिल सकता था ? शानी ने अपने पत्र मे लिखा है :

'आज भी मै यह समझ सकने में असमर्थ हूँ कि कहानी देश की धर्म-निरपेक्ष नीति पर व्यंग्य किस प्रकार करती है ? रचना में प्रसंगवश आये एकाध फ़िकरो (फ़िकरे-सं०) से क्या कहानी का पूरा स्वर बना करता है ?'

मेरा नम्र निवेदन है कि नही बना करता। मैंने अपने पत्र मे कही ऐसी बात नही लिखी। मुझे केवल उन्ही एक-दो पंक्तियों पर एतराज़ है और उन्हीं पर मैंने अपने पत्र में खेद प्रकट किया। और मेरा यह भी निवेदन है कि वे कहानी के मक्खन मे बाल के समान हैं, इसलिए खटकती है।

न केवल शानी अपने उस रिमार्क के लिए अपने-आप को गैर-ज़िम्मेदार नहीं मानना चाहते, वरन उसके लिए प्रशंसा भी चाहते हैं, क्योकि उनका खयाल है कि उस एक रिमार्क से उनकी कहानी 'अधिक सच्ची, सार्वजनीन और व्यापक संदर्भों को छूने' लगी है। अब मै उन्हें कैसे समझाऊँ ? कल यदि मैं ऐसी ही एक सेक्स की सूक्ष्म भावनाओं की कहानी लिखूँ और उसमें उन्हीं की तरह 'प्रसंगवश' एक ऐसा ही स्वीपिंग रिमार्क दे दूँ कि देश के एम० चाहे लाख हिन्दुस्तान की वफ़ादारी के राग अलापें, पर हमदर्दी उनकी पाकिस्तान के साथ ही रहेगी, तो क्या मै उस रिमार्क की आलोचना करने वालों से यह कह कर छुट्टी पा जाऊँगा कि गलत हो सही, पर बहुत-से लोग ऐसा मानते है और मैंने तटस्थ भाव से वैसा लिखा है; कि कहानी की साहित्यिकता को देखो, इस एक वाक्य को न देखो आदि-आदि....। क्या वैसा रिमार्क कहानी में जड देना मेरी गैर-

ज़िम्मेदारो और रुग्ण मनः स्थिति का परिचय न देगा ?....लेखक कहानी में आये हर शब्द और वाक्य के लिए जिम्मेदार होता है। आज देश की जैसी संकटकालीन स्थिति है, उसमें जागरूक लेखको की ज़िम्मेदारी और भी बढ जाती है। मै शानी को यही बताना चाहता था; वे अपनी जिम्मेदारी नही समझते और अपनी उस गैर-ज़िम्मेदारी को उचित मानते है तो मुझे कोई शिकायत नही। मै बहस को बढाना नही चाहता, लेखकों का ध्यान ऐसी स्थितियों और उनमें उनकी जिम्मेदारी की ओर दिलाना भर चाहता हूँ। वे (शानी) मुझे क्षमा करें।[1]

नितम्बर '६५ अश्क

•

---

१ नोट : इस पत्र में अश्क जी ने 'नयी कहानियाँ' जुलाई, अगस्त, सितम्बर अंकों की कुछ प्रमुख कहानियो का उल्लेख किया। वह पत्र 'कुछ इक-तरफा पत्र' शीर्षक परिच्छेद में उद्धृत है।—सं०

आंचलिकता बनाम सार्वजनीनता

●

शिवप्रसाद सिंह बीच के कथाकारों में प्रमुख रहे है, यद्यपि इधर कथा का दामन छोड़ वे अधिकाधिक निबन्धों की ओर अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे है, जो अध्यापक होने के नाते उनके लिए अधिक सहज और सुविधाजनक है। अश्क जी से डॉ० शिवप्रसाद सिंह के सम्बन्ध उस वक्त तक बड़े अच्छे रहे, जब तक अश्क जी उनकी कहानियों को सराहते रहे। 'संकेत' में अश्क जी ने डॉ० साहब की कहानी 'कर्मनाशा की हार' छापी, जो उनकी कहानियों मे काफ़ी लोकप्रिय हुई। यहाँ तक कि जब डॉक्टर साहब ने कथा लेखक के दस वर्ष पूरे करने पर अपना संग्रह 'इन्हें भी इन्तजार है' छापा तो अश्क जी की सम्मति सगर्व प्रकाशित की।...लेकिन जुलाई, १९६७ की 'नयी कहानियाँ' में डॉ० सुरेश सिनहा द्वारा लिया गया इंटरव्यू छपा (जो अश्क जी की पुस्तक 'हिन्दी कहानियाँ और फैशन' का हिस्सा था) उसमें कहीं डॉ० शिवप्रसाद सिंह की एक कहानी के बारे में निम्नलिखित पंक्तियाँ आ गयीं :

'....कुछ पुराने संदर्भों की कहानियाँ भी है, ज़मीदारियाँ खत्म होने पर उनमे नयापन नही लगता। शिवप्रसाद सिंह की 'पापजीवी' ऐसी ही कहानी है।'

बस डॉक्टर साहब बमक गये और उन्होंने एक कड़ा पत्र इसके विरोध मे 'नयी कहानियाँ' के अगस्त अंक में लिखा। अश्क जी ने उसके उत्तर में विस्तार से अपनी बात कही तो उनका वह पत्र तत्काल छप नही पाया। इस बीच में अश्क जी बम्बई गये तो सम्पादक 'धर्मयुग' ने कथा-दशक पर उनके विचार जानने को अपना सहयोगी भेजा। अश्क जी ने कथा-दशक पर जो विचार व्यक्त किये, उनमें डॉ० शिवप्रसाद की कहानी 'मुर्दासराय' की आलोचना की। वास्तव में अश्क जी को न केवल वह कहानी अच्छी नही लगी, बल्कि उन्हें लगा कि शिवप्रसाद फैशन के चक्कर में अपनी डगर से हट रहे हैं। क्रोध में डॉक्टर साहब ने सम्पादक 'धर्मयग' को एक पत्र लिखा। उन्होने वह अश्क जी के पास भेज दिया।

नहीं मालूम कि उपर्युक्त पत्राचार धर्मयुग में छपा या नहीं, पर अश्क जी की फ़ाइलों से ले कर यहाँ दिया जा रहा है। इसके साथ ही वह पत्र भी प्रस्तुत है जो डॉ० शिवप्रसाद ने 'नयी कहानियाँ' को 'पापजीवी' के बारे में अश्क

जी के रिमार्क से कुपित हो कर लिखा और साथ ही प्रस्तुत है उसके उत्तर में अश्क जी का पत्र, जो नयी कहानियाँ के दिसम्बर अंक में छपा।

यह पत्राचार न केवल तथाकथित नये (और अब बीच के) कथाकारों के मनोविज्ञान पर प्रकाश डालता है, वरन इस बात की ओर भी इंगित करता है कि अश्क जी कहानियों को कितनी संजीदगी से पढ़ते हैं। और यदि उन्हें किसी मित्र के यहाँ भी कोई बात खलती है तो उसका संकेत करने से नहीं चूकते।

धर्मवीर भारती का पत्र

●

प्रिय भाई,

आज डॉ० शिवप्रसाद सिंह का एक पत्र आया है। वे इस बात से विक्षुब्ध है कि आपने विना तर्कपूर्ण प्रमाण दिये उनको कहानी को शैलेश मटियानी की किसी कहानी से प्रभावित बताया है। उनके पत्र का एक अंश आपके अवलोकनार्थ भेज रहा हूँ। मेरी समझ में बेहतर होगा कि आप शैलेश मटियानी की उस कहानी की कटिंग मुझे भेज दें ताकि यह अप्रिय विवाद अधिक न बढ़े।

आपका

२९-१-६५ भारती

डॉ० शिवप्रसाद सिंह के पत्र का अंश

●

श्री अश्क ने मेरी कहानी 'मुर्दासराय' को अविश्वसनीय कहा है। अश्क जी की यह शैली मेरे लिए काफी परिचित है। 'नयी कहानियाँ' में प्रकाशित अपने एक इंटरव्यू मे उन्होने लिखा था कि 'पापजीवी' कहानी अच्छी है, पर जमीदारी-उन्मूलन मे सम्बन्धित है। जमीदारी टूटने के बाद ऐसी कहानियों का महत्व नही रहा। मैंने उन्हें बताया कि वह कहानी जमीदारी उन्मूलन के बाद की स्थितियो मे सम्बद्ध है, एक स्थान पर कहानी ही में आता है: "जमीदारी टूटी तो वदलू वडा खुश था।"... अश्क के पास इसका कोई उत्तर न था, इसलिए उन्होने कहा कि यह तो वडी अविश्वसनीय कहानी है। उनके 'अविश्वसनीय' का तात्पर्य मेरे सामने बिलकुल साफ़ है। उन्होने 'मुर्दासराय' पर शैलेश की

किसी कहानी का प्रभाव भी बताया है। यह नितान्त मिथ्या और दूषित प्रवृत्ति का द्योतक है। क्या अश्क जी बतायेंगे कि चरित्र-विन्यास, कथानक, उद्देश्य, वातावरण, डायलॉग्स या किसी चीज़ मे उन दोनों कहानियो में क्या साम्य है ?

अश्क जी का उत्तर

●

प्रिय भारती,

तुम्हारा २६-१-६५ का कृपा-पत्र मिला। मै बीमार हूँ, इसलिए तत्काल उत्तर न दे सका। यह पत्र भी लेटे-लेटे लिखवा रहा हूँ।

शिवप्रसाद सिंह से मेरा कोई वैर-विरोध नही है। मै उनकी कहानियों का प्रशंसक रहा हूँ और उनकी हर कहानी को ध्यान से पढता रहा हूँ। इसीलिए 'मुर्दासराय' को पढ कर मुझे विक्षोभ हुआ। चूँकि उससे पहले मैंने शैलेश मटियानी की कहानी पढी थी, इसलिए मुझे लगा कि उनकी कहानी पर उसका प्रभाव है। कहानियाँ तो मेरे सामने नही है, लेकिन मुझे आभास है कि कहीं मुझे लगा था कि शैलेश की कहानी का सीधा प्रभाव शिवप्रसाद भाई की उस कहानी पर है।

पहली बात तो यह है कि 'मुर्दासराय' शिवप्रसाद की अन्य कहानियो से भिन्न है। उनकी पहले की-सी सोद्देश्यता इस कहानी में एकदम नापैद है। और 'मुर्दासराय' में उन्होंने भिखारियो की लड़ाई आदि का जैसा घिनौना चित्रण किया है वह मुझे शैलेश की कहानी से प्रभावित लगता है। (विशेषकर इसलिए भी कि शिवप्रसाद की कहानियो की वह विशेषता नही, जबकि शैलेश की है।) शैलेश ने वह चित्रण विश्वसनीय बना कर पेश किया है; यह और बात है कि वह वीभत्स हो। शिवप्रसाद वैसा नहीं कर सके। उस कहानी में वीभत्सता है, विश्वसनीयता नही।

कहानी अविश्वसनीय है, इसके बारे में शायद ही दो मत हो, अभी इसी हफ़्ते दूधनाथ ने अपने लेख में 'मुर्दासराय' की अप्रामाणिकता का उल्लेख किया है। अप्रामाणिकता और अविश्वसनीयता दो भिन्न शब्द नही है। प्रामाणिक चीज़ विश्वसनीय ज़रूर होगी। हाँ, इस कहानी पर शैलेश की कहानी का प्रभाव है या नही, इस पर दो मत हो सकते है। मेरा ध्यान गिरिराज ने इस बात की

ओर दिलाया था और मुझे भी ऐसा लगा था। शिवप्रसाद भाई कहते है कि नही है तो मै अपने शब्द वापस लेता हूँ। उनको किसी तरह दुख पहुँचाना मुझे अभीष्ट नही।

रही उनके पत्राश की यह बात कि मैंने उनकी कहानी 'पापजीवी' की अविश्वसनीयता के सम्बन्ध में उनके नयी कहानियों में पत्र का उत्तर नही दिया तो मेरा यह निवेदन है कि मैंने उत्तर दिया था—अगस्त ही में, लेकिन सम्पादक ने उसे दिसम्बर के अंक में छापा। नयी कहानियाँ के दिसम्बर अंक में देख लो।

मेरे पास नयी कहानियाँ की वह प्रति नही मिली, जिसमें 'दो दुखो का एक सुख' छपी है। तुम मनमोहन सरल से ले कर कहानी पढ लो और ध्यान से पढोगे तो तुम्हें भी वैसा ही लगेगा, जैसा मुझे या गिरिराज किशोर को लगा।

बहरहाल, यदि इस प्रसंग को अप्रिय जान कर बढ़ाना न चाहो तो मेरे इस पत्र में से वह अंश छाप दो जिसमें मैंने लिखा है कि यदि शिवप्रसाद सिंह ऐसा कहते है तो मै अपने शब्द वापस लेता हूँ। पर उस सूरत में उनके पत्र का भी वही अंश छापना होगा जो केवल इतनी-सी बात को ले कर हो। यदि 'पापजीवी' अथवा उस कहानी की अविश्वसनीयता के बारे मे उनकी पंक्तियाँ छापोगे तो फिर तुम्हें मेरे इस पत्र को पूरा-का-पूरा छापना चाहिए। अब जैसे तुम्हें ठीक और उचित लगे वैसा कर लो। तुम्हें किसी तरह गलत पोजीशन में डालना अथवा प्रसंग को बेकार अप्रिय बनाना मुझे अभीष्ट नही। शेष फिर।

सस्नेह

१३-२-६५ अश्क

नयी कहानियाँ में डॉ० शिवप्रसाद का पत्र

●

जुलाई की नयी कहानियाँ मे अश्क जी का इण्टरव्यू देखा। काफ़ी दिलचस्प है। मेरी कहानी 'पापजीवी' को जमीदारी अत्याचार की थीम से सम्बद्ध मान कर लिखा है उन्होंने . 'जमीदारियाँ खत्म हो जाने पर इनमे नयापन नहीं लगता।' कहानी में एक वाक्य आता है : 'जमींदारी टूटने की खबर से वह खुश हुआ था....।' सच तो यह है कि इस कहानी में यह दिखाया गया है कि सामाजिक अत्याचारो से पीड़ित यह कबीला या वर्ग, जमीदारी टूटने के बाद भी उसी प्रकार के कुकृत्यो का शिकार हो रहा है, जैसा पहले होता था। सिर्फ़

ज़मीदार और उसके कारिंदो के स्थान पर एक दूसरा सरकारी वर्ग आ गया है। किन्तु क्या कहानी सिर्फ़ इसी थीम पर है ? 'वाक्' के प्रवेशांक में इसका अंग्रेजी अनुवाद छापते हुए वात्स्यायन जी ने एक वाक्य लिखा था, 'इन्होंने जितना पाप किया नही, उससे अधिक पापाचार के शिकार हुए हैं।' यह एक वाक्य कही ज़्यादा सूक्ष्मता से उस कहानी की थीम को संकेतित करता है। लगता है कि अश्क जी भी मसीहा बनने के इच्छुक आलोचको की तरह अपने पके-अधपके अध्ययन के साथ कुछ बने-बनाये पैटर्न और लेबिलों को चिपका कर कहानी की आलोचना का महत् कर्त्तव्य निभा रहे है। इस लेबिल-बाजी का दूसरा नमूना 'नन्हो' की समीक्षा के संदर्भ मे देखा जा सकता है। अश्क जी के मत से कहानी अच्छी है, पर आंचलिक नही है, क्योकि इसके आधारभूत विचार सार्वजनिक है। ग्राम-कथा या 'पीजेण्ट लाइफ' पर आधारित कहानियो के आधारभूत विचार हमेशा ही सार्वजनिक होते है। 'नये फैशन' की हवा से एक नगर की संस्कृति दूसरे से किंचित बदली दिखायी पड़ सकती है, किन्तु ग्राम संस्कृति समूचे विश्व में अपने मूलभूत विचारों के सन्दर्भ मे सार्वजनिक और सदृश रही है। संस्कृति यानी 'कल्चर' का 'एग्रीकल्चर' से शाश्वत सम्बन्ध है ! वह 'बेस' है। नगर-जीवन इसका ही व्यावसायिक 'प्रोजेक्शन' होता है। यह समाजशास्त्र का मामूली सिद्धान्त है। इसी ग्राम-संस्कृति और जीवन के कथाकार प्रेमचन्द थे, जिनका कोई भी समसामयिक उनके आधारभूत विचारो के सार्वजनिक यथार्थ और वैचारिक सूक्ष्मता को उस युग मे नही पा सका। इसलिए आलोचकों से मेरा निवेदन सिर्फ़ यह है कि ग्राम-कथाओं पर आँख मूँद कर आंचलिक का बिल्ला मत लगाइये, नही आपको भी लगेगा कि इसके आधारभूत विचार सार्वजनिक है। गोया विचारो का सार्वजनिक होना कोई दोष है। बिल्लेबाजी ने आज की कहानी के सही और वास्तविक विश्लेषण में जो प्रत्यवाय उपस्थित किया है, उस पर अलग से विचार होना चाहिए। ऐसा न होने का परिणाम यह है कि अश्क जी को ग्राम-कथाओ में सम्वेदना, आधुनिकता, नयापन, शैली आदि के तत्व दिखायी ही नही पड़ते। वे नगर-कथाओ मे 'अमुक नया है, अमुक पुराना' का मतभेद कर देते है, किन्तु ग्राम-जीवन के बारे में अपनी सीमित जानकारी और विलक्षण रुचि के कारण उन्हें ग्राम-कथाओ में कौन थीमें एकदम नयी और अनटच्ड है, जानने मे हमेशा ही दिक्कत होती है। इसलिए नये-पुराने का बँटवाल दोषमूलक और निराधार है।

जुलाई, १९६४ — शिवप्रसाद सिंह

अश्क जी का उत्तर

अगस्त के अंक में भाई शिवप्रसाद सिंह का आक्रोश-भरा पत्र पढा। मैने इंटरव्यू याद के बल पर लिखाया था और उनकी कहानी 'पापजीवी' के सम्बन्ध मे भी जो बात कही थी, याद ही के बल पर कही थी। उनका पत्र पढ कर क्षण भर को लगा, कही गलत तो नही लिखा गया ? आलमारी के 'कर्मनाशा की हार' निकाल कर कहानी फिर पढी। अफसोस हुआ कि मै उसे अच्छी समझता था। (और शायद इसी सिलसिले में एक पत्र तब भाई शिवप्रसाद सिंह को लिखा भी था।) दोबारा पढने पर न कहानी अच्छी लगी, न नयी। जहाँ तक बब्बर के कथानक का सम्बन्ध है, वह पूर्णतः सच्चा और विश्वसनीय लगता है, लेकिन उसके लड़के बदलू वाला प्रसंग एकदम गढा हुआ और अविश्वसनीय, जिसे भाई शिवप्रसाद ने केवल अन्त वैसा 'कलापूर्ण' (?) करने के खयाल से गढ लिया है। जो लडकी शीतला के मारे बेहोश पडी है और उठ कर स्वयं पानी तक नही पी सकती, वह इतनी दूर ठेकेदार के बँगले तक सिर्फ वे तीन शब्द अपने बाप से कहने आ गयी, जो उसके बाप ने अपने बाप से कहे थे, इसका विश्वास भाई शिवप्रसाद सिंह कर सकते है, लेकिन पाठक भी करे, यह जरूरी नही। और नये संदर्भ में कहानी के जिस संकेत का जिक्र शिवप्रसाद सिंह ने किया है, वह उनके दिमाग मे ज़रूर होगा, लेकिन दुर्भाग्यवशात कहानी मे वे उसे नही उतार पाये। ठेकेदार की जगह कलक्टर, डिप्टी-कलक्टर, थानेदार, तहसीलदार या फिर कोई छोटा-मोटा अफसर भी होता तो बात शायद बन जाती। लेकिन अब नही बनी। बब्बर पर चोरी का अभियोग (चाहे उसने चोरी नही की) विश्वसनीय लगता है, उसे पडने वाली मार भी विश्वसनीय लगती है। बदलू के सिलसिले में वह घटना केवल गढी गयी और अविश्वसनीय लगती है। चोरी का अभियोग लगाये बिना, केवल ठेकेदार की बेइज्जती करने पर भी उसे पीटा जा सकता था—पर तब उसकी लडकी के तीन शब्द—'बब्बू ई का कियो'—कैसे कहती ? जिनके लिए कहानी गढ़ी गयी है।

भाई शिवप्रसाद सिंह ने यह सूचना पा कर कि कहानी का अनुवाद अंग्रेजी में हुआ है, अज्ञेय जी ने उसे पसन्द किया और 'वाक्' में छपा है, मै उन दोनो को बधाई देता हूँ।

जहाँ तक उनकी कहानी 'नन्हो' का सवाल है, मुझे स्वयं वह कहानी पसन्द आयी थी। (दोबारा पढूँ तो भी वैसी लगे, कह नही सकता।) उसका उल्लेख

मैंने आचलिक और शहरी कहानियो के संदर्भ मे किया था। सार्वजनीनता को मै भी बुरा नहीं समझता, लेकिन जब वह गुण उन शहरी कथाकारो मे भी है, जिनको भाई शिवप्रसाद सिंह नकारते रहे है तो मै केवल यही पूछना चाहता था कि वे उन लोगों से कैसे श्रेष्ठ अथवा भिन्न है ?

भाई शिवप्रसाद सिंह अपने पत्र के अनुसार एकदम नयी 'थीमे' और 'अनटच्ड' पात्रो की तलाश में परेशान रहते है, इससे मै पूर्णतः सहमत हूँ और इसी बात की मुझे शिकायत भी है। क्योकि देहात की जिस सच्ची ज़िन्दगी का चित्रण उन्हे करना चाहिए, उसे छोड़कर उन अनटच्ड पात्रो को वे ढूँढते है, जिन्हें पूरी तरह वे नही जानते और इसीलिए उन्हे विश्वसनीय नही बना पाते —इसी को आम भाषा मे 'दूर की कौड़ी लाना' कहते है। अज्ञेय जी ज़रूर इसे पसन्द कर सकते हैं, क्योंकि वे स्वयं यही करते है। लेकिन जो कला अज्ञेय के पास है, वह भाई शिवप्रसाद सिंह के पास नही है और यही वे मार खा जाते है। विश्वास न हो तो वे अनटच्ड पात्रो वाली अज्ञेय की कहानियाँ—'जीवनी शक्ति' और 'हीलीबोन की बत्तखें' पढें।

२८-७-६४ — अश्क

अनुभव-हीनता और फ़ार्मूलाबद्ध चिन्तन

●

१९६६ की 'नयी कहानियाँ' में धारावाहिक रूप से छपने वाली अपनी लेख-माला की तीसरी किस्त में अश्क जी ने श्रीकान्त वर्मा की कहानियों पर एक पंक्ति लिखी, जो श्री भीष्म साहनी, सम्पादक नयी कहानियाँ को अत्युक्तिपूर्ण लगी। उत्तर में अश्क जी ने उन दो कहानियों की विस्तार से आलोचना की, जिनका उल्लेख श्री भीष्म ने किया था। वह विवेचन महत्वपूर्ण है, इसलिए वह पत्र यहाँ संकलित है।

भीष्म साहनी का पत्र

●

आदरणीय अश्क जी,

लेख (समष्टिगत समस्याएं) मिला। एक साँस मे पढ गया। खूब है। दो टूक है, साफ़ है, गम्भीरता से सोचने पर बाध्य करता है। आपकी पहली दो किस्तो के बारे में मुझे अनेक पत्र प्राप्त हुए है। मुझे यकीन है, इस लेख पर भी वैसी ही प्रतिक्रिया होगी। आशा में स्वस्थ और प्रसन्न होंगे।

मुझे एक अत्युक्ति ज़रूर लगी। श्रीकान्त वर्मा की सभी रचनाएँ अनुभूतिशून्य मुझे नही लगीं। 'शवयात्रा,' 'झाडी' आदि सुन्दर रचनाएँ है और मैं सोचता हूँ समष्टिमूलक है। खैर

२९-४-६६ भीष्म (साहनी)

अश्क जी का उत्तर

●

प्रिय भीष्म,

तुम्हारा १९-४-६६ का कार्ड मिला। लेख तुम्हें पसन्द आया, यह जान कर सन्तोष हुआ। मैंने तो भाई अपने हाथ का काम छोड़ कर तुम्हारे और मिसेज चन्घू के कहने से लेख लिखना स्वीकार किया था। इतना श्रम करने पर भी यदि

लेख तुम्हारे काम का न वनता तो मुझे दुःख होता। वहरहाल, वही रानी, जिसे राजा रानी कहे। तुम्हें लेख पसन्द है तो शेप की मैं चिन्ता नही करता। अपने लिए तो मुझे सारे-का-सारा लेख दोवारा लिखना ही पडेगा। मेरी दृष्टि में जो कसर रह जायगी, वह मैं इसे पुस्तक मे देते वक्त पुनः पूरी कर दूँगा।

तुमने श्रीकान्त के सम्बन्ध में एक पंक्ति पर आपत्ति की है। 'झाड़ी' और 'शव-यात्रा' कभी पढी थी। ये ही नही, 'टोर्सो,' 'ठण्ड,' 'परिणय,' 'ला' वोहीम,' आदि कई दूसरी कहानियाँ भी मैंने उनकी पढी हैं। केवल 'ला' वोहीम,' अथवा एकाध दूसरी को छोड़ कर किसी अन्य कहानी मे मुझे अनुभूति का स्पर्श नही लगा। तुम्हारे कार्ड को पढने के वाद मैंने उन कहानियों को फिर से पढ़ा है। सोचा कि कही मेरे ही पूर्वाग्रह ने मुझसे वे पक्तियाँ न लिखवा दी हो। दोबारा पढने पर भी 'झाड़ी' और 'शव-यात्रा' मुझे अनुभूति-शून्य और कला की दृष्टि से कमजोर कहानियाँ लगी। दोनो के अधारभूत विचारो से मुझे कुछ नही कहना। वे बहुत अच्छे है, उन पर कहानियो की जो इमारतें खड़ी की गयी है, वे निहायत कच्ची हैं। 'ला' वोहीम' को छोड़ कर मुझे श्रीकान्त की कहानियाँ फार्मूला-बद्ध-सी लगती हैं। यदि उन्हें अनुभूति का स्पर्श मिले तो फार्मूले के चलते भी वे प्रभावोत्पादक वन जायँ, पर एक तो उन्हे केवल चिन्तन का स्पर्श मिला है, वे मन को छूती नहीं, दूसरे टेकनिक की दृष्टि से वे कमजोर हैं।

पहले 'झाडी' को लें। कहानी का नायक बचपन मे काँटेदार झाड़ी को पार करने से डरता है, उसमें आत्म-विश्वास की कमी है। एक वार उसके दोस्त उसे उठा कर झाडी के पार फेंकते हैं तो वह पार नही गिरता, झाडी मे गिर जाता है और यह उसकी ग्रन्थि वन जाती है।....यह तो कहानी का आधारभूत विचार रहा। अव कहानी में क्या होता है? वह चला जाता है तो वगूले में उड़ते हुए पत्तो की झाड़ी-सी उसे ग्रस लेती है और उसे लगता है कि वह एक छलाँग मे झाडी को पार कर आया है (वह नौकरी से त्यागपत्र दे आया है इसीलिए उसे ऐसा लगता है) वह घर आता है और अपनी वीवी (वह वीवी है या प्रेमिका यह वात साफ़ नही, पर कुछ भी हो, इससे फर्क नही पड़ता) को वताता है। वह मुँह लटका लेती है और वह वापस जा कर अपना इस्तीफा वापस ले कर उसे फाड़ देता है।

ऐसा नही हो सकता, मैं यह नही कहता। ऐसा हो सकता है। मेरा केवल यह निवेदन है कि उसके लिए ग्रन्थि की तलाश करना अथवा उसे ऊपर से लादना अथवा आत्म-विश्वास की कमी वताना गलती है। यह कमजोरी पति या प्रेमी

की नहीं। पति या प्रेमी अपनी बीवियो अथवा प्रेमिकाओ के लिए सदा से यह करते आये है। यह कमज़ोरी बीवी अथवा प्रेमिका की है। जहाँ प्रेयसियाँ या बीवियाँ पतियों और प्रेमियों से प्यार करती है, उनमे विश्वास रखती है, पतियों या प्रेमियो के नौकरियाँ छोड़ देने पर उनका दिल बढ़ाती है, वहाँ वे संसार से लड़ जाते है; जहाँ कमज़ोर होती है, वहाँ वे नौकरियों से बँधे रहते है। इस कहानी मे नौकरी 'झाड़ी' का सिम्बल है। लेकिन उसे नायक बडी आसानी से पार कर लेता है। फिर भले वह उसमे जा फँसे, पर इसमें दोष उसके अनिर्णय का नही, उसकी पत्नी या प्रेमिका की इच्छा का है।

तो क्या बीवी या प्रेमिका ही वह झाडी है? पर ऐसा लेखक ने संकेत नही किया।

मैं दो वार कहानी पढ चुका हूँ। मेरा यह निश्चत मत है कि लेखक ने श्रम नही किया, या थीम सोची है तो उसे निभाया नही। कही भी यह कहानी मन को छूती नही। एक बौद्धिक खिलवाड है। पर ऐसे खिलवाड श्रीकान्त के यहाँ प्रायः मिलते है।

'शव-यात्रा' इससे कमज़ोर कहानी है। वह भी फार्मूला-वद्ध है। थीम उसकी भी अच्छी है। लेकिन उसे भी अंग्रेज़ी मुहावरे का सहारा लूँ तो कहूँ कि 'वायें हाथ से' लिखा गया है, दायें से नही। एक अच्छी थीम सूझी, विना अनुभूति के जैसे-तैसे उसे निवटा दिया। कुछ मोटी आपत्तियाँ देता हूँ.

१ किस शहर या कस्वे मे ऐसा होता है कि नगर पालिका का भंगी महज एक सिपाही के कहने पर विना किसी ख़ानापुरी के, विना पोस्ट मार्टम के, ऐसे ही किसी लाश को ले जाय? अलग-अलग महकमे है और उनका अलग-अलग लाल फीता है और उसके अनुसार यह होता है।

२. इमरती वाई—नाम हिन्दुआना लगता है, वह जाता भी मरघट को है, फिर वहाँ मुर्दा दफना कैसे दिया जाता है। मैंने चार डिक्शनरियाँ देखी है। कही मरघट के अर्थ कब्रिस्तान नही दिये गये।

३. फिर जो रुपये उसके पास थे, वे तो उसने उडा दिये। मरघट में क्या विना लकडियो के मुर्दा जला दिया जाता है? (इसीलिए लेखक ने शायद दफनाने की वात लिख दी, भूल गया कि वह शव को मरघट पहुँचा रहा था।) लेकिन क्या क़ब्रिस्तान मे क़ब्र-खुदा मुफ्त काम करता है।—नगरपालिका की ओर से जो लाशें जाती है, उनका हिसाव रहता है, रसीद-पर्चा रहता है।

यदि केवल कल्पना में थीम सोचने के वाद अथवा कही से 'आइडिया' लेने के

बाद लेखक ने कहानी को अनुभूति का स्पर्श दिया होता तो कई ऐसे छोटे-छोटे ब्योरे दे दिये होते, जिनसे कहानी विश्वसनीय बन जाती।

मेरा केवल यह कहना है कि केवल अच्छी थीम कहानी नहीं होती, आधारभूत विचार न जाने कितने हर आदमी के पास रहते हैं, पर वे सब अच्छी कहानियाँ नहीं लिख सकते। 'ला बोहीम' तथा एक वह कहानी जहाँ नायक किसी के मरने पर शोक प्रकट करने जाता है (मैं नाम भूल रहा हूँ) अवश्य अनुभूति से लिखी है, पर वे व्यक्तिमूलक, आस्थाहीन कहानियाँ हैं, लिखी गयी अच्छी हैं, पर वस्तु उनकी ठीक नहीं।

मैंने ऊपर दोनों कहानियो की बडी मोटी त्रुटियाँ दिखायी हैं। ध्यान से पढोगे तो और भी कई ऐसी बातें, गलत शब्दों का प्रयोग और गलत वाक्यांश मिल जायँगे, जिनसे लगता है कि लेखक ने थीम दिमाग में आते ही कहानियाँ घर घसीटी, उन्हे पचाया नही, उन पर वैसा श्रम नहीं किया जैसा कि किसी जागरूक लेखक को करना चाहिए।

इतने पर भी यदि चाहो तो मैं उस पंक्ति को काट दूँगा। मुझे श्रीकान्त से कोई विद्वेष नहीं। इस बात का दुःख जरूर है कि वे अपनी प्रतिभा को व्यर्थ (अपनी हीनग्रंथियों ही के कारण) गँवा रहे हैं।

२-५-६५

सस्नेह

अश्क

आकाशचारी और अपना मरना

●

इधर विवाद का विषय बन जाने वाली अश्क जी की कहानी 'आकाशचारी' जुलाई, १९६७ की 'माया' में छपी थी ! सातवें दशक के एक 'प्रमुख' कथाकार श्री गंगाप्रसाद विमल ने वह कहानी पढ़ कर अश्क जी को एक पत्र लिखा। अश्क जी उन दिनों 'अणिमा' के विशेषांक के लिए सातवें दशक के कथाकारों पर लिख रहे थे। उन्होने उत्तर दिया तो विमल की कहानी 'अपना मरना' पर भी लिखा।

गंगा प्रसाद विमल का पत्र

●

मान्य श्री

'माया' के गलत अंक की मैं अब तक खोज करता रहा, क्योकि जब आपका पत्र मुझे मिला था तो मैं ने सोचा, वह माया का अगस्त अंक होगा, जुलाई का देखा ही नही। वह तो अगस्त अंक के बारे में लगातार न मिलने की बात सुन कर मैं स्टेशन जा कर जुलाई का अंक देखने लगा तो उसमें 'आकाशचारी' प्रकाशित थी। छोटे-से अज्ञान की वजह, पहले पढ़ने से वंचित रह गया।

'आकाशचारी' मैं ने दो बार पढी। पहली बार पढते-पढते मुझे लगा जैसे यह किसी ऐसे आदमी से सम्बन्धित है, जिसे हम सब जानते हैं, लेकिन दोबारा पढने से वह भ्रम मिट गया। वस्तुतः 'आकाशचारी' एक प्रतीक मात्र है, जो दोनो दिशाओं में अपने प्रभाव-क्षेत्र देखता है। एक ओर वह अपने प्राप्त 'आकाश' में तुष्ट होता है तो दूसरी ओर वह अपने द्वारा परास्त दूसरे वर्ग के अहं-खण्डन में अपने लिए तुष्टि पाता है। मुझे कहानी पसन्द आयी। मुझे लगता है कि यह प्रतीक कथा आपने हमारे युग के रचनाशील और अरचनाशील दोनो वर्गों के प्रतिनिधियों को अपने-अपने श्रम की सार्थकता प्रकट करने या उन्हें जानने के लिए लिखी है। कह नही सकता शास्त्रीय शब्दावली-सम्पन्न समीक्षक इसके लिए कौन-कौन-से शब्द लिखेगा। मुझे यह कहानी पढ़ते हुए थोडा-सा डर भी

लगा है कि कहीं सचमुच हमारे समय में 'सार्थकता की चुनौती' इस तरह के 'यथार्थ' से न आ जाय। धीरे-धीरे ऐसा हो भी रहा है और यह किसी बड़ी विकट दुर्घटना की भूमिका है। अपने संदर्भों में यह बातें केवल 'मनोविज्ञान' नहीं हैं, बल्कि यथार्थ की आत्मस्वीकृति हैं।

नयी दिल्ली विनीत

४ अगस्त, १९६६ गंगाप्रसाद विमल

अश्क जी का उत्तर

●

प्रिय विमल,

तुम्हारा ४-८-६६ का प्यारा पत्र मिला। 'आकाशचारी' तुम्हे अच्छी लगी, यह जान कर प्रसन्नता हुई, पर जो व्याख्या तुमने उसकी की है, मैंने उस दृष्टि से उसे लिखा नहीं। मुहावरे की भाषा में कहूँ तो यह कहानी मैंने 'दून की लेने वालो' यानी डींग मारने अथवा आसमान में उड़ने वालों पर लिखी है (और डींग आदमी स्वयं अपने सामने भी मारता है और दूसरों के सामने भी) और यह आकाशचारीपन हम सब में किसी - न - किसी मात्रा में मौजूद है। उन डींगों के पीछे छिपा सत्य, संत्रास और खोखलापन भी मैंने कहानी में दिखाया है।

कहानी का नायक लंच के बाद तकिये लगा कर जरा अखबार देख रहा है कि अपने शत्रु आचार्य का लेख पढने के बाद उसके मन में क्रोध उभरने लगता है और आँखें बन्द कर वह मन-ही-मन डींग मारने (आसमानों में उड़ने) लगता है। दूसरे खण्ड में उसकी आँखें झपक जाती हैं और वह अर्धजागृतावस्था में उस आकाशचारीपन के पीछे छिपी यथार्थता को देखता है। इसी बीच वह सो जाता है और यथार्थ स्वप्न से मिल जाता है। तीसरे खण्ड में वह दुःस्वप्न देखता है, जिसके माध्यम से उसके अंतर का भय उसके सामने आ जाता है। चौथे में वह जग गया है और तत्काल उसने फिर महानता का खोल चढा लिया है।

मैं नहीं जानता किसी ने कहानी को इस तरह पढा है कि नहीं, पर मैंने ऐसे ही लिखा है। यदि तुम इस दृष्टि से उसे एक बार फिर पढोगे तो तुम्हें वह और भी अच्छी लगेगी। मुझे तुम्हारे पत्र की निम्नलिखित पंक्तियाँ समझ में नहीं आयीं :

''मुझे यह कहानी पढ़ते हुए थोड़ा-सा डर भी लगा है कि कहीं सचमुच हमारे समय में 'सार्थकता की चुनौती' इस तरह के 'यथार्थ' में न आ जाय। धीरे-धीरे ऐसा हो भी रहा है और यह किसी विकट दुर्घटना की भूमिका है।'

इसे जरा समझा कर लिखो।

इधर तुम्हारी एक कहानी देखने को मिली है— 'अपना मरना'। मैं दो वार इसे पढ़ चुका हूँ, पर यह मेरी समझ में नहीं आयी। शीर्षक जितना बढ़िया है, कहानी उसके साथ इन्साफ नही करती।

मुझे दो बातों पर आपत्ति है :

१. औरत का पति यदि उस लड़के को घर ले आया है तो वह कभी पत्नी वाले कमरे में नहीं सो सकता। यदि पति हिन्दू है तो पत्नी उसे ज़मीन पर नहीं सोने दे सकती। पति दूसरे कमरे में सोने की बात कह कर फिर दूसरे ही वाक्य मे उसी कमरे मे सोने की वात क्यों कहता है?

२. दूसरी वात जो मेरी समझ में नही आयी, वो यह कि पति सचमुच वकरी रखता है अथवा वकरी सिम्बल है इस बात का कि वह पत्नी के साथ भी वैसे ही करता है जैसे लड़के के साथ।

यदि वह सचमुच वकरी रखता है तो सारी-की-सारी कहानी ग़लत हो जाती है, क्योंकि गाय हो, वकरी हो, कुतिया हो—ये सब 'मौसम' में ही दूसरे को अपने निकट आने देते है। कोई आदमी वकरी रख ले और उसके साथ जब चाहे ऐसे करे जैसे स्त्री या लौंडे के साथ, यह हो नही सकता। वह पैर चलायेगी, चिल्लायेगी, निकल भागेगी। न विश्वास आता हो तो वेमौसम में वकरी रख कर देख लो। और यदि दूधनाथ की 'रीछ' के 'दूसरे कमरे' की तरह वह वाग तथा वकरी उस स्त्री के ही मन के भाग हैं और वह वकरी पीछे की ओर से 'किये' जाने का सिम्बल है, तव तुम इसे नफासत से बुन नही सके। उस सूरत में तुम्हें एक-एक डिटेल पर श्रम करना पडता। दूधनाथ ने वह कहानी काफी श्रम से लिखी थी।

कृपया मुझे अपनी कहानी के सम्बन्ध में विस्तार से लिखो। ताकि मैं कोई गलत वात न लिख दूँ। झूठ लिखने की मेरी आदत नही। मुँह देखी वात मैं कम करता हूँ। चुप ज़रूर रह सकता हूँ, पर वह और भी बुरा होगा।

२३ अगस्त '६६

सस्नेह
अश्क

पुनश्च :

एक बात तुमसे कहनी है। मैं तुम सब लोगों की कहानियाँ बराबर पढ़ता हूँ। जहाँ दूधनाथ, ज्ञान और भीमसेन त्यागी ने अपनी शैली बना ली है, वहाँ तुम और कालिया अभी प्रयोग ही कर रहे हो। दूधनाथ ने तो अपने सेक्स ऑब्सेशन से भी किंचित मुक्ति पा ली है। यदि साहित्य में कुछ करना है तो [illegible] से निकलो। रट पुरानी हो या नयी, रट ही होती है।

ब्लैक मेलिंग—लेकिन किधर से

●

अन्तर्प्रसंग

श्री कमलेश्वर, जैसा कि शुरू की टिप्पणी में लिखा जा चुका है, अश्क जी के सम्पर्क में तभी आये, जब १९५४ में अश्क जी ने 'संकेत' की योजना बनायी। जब 'संकेत' के प्रकाशन के कुछ महीने पहले कमलेश्वर झगड़ कर अलग हो गये तो डेढ़-दो वर्ष तक वे अश्क जी के विरुद्ध हर तरह का कुत्सित प्रचार करते रहे। उन्होंने न केवल पटना की स्कैंडल-प्रिय पत्रिका 'चाणक्य' में अश्क-दम्पति के विरुद्ध झूठी बातें लिखवायीं, वरन उनके प्रसिद्ध संस्मरण 'मंटो . मेरा दुश्मन' को ले कर भी स्कैंडल खड़ा करने का कुत्सित और असफल प्रयास किया।

यद्यपि कमलेश्वर तथा उनके गुट के कारण अश्क जी का मन काफ़ी विक्षुब्ध रहा, पर अपनी नजर में उन्होंने फ़र्क नही आने दिया और जब कमलेश्वर की कहानी 'नीली झील' छपी तो उन्होंने उसकी प्रशंसा की और परम आत्मीयता से उसके कुछ दोष भी बताये। न केवल यह, बल्कि जब कमलेश्वर के दिल्ली टेलिविजन में जाने की बात उठी तो उन्होंने मुक्तकंठ से उनकी सिफ़ारिश भी की और कमलेश्वर ने अश्क जी से अपने सम्बन्ध सुधार भी लिये।

लेकिन दिल्ली की मँहगी जिन्दगी का साथ निभाने के लिए कमलेश्वर जहाँ दूसरे दस धन्धे करने लगे, वहाँ उन्होने धड़ाधड़ कहानियाँ भी लिखनी शुरू कर दी। 'खोई हुई दिशाएँ' उनकी अच्छी कहानी थी, इसलिए अश्क जी ने उसकी काफी प्रशंसा की, पर इसके बाद उन्होने जो कहानियाँ लिखीं, एक-दो को छोड़ कर, अश्क जी उनकी प्रशंसा नहीं कर सके। और जब कमलेश्वर ने अपनी एक खासी कमजोर कहानी इस नोट के साथ 'नयी कहानियाँ' में दी कि उस महीने अच्छी कहानी नहीं आयी थी, इसलिए सम्पादक को विवश हो अपनी कहानी देनी पड़ी है तो यह रिमार्क न केवल अश्क जी को दम्भपूर्ण लगा, वरन अन्य लेखकों के लिए अपमानजनक भी। उन्होने कमलेश्वर से कहा कि ऐसा नोट देना स्वयं सम्पादक का अपना

अकौशल प्रकट करता है। कुशल सम्पादक द्वारा चलायी जाने वाली पत्रिका में अच्छी कहानियों की कमी नहीं रहती।... और तभी उन्होंने दबी ज़बान से उन कहानियों की आलोचना भी की, जो कमलेश्वर केवल पैसे के लिए घसीटने लगे थे। 'एक थी विमला' पर दास्तोयवस्की के प्रभाव का भी उन्होंने उल्लेख किया। इलाहाबाद में बैठे अश्क जी को नहीं मालूम था कि कमलेश्वर 'सारिका' की सम्पादकी के लिए सर तोड़ कोशिश कर रहे हैं। उन्होंने केवल यह देखा कि कमलेश्वर, जो प्रगतिशील नये लेखकों में प्रमुख थे और सदा सोद्देश्य कहानियाँ लिखते थे, नितान्त व्यक्तिवादी कहानियाँ लिखने लगे हैं। अन्य त्रुटियों के अलावा इसी कारण अश्क जी ने 'दुखों के रास्ते' और 'जो कहा नहीं जाता' की आलोचना भी की। उन्हीं दिनों 'नयी कहानियाँ' के अपने लेख 'समष्टिगत समस्याएँ' में अश्क जी ने इस बात पर हैरत भी प्रकट की थी और लिखा था कि श्रीकान्त वर्मा का अपनी रविश से हटना समझ में आता है (वे 'दिनमान' की नौकरी के लिए प्रयत्नशील थे) पर कमलेश्वर की बात समझ में नहीं आती। जब कमलेश्वर ने 'नयी धारा' के विशेषांक का सम्पादन किया और अश्क जी से राय पूछी तो नितान्त व्यक्तिगत पत्र में अश्क जी ने उनके इन सब करतबों पर व्यंग्य किया। यद्यपि अश्क जी ने यह सब एक हितचिन्तक के नाते लिखा था, पर कमलेश्वर चिढ़ गये। उन्होंने अश्क जी से कन्नी काटना शुरू कर दिया। (अपनी आलोचना हँसते माथे सुनने वाला मैच्योर कथाकार इन 'नयों' में एक भी नहीं है।) इसी बीच अश्क जी की कहानी 'आकाशचारी' छपी। कमलेश्वर उन दिनों मासिक विग्रह (नयी दिल्ली) में 'साहित्यिक डायरी' लिखने लगे थे। अक्तूबर के अंक में उन्होने अपने कॉलम में मन का बुख़ार निकाला और अश्क जी पर ब्लैकमेलिंग का आरोप लगाया।

आक्रमण उन्होने सीधा नहीं किया। जैसा कि हमेशा होता है और व्यक्तिगत द्वेष को बड़े आदर्शों के पर्दे में छिपाया जाता है, कमलेश्वर जी ने भी लेखकों के व्यक्तिगत राग-द्वेष की बात उठायी। उन्होंने लिखा कि यद्यपि यह व्यक्तिगत राग-द्वेष प्रायः चलता रहता है, पर जब यह बड़े दायरे मे फैलता है तो उसका स्वरूप और मिज़ाज बदल जाता है।...फिर उन्होने उन व्यावसायिक और उपजीवी कलाकारों का उल्लेख किया, जो लोगो को डराने या धमकाने अथवा ब्लैकमेल करने के लिए आये दिन दूसरो के खिलाफ लिखते रहते हैं। उन्होंने रेडियो की कुछ महिलाओं के खिलाफ होने

वाले भण्डाफोड़ अभियान की निन्दा की, कुछ संस्थाओं की कलई खोले जाने पर खेद प्रकट किया और 'दुख' के साथ लिखा कि जब वास्तविक साहित्यिक स्तर पर इस प्रकार का व्यक्तिगत आक्षेपो से भरा, भेद पूर्ण लेखन सामने आता है तो बात बहुत गम्भीर हो जाती है कि लेखक की स्वतंत्रता के नाम पर इधर जो कुछ हो रहा है, वह बहुत निन्दनीय है। जहाँ लेखक की स्वतंत्रता है, वहीं लेखकीय मर्यादा का सवाल भी है और यह आकस्मिक नहीं है कि इस तरह का कुत्सित लेखन हमारी पुरानी पीढी कर रही है।

और यों इधर-उधर की बात करके कमलेश्वर अपने मंतव्य पर आ गये :

'बेहतर यही होगा कि स्पष्ट नाम ले कर बात की जाय। श्री जैनेन्द्रकुमार ही से बात शुरू की जाय, क्योकि वे स्वयं बहुत बडे नैतिकवादी है। वयोवृद्ध होने के नाते साहित्यिक क्षेत्र में उनकी ज़िम्मेदारी भी है—या यो कहे कि अब ज़िम्मेदारी ही उनकी ज़िम्मेदारी रह गयी है, शेष से उनका जीवन्त सम्पर्क नही रह गया है। कुछ एक व्यक्तित्वो को ले कर जैनेन्द्रकुमार ने तमाम साहित्यिक मर्यादाओ को भंग करते हुए अभी कुछेक साल पहले मोहन राकेश और श्रीकान्त वर्मा पर बड़े भद्दे आक्षेप एक कहानी मे किये थे। उनकी वह कहानी 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में छपी थी। शायद यह भी किसी हद तक सही है कि उनका लघु उपन्यास 'व्यतीत' श्री स० ही० वात्स्यायन के प्रति संचित द्वेष की देन है।

'इससे भी ज्यादा हीन स्तर पर जो मारकाट चल रही है, वह श्री उपेन्द्रनाथ अश्क और भैरवप्रसाद गुप्त के बीच है। यह दोनो लेखक केवल एक दूसरे पर लिख रहे हैं। भैरवप्रसाद गुप्त की इधर जितनी भी कहानियाँ छपी है, वे सब अश्क जी अथवा उनकी पत्नी के चरित्र पर आक्षेप करती है। निहायत भोडे तरीके से भैरवप्रसाद गुप्त ने यह अभियान शुरू किया है और सुना है कि अश्क को केन्द्र बना कर अब उनका एक पूरा उपन्यास ही तैयार है।

'उपेन्द्रनाथ अश्क भी इन दिनो काफी नाम कमा रहे है। कुछ महीने पहले ही उनकी एक कहानी 'माया' में छपी थी जो कि सीधे-सीधे डॉ० नगेन्द्र और स० ही० वात्स्यायन को 'उद्घाटित' करने के लिए लिखी थी। अश्क को इस तरह के अभियानो मे महारत हासिल है और उन्होने अपने समस्त लेखनों (लेखन—सं०) को 'अपना व्यक्तिगत हिसाब' चुकाने का ज़रिया बना रखा है। वह चाहे कहानी, कविता या उपन्यास हो अथवा लेखादि। बम्बई के अपने कुछ मित्रो से अपेक्षित सम्मान न पाने पर उन्होने उसका बदला एक लम्बी कविता लिख कर चुकाया था।'

और यों अश्क जी पर आक्रमण करके कमलेश्वर ने लिखा :

'उन तमाम रचनाओं को पढ़ कर यह किसी भी पाठक के लिए स्पष्ट हो सकता है कि उनमे किसी व्यापक हित का मंतव्य नहीं है। ऐसी तमाम रचनाओ मे निहायत गन्दे स्तर का आक्रोश है और है संस्कारहीनता। साथ ही 'कुछ भी' लिखते रहने की असहाय मजबूरी। दरअसल बात यह है कि जिन लेखकों के स्रोत सूख गये है और जो नवीन समयबोध के साथ अपने को नही जोड़ पा रहे है, वे इस तरह अपनी कुण्ठाओ का प्रदर्शन कर रहे है और उसे साहित्य मान कर सृजन में रत हैं।

'पुरानी पीढ़ी अब स्वयं अपना लेखा-जोखा ले रही है। उस पीढ़ी के लगभग सभी चुने हुए लेखक अपने प्रति विश्वास की क्षति से बौखलाये हुए है। और अपने को कहीं न पा कर, अपनी ही पीढी के जमे हुए लेखकों से बदला चुका रहे है....क्योकि जमे हुए लेखको (पुरानी पीढ़ी के) के प्रति उनके मन में भयंकर आग सुलग रही है। जिससे जो डर रहा है या जिससे बुरी तरह भयभीत है, उसी को वह (डरा हुआ लेखक) अपना निशाना बना रहा है। अवरुद्ध सृजन स्रोतो और कुण्ठित लेखकीय व्यक्तित्वो का यही हाल होता है।'

०

अश्क जी ने 'विग्रह' के अगले अंक में इसका खासा कड़ा उत्तर दिया। कमलेश्वर उसका कोई उत्तर नहीं दे पाये। उन्होंने कॉलम लिखना बन्द कर दिया। चूँकि इसी बीच वे 'सारिका' में सम्पादक हो कर चले गये, उन्होंने अपना क्रोध सारिका में एक ही महीना पहले छपी अश्क जी की कहानी 'मरना और मरना' की प्रशंसा में आये हुए पत्रों को दबा कर और उसके विरोध में आये पत्रों को छाप कर चुकाया। यही नहीं, वरन कल्याण (बम्बई) के किसी मित्र, डॉ० शुभकार कपूर के पत्र द्वारा अश्क जी के 'विग्रह' वाले पत्र का उत्तर दिया।

अपने पत्र के शुरू में 'मरना और मरना' पढ़ कर, कहानी की तथा-कथित अश्लीलता का ज़िक्र कर डा० शुभकार (जो प्रकट ही कमलेश्वर के तुफ़ैलियों मे से हैं, क्योंकि पत्र उनका नहीं, कमलेश्वर का लिखा लगता है।) 'विग्रह' के लेख पर आ जाते हैं :

'मुझे अश्क जी की इस कहानी को पढ कर 'विग्रह' में निकला वह लेख और उसके उत्तर में लिखा गया अश्क जी का पत्र स्मरण हो आया, ('मरना और मरना' के संदर्भ मे वह कैसे स्मरण हो आया ?—सं०) जिसमें अश्क तर्कों

का सहारा छोड़ कर बेहड्डी एवं बेजान कीडे के समान छिछले तर्क देने लगे है। ज़रा उनकी भाषा का मुलाहिज़ा कीजिए : 'फिर यदि कमलेश्वर का यह तर्क ठीक है कि ऐसा लेखक तभी करता है, जब वह चुक जाता है तो कमलेश्वर, मार्कण्डेय, रमेश बक्षी, सुदर्शन चोपडा और मनहर चौहान तो मरे हुए ही पैदा हुए हैं'।'

और कहानी को भूल कर शेष दो पैरे उसी लेख को ले कर लिखे गये है। याने कमलेश्वर जो उत्तर 'विग्रह' में न दे सके थे, वह उन्होंने 'सारिका' की सम्पादकी सम्हालते ही दिया। इतना ही नहीं, अश्क जी ने सारिका में छपे उन पत्रों के उत्तर में अपनी कहानी के बारे में पत्र लिखा तो उसे भी दबा दिया और बाद में यह बहाना बना दिया कि अब उसकी सामयिकता नहीं रही और मार्च १९६७ के याने सम्पादक के रूप में अपने नाम के साथ निकलने वाले 'सारिका' के पहले ही अंक मे विग्रह की डायरी में बघारे गये अपने सभी आदर्शों को भूल कर, अश्क जी के विरुद्ध 'भेदपूर्ण' और 'व्यक्तिगत आक्षेपों से भरा' श्री केशव चन्द्र वर्मा का झूठा और कुत्सित लेख छापा।

चूंकि यह पत्र-व्यवहार नयी कहानी के तीन बहुचर्चित कथाकारों में से एक के मनोविज्ञान पर प्रकाश डालता है, इसलिए कमलेश्वर की डायरी के उपर्युक्त महत्वपूर्ण अंशों के साथ अश्क जी का पत्र दिया जा रहा है। नयी कहानी के आन्दोलन का इतिहास कमलेश्वर, राकेश, यादव से जुड़ा हुआ है और ये लोग येन-केन-प्रकारेण पत्र-पत्रिकाओं पर अधिकार जमा कर दूसरों की उत्कृष्ट कहानियों को काट कर, अपनी असफल कृतियों को जमाने का प्रयास करते रहे हैं।

इस संदर्भ मे कमलेश्वर की डायरी के उत्तर में अश्क जी का पत्र महत्व प्राप्त कर लेता है।

अश्क जी का उत्तर

●

'विग्रह' के अक्तूबर अंक मे कमलेश्वर की साहित्यिक डायरी पढी। राजधानी की मँहगी जिन्दगी में रहने और अपने स्तर को एकदम ऊँचा कर के उसे बनाये रखने के लिए उन्हें तरह-तरह के काम करने पड़ते हैं। इस सारी दौड़-धूप,

दंद-फंद, शोर-शराबे मे वे (अपने हमदमो के कथनानुसार) जब मौका मिले, तख्ती ले कर बैठ जाते है और बड़ी आसानी से कोई कहानी या लेख या डायरी धर घसीटते है। प्रकट है कि ऐसी रवारवी और अफ़रा-तफ़री में लिखी हुई रचनाओं में गम्भीरता और गहराई नहीं आ सकती। लेकिन यह उनके पत्रकार या साहित्यकार का (जो भी वे अपने आप को समझते हो) व्यक्तिगत मामला है। मै यह पत्र न लिखता, यदि अपनी इस साहित्यिक डायरी में उन्होने कुछ सरासर झूठी और बेबुनियाद बातें न लिखी होती और तर्क को नितान्त गलत बातें सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल न किया होता। मै आशा करता हूँ कि जैसे विग्रह-सम्पादक ने यह डायरी छापी है, वे मेरा पत्र छापने का भी साहस दिखायेंगे।

अपनी डायरी मे कमलेश्वर ने कुछ बातें प्रकट रूप से कही है, और कुछ परोक्ष रूप से। मै बारी-बारी से उन्हें लूँगा :

१. उन्होने लिखा है कि इधर कुछ लेखक स्वतंत्रता का अनुचित लाभ उठा रहे है। 'व्यक्तिगत आक्षेपो से भरा, भेदपूर्ण लेखन' कर रहे है। यह सब 'ब्लैकमेल' करने के लिए हो रहा है। लेखकीय मर्यादा नही रह पा रही है। इस संदर्भ मे उन्होने जैनेन्द्र के उपन्यास 'व्यतीत' तथा मेरी कहानी 'आकाशचारी' की चर्चा की है। उनका कहना है कि ये दोनो चीजें अज्ञेय के विरुद्ध लिखी गयी है (उनकी डायरी से ध्वनि यह निकलती है कि बेचारे अज्ञेय को उनके साथी ईर्ष्या अथवा विद्वेषवश परेशान किया करते है। अज्ञेय कभी ऐसा निन्दनीय काम नही करते !)

उनकी और पाठको की सूचना के लिए केवल दो तथ्यो की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ। कमलेश्वर ने अपनी डायरी के तीसरे पृष्ठ की आठवी पंक्ति मे शब्द 'इधर' इस्तेमाल किया है। याने वह सब अभी होने लगा है। सो निवेदन है कि जैनेन्द्र के जिस 'व्यतीत' का उन्होने उल्लेख किया है, वह बीस वर्ष पहले छपा था। 'आकाशचारी' से सन्दर्भ में वे उसे कैसे घसीट लाये ? इधर लगता है वे अज्ञेय को, जैसे भी हो, प्रसन्न करना चाहते है। तीन वर्ष वे 'नयी कहानियाँ' के सम्पादक रहे, उन्होने कई विशेषाक निकाले, कई चर्चाएँ चलायी, कभी अज्ञेय को याद नही किया। 'नयी धारा' के विशेषाक के समय सहसा अज्ञेय के प्रति उनका अनुराग इतना जग गया कि उनके विचार जानना और छापना उनके लिए बेहद जरूरी हो गया। बहरहाल, लगता है शायद उतने से उनका काम नही बना, इसलिए 'आकाशचारी' के बहाने बीस वर्ष पुराने जैनेन्द्र

केवल एक दूसरे पर लिख रहे है।...'

कमलेश्वर के हमदम और दोस्त श्री राजेन्द्र यादव ने उनके चरित्र पर लिखते हुए दुष्यन्त के हवाले से 'नयी कहानियाँ' में लिखा था कि कमलेश्वर झूठ बोलने में माहिर हैं। जब साधारण व्यवहार में वे इतना झूठ बोलते हैं तो यदि इस डायरी में उन्होने शत-प्रतिशत झूठी बात लिख दी है तो मुझे हैरत नही हुई। तो भी मैं 'विग्रह' के पाठको के सामने ठीक तथ्य रखना जरूरी समझता हूँ।

भैरव मुझ पर लगातार लिख रहे हैं, इसे तो कमलेश्वर ही जानते होंगे। मैंने उन्हें बहुत कम पढा है। जब वे मेरे यहाँ आते थे तो उनकी रचनाएँ ज़रूर सुननी पड़ती थी (उन रचनाओ द्वारा मेरे या मेरी पत्नी के चरित्र का उद्घाटन होने की आशा मे जिनको पढ़नी पड़ेंगी, उनसे मुझे सहानुभूति है।) पर मैंने स्वयं उन पर कोई कहानी, नाटक, उपन्यास या कविता अभी नही लिखी। क्या कमलेश्वर किसी ऐसी एक रचना का नाम लेंगे जो मैंने भैरव पर लिखी हो? कभी नहीं लिखूँगा यह मैं नही कहता। भैरव के साथ आठ वर्ष गुज़रे है, वह अनुभूति यदि कही सुखद है तो कही अत्यन्त दुखद और कुल मिला कर बेहद दिल-चस्प है। लेकिन अभी तक मैंने कुछ नहीं लिखा, क्योकि किसी अनुभव को पचाये बिना कमलेश्वर, मार्कण्डेय, भैरव, सुदर्शन चोपड़ा या मनहर चौहान तो उस पर लिख सकते है, मै नही लिख सकता।

४ अब रही मेरी कहानी 'आकाशचारी' की बात, जिसको गरियाने के लिए कि वास्तव मे कमलेश्वर ने यह डायरी लिखी लगती है और निष्पक्ष बनने के लिए बेचारे भैरव को घसीटा है। यदि कमलेश्वर कहते है कि मैंने 'आकाशचारी' अमुक-अमुक लेखक पर लिखी है तो प्रकट ही वे उसे नही समझे। कहानी है भी जरा मुश्किल। और उसकी ठीक माहीयत को समझने के लिए उसे दो-तीन बार ध्यान से पढना ज़रूरी है। जो बात कि अफरा-तफरी में लिखने वाले कमलेश्वर के लिए सहज नहीं। अज्ञेय को ब्लैकमेल करने की जरूरत कमलेश्वर को तो कल पड़ सकती है, लेकिन मुझे ज़रा नही है। व्यक्तिगत रूप से मुझे उनसे कुछ लेना-देना नहीं। शायद हमें मिले भी वर्षो हो गये हैं। मैं उनके काव्य और साहित्य का प्रेमी हूँ, सो घर में बैठा पढ-पढा, पसन्द या नापसन्द कर लेता हूँ। नगेन्द्र मेरे पुराने मित्र है और उनसे मेरा कोई हिसाब भी नही। कहानी लिखते समय मेरे सामने दूसरे इर्द-गिर्द ही के पात्र थे। सच्ची बात तो यह है कि वह कहानी किसी एक लेखक पर न हो कर लनतरानीबाज, ज़मीन पर बैठ कर आसमानों में उडने वाले, याने दून की लेने वाले (और कौन लेखक सीने पर

कहानियाँ पुरानी प्रेमिका को ब्लैकमेल करने के सिवा और कुछ नही। अपनी नयी कहानी मे तो उन्होने अपना और प्रेमिका का नाम तक नही बदला। कमलेश्वर पुरानी पीढ़ी को बेकार क्यों बदनाम करते है।

फिर यदि कमलेश्वर का यह तर्क ठीक है कि ऐसा लेखक तभी करता है, जब वह चुक जाता है—याने लेखक के नाते मर जाता है—तो कमलेश्वर, मार्कण्डेय, रमेश बक्षी सुदर्शन चोपडा और मनहर चौहान तो मरे हुए ही पैदा हुए है। क्योकि जैनेन्द्र ने 'व्यतीत' लिखने से पहले 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' जैसे उपन्यास लिखे थे, अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' से पहले अपना प्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर' लिख लिया था और यदि 'आकाशचारी' भी वैसी है तो उसे लिखने के पहले मै डेढ सौ कहानियाँ लिख चुका हूँ। कमलेश्वर और मार्कण्डेय तो जन्मते ही यह ब्लैक-मेलिंग करने लगे थे। आज से दस वर्ष पहले इलाहाबाद के एक मित्र लेखक-प्रकाशक से रुपया ऐंठने के लिए कमलेश्वर ने उनकी पत्नी पर अपने मित्र मार्कण्डेय से एकांकी लिखवाया था, जो उनके एकमात्र एकांकी संग्रह 'पत्थर और परछाइयाँ' के पहले संस्करण का अंतिम एकांकी था। फिर इलाहाबाद के एक प्रकाशक द्वारा डिसमिसल का नोटिस मिलने पर उन्होने उक्त प्रकाशक को ब्लैकमेल करने के लिए रातों-रात एक कहानी लिखी थी और दूसरे दिन उनके पास भिजवा दी थी। श्री फणीश्वरनाथ रेणु तब इलाहाबाद रहते थे और वे इसके गवाह है। सुदर्शन चोपडा तो पूरी तरह जन्मे नही और खासी कुत्सित कहानियाँ लिख रहे है और श्रीकान्त वर्मा के विरुद्ध लिखी मनहर चौहान की कहानी 'हीरो' तो कमलेश्वर ने पढ़ी ही होगी।

लेकिन दयानतदारी कमलेश्वर के पास कभी नही रही, इसलिए (जिन लोगो ने उन्हे बातें करते देखा है, वे जानते है कि) बात करने मे उन्हें प्रायः अपनी दयानतदारी की दुहाई देनी पड़ती है। वे अश्क से चिढे है तो येन-केन-प्रकारेण उन्हे अश्क को गाली देनी है, इसीलिए उन्होने बिना इस बात की परवा किये कि जल्दी मे वह उथली और छिछली बनेगी, डायरी घर घसीटी है। इस प्रक्रिया मे यदि जैनेन्द्र से कलकत्ते मे कथा-समारोह वाला हिसाब चुक जाय और अज्ञेय प्रसन्न हो जायँ तो क्या बुरा है! उनके भविष्य-साधन में जो रुकावट पड़ गयी है, वह दूर हो जायगी। तथ्यो की सचाई से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं है।

३. कमलेश्वर ने लिखा है :

'इनसे भी ज्यादा हीन स्तर पर जो मार-काट चल रही है, वह श्री उपेन्द्रनाथ अश्क और श्री भैरव प्रसाद गुप्त के बीच है। <u>ये दोनों लेखक</u>

केवल एक दूसरे पर लिख रहे हैं।...'

कमलेश्वर के हमदम और दोस्त श्री राजेन्द्र यादव ने उनके चरित्र पर लिखते हुए दुष्यन्त के हवाले से 'नयी कहानियाँ' में लिखा था कि कमलेश्वर झूठ बोलने में माहिर हैं। जब साधारण व्यवहार मे वे इतना झूठ बोलते है तो यदि इस डायरी में उन्होंने शत-प्रतिशत झूठी बात लिख दी है तो मुझे हैरत नही हुई। तो भी मैं 'विग्रह' के पाठको के सामने ठीक तथ्य रखना जरूरी समझता हूँ।

भैरव मुझ पर लगातार लिख रहे है, इसे तो कमलेश्वर ही जानते होंगे। मैने उन्हें बहुत कम पढ़ा है। जब वे मेरे यहाँ आते थे तो उनकी रचनाएँ जरूर सुननी पड़ती थी (उन रचनाओ द्वारा मेरे या मेरी पत्नी के चरित्र का उद्घाटन होने की आशा मे जिनको पढनी पड़ेंगी, उनसे मुझे सहानुभूति है।) पर मैंने स्वयं उन पर कोई कहानी, नाटक, उपन्यास या कविता अभी नही लिखी। क्या कमलेश्वर किसी ऐसी एक रचना का नाम लेंगे जो मैंने भैरव पर लिखी हो? कभी नही लिखूँगा यह मैं नही कहता। भैरव के साथ आठ वर्ष गुज़रे है, वह अनुभूति यदि कही सुखद है तो कही अत्यन्त दुखद और कुल मिला कर बेहद दिलचस्प है। लेकिन अभी तक मैंने कुछ नही लिखा, क्योकि किसी अनुभव को पचाये बिना कमलेश्वर, मार्कण्डेय, भैरव, सुदर्शन चोपड़ा या मनहर चौहान तो उस पर लिख सकते हैं, मैं नही लिख सकता।

४. अब रही मेरी कहानी 'आकाशचारी' की बात, जिसको गरियाने के लिए कि वास्तव मे कमलेश्वर ने यह डायरी लिखी लगती है और निष्पक्ष बनने के लिए बेचारे भैरव को घसीटा है। यदि कमलेश्वर कहते है कि मैंने 'आकाशचारी' अमुक-अमुक लेखक पर लिखी है तो प्रकट ही वे उसे नही समझे। कहानी है भी जरा मुश्किल। और उसकी ठीक माहीयत को समझने के लिए उसे दो-तीन बार ध्यान से पढ़ना ज़रूरी है। जो बात कि अफ़रा-तफरी में लिखने वाले कमलेश्वर के लिए सहज नही। अज्ञेय को ब्लैकमेल करने की जरूरत कमलेश्वर को तो कल पड़ सकती है, लेकिन मुझे ज़रा नही है। व्यक्तिगत रूप से मुझे उनसे कुछ लेना-देना नही। शायद हमे मिले भी वर्षो हो गये है। मैं उनके काव्य और साहित्य का प्रेमी हूँ, सो घर में बैठा पढ़-पढा, पसन्द या नापसन्द कर लेता हूँ। नगेन्द्र मेरे पुराने मित्र है और उनसे मेरा कोई हिसाब भी नही। कहानी लिखते समय मेरे सामने दूसरे इर्द-गिर्द ही के पात्र थे। सच्ची बात तो यह है कि वह कहानी किसी एक लेखक पर न हो कर लनतरानीबाज, जमीन पर बैठ कर आसमानों में उडने वाले, याने दून की लेने वाले (और कौन लेखक सीने पर

हाथ रख कर कह सकता है कि उसमें जरा भी यह खूबी नही) लेखको के 'आकाशचारीपन,' उस आकाशचारीपन के अन्दर छिपे खोखलेपन, भय, प्रवंचना, छल तथा उन सब के मनोवैज्ञानिक कारणो को ले कर लिखी गयी है और यह सब टाइप पात्रों के माध्यम से प्रकट किया गया है। लेकिन उन टाइप पात्रो में दूसरे बहुत-से पात्र शामिल है। कमलेश्वर कभी ध्यान से कहानी पढेंगे तो देखेंगे कि सन्दर्भों के थोडे फेर-बदल के साथ वह कहानी उनके अपने आकाशचारीपन पर भी पूर्णरूपेण उतर जायगी। तीन स्तरों पर लिखी गयी उस कहानी को महज यह घोषणा कर के कि वह अमुक या अमुक लेखक पर लिखी गयी है, कमलेश्वर जैसे अगम्भीर पाठक अथवा आलोचक ही उड़ा सकते है। समय आयेगा कि आज के बददयानत गुटवन्द आलोचको के वदले कोई निष्पक्ष आलोचक उभरेगा (भले ही मै उस वक्त नही हूँगा) और वह आज के लेखकों की रचनाओ के साथ 'आकाशचारी' को भी पढ़ेगा और पाठको को समझायेगा कि आज के युग, उसके कैरियरिज्म और खोखलेपन पर कितना जवरदस्त व्यंग्य उस कहानी मे निहित है। किसी 'इंस्पायर्ड' क्षण मे गत पन्द्रह-बीस वर्ष की अनुभूतियाँ और चिन्तन मैंने उस कहानी मे समो दिया है—भय और गणनाएँ छोड़ कर—ऐसी छिछली घोषणाओ से इस कहानी को उड़ा देना सम्भव नहीं होगा।

साथी लेखको, सम्पादको, अध्यापको, रेडियो अधिकारियो, प्रकाशको या फिल्मी प्रोडचूसरो (याने जिनसे लेखक का भाई-चारा है, अथवा जिनसे उसकी रोटी चलती है) पर लेखक न लिखे और वाकी सारे समाज की कुरीतियो के वखिये उधेड़े, इसे मैं लेखक की कायरता और वददयानती मानता हूँ। इस कायरता के कारण लेखक अपनी अनुभूतियो के दायरे में आने वाले समाज का चित्रण न कर, केवल सेक्स या प्रेम को अपने लिखने का आधार बनाये हुए है अथवा छिछली और उथली और आरोपित सत्यों की कहानियाँ लिखते है। इस कायरता ही के कारण लेखन, प्रकाशन, पत्रकारिता, शिक्षा अथवा संस्कृति के क्षेत्रो में होने वाली धाँधलियाँ उनके कलम से अछूती रह जाती है और वे काल्पनिक 'माँस के दरियाओ' में डूबते-उतराते घूमते है।

कमलेश्वर ने ब्लैकमेलिंग का शब्द सुना है। इसके अर्थ वे नही जानते। डिसमिसल का नोटिस पाते ही उसे रद्द कराने के लिए मालिक पर कहानी लिख कर इस धमकी के साथ भेजना कि हमें निकालोगे तो इसे छपवा देंगे अथवा लेखक-प्रकाशक मित्र से रुपये की माँग करना और उसके इनकार पर उसकी पत्नी पर एकांकी लिखाना और छपवाना ब्लैकमेलिंग है, 'व्यतीत,' 'आकाश-

चारी' अथवा 'नदी के द्वीप' में वैसी ब्लैकमेलिंग नहीं है।

कमलेश्वर को दुर्भाग्य से पढ़ने-बढ़ने का ज़्यादा समय नहीं मिलता। यदि उन्होंने पढ़ा होता तो देखते कि संसार के साहित्य मे दसियो ऐसी मिसालें मिल जायँगी, जब लेखको ने साथी लेखको अथवा उनके परिवार वालों का चित्रण किया। एडगर एलन पो की प्रायः सभी कहानियाँ उनके मित्रो पर आधारित हैं। दूसरों की बात छोड़िए, स्वयं तात्स्ताय ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'वार एण्ड पीस' के नायक पीयरे की पहली पत्नी का भयानक चरित्र कवि पुश्किन की पुत्री के अनुरूप किया। 'केक्स एण्ड एल' में समरसेट मॉम ने प्रसिद्ध उपन्यासकार टॉमस हार्डी और उसकी पत्नी का चित्र खीचा और 'द मून एण्ड सिक्स पेंस' मे प्रख्यात चित्रकार गोगाँ का।—समस्या मेरे खयाल मे किसी मित्र या पुराने मालिक, प्रेमी या प्रेमिका पर लिखने की नहीं; क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या से लिखने की भी नहीं, अच्छा लिखने की है। और उस दृष्टि से 'व्यतीत' और 'नदी के द्वीप' और 'आकाशचारी' जैसी रचनाएं हिन्दी साहित्य में हमेशा याद रखी जायँगी।

रही मेरी कविता 'बिके हुए' की बात, जिसका उल्लेख कमलेश्वर ने अपनी डायरी में किया है तो कमलेश्वर कविताओ को कब से समझने लगे ? वह किन पर लिखी गयी है, इसकी चिन्ता वे क्यों करते है, यदि वे ध्यान से उसे पढ़ेंगे, उसका शीर्षक पढ़ेंगे और अपने गत जीवन के दस वर्षों की घटनाओ का जायज़ा लेंगे तो पायेंगे कि उनके ऊपर भी पूरी तरह घट जायगी। वे बिक न जाते तो 'जार्ज पंचम की नाक' लिखते-लिखते 'दुखो के रास्ते' न ढूंढने लगते और जैनेन्द्र अथवा अश्क की अपेक्षा उन्हें अज्ञेय सहसा इतने प्यारे न हो जाते और तब उन्हें 'आकाशचारी' बुरी भी न लगती।

३ अक्तूबर '६६ अश्क

●

एक औपचारिक पत्र का अनौपचारिक उत्तर

●

जिन दिनों अश्क जी अणिमा के 'सातवाँ दशक-कथा विशेषांक' के लिए अपना लेख लिख रहे थे, उस दशक के एक प्रमुख कथाकार भीमसेन त्यागी से उनका पत्र-व्यवहार हुआ। त्यागी ने कभी अश्क की आलोचनात्मक पुस्तक 'हिन्दी कहानियाँ और फ़ैशन' की बड़ी कटु और व्यक्तिगत आक्षेपों से भरी आलोचना 'लहर' में की थी। लेकिन अश्क जी ने त्यागी की कुछ कहानियों को सराहा तो त्यागी ने 'ज्ञानोदय' में 'परतों के आर पार' की लम्बी समालोचना की और संग्रह के संस्मरणों की बहुत प्रशंसा की, लेकिन अपने बचाव में समालोचना के शुरू में उनके 'बहुमुखी प्रतिभा के स्वामी' होने पर व्यंग्य करते हुए कहा कि (यदि प्रतिभा नाम की कोई चीज उनके पास है तो) सब विधाओं में निरन्तर लिखते रहने के बावजूद अश्क संस्मरण के क्षेत्र को छोड़ कर किसी भी विधा में कोई असाधारण कृति नहीं दे सके। उपर्युक्त शीर्षक के संदर्भ में त्यागी का पत्र और अश्क जी का उत्तर पठनीय है।

भीमसेन त्यागी का पत्र

●

मान्य भाई अश्क जी,

९/११ का पत्र मिला। यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आपने लेख (अणिमा वाला) सविस्तार लिखा है। इतने मे सभी लोगो के साथ न्याय हो सका होगा? यों, समझता हूँ कुछ लेखको पर अन्याय भी आपने किया होगा, बहरहाल, यह तमाशा अच्छा रहेगा।

'परतो के आर पार' की समीक्षा कुछ लोगो को बहुत ही पसन्द आयी। आप उसे नही देख सके। अंक मेरे पास भी नही है। आप मे अत्यधिक दिलचस्पी रखने वाले एक हजरत उसे ले गये तो अब तक नही लौटा सके। 'ज्ञानोदय' इतना अ-लोकप्रिय तो नही। मेरा खयाल है कि इलाहाबाद में जरूर मिल जायेगा।

इधर 'विग्रह' मे आपकी दी गयी सफ़ाई की बडी कुचर्चा है। मेरा खयाल

है—आपने कमलेश्वर को उस लेख का जवाब दे कर अकारण (शायद नही !) उसे इतना महत्व दे दिया !

सुदर्शन आया हुआ है। उस लेख का जिक्र उठाया तो बोला, "अश्क जी से और उम्मीद ही क्या करें अब।"

एक रोज़ गाज़ियाबाद जाना हुआ। यात्री मोशाय मिले थे। आपको खूब-खूब याद कर रहे थे।

इधर 'नयी कहानियाँ' के ताजा अंक में मेरी कहानी आयी है—इलाडा। कहानी पिछले साल की लिखी हुई है। फिर भी मै आपकी राय की प्रतीक्षा तो करूँगा ही।

बाकी मौज।

नमस्कार सहित,

१८ नवम्बर १९६६

भीमसेन त्यागी

अश्क जी का उत्तर

●

प्रिय त्यागी,

तुम्हारा १८-११-६६ का कृपापत्र मिला। 'परतो के आर-पार' की समीक्षा मैने नहीं देखी थी, लेकिन कौशल्या ने देखी थी और काट कर किसी फाइल मे रख दी थी। उसने मुझे निकाल कर दी है और मैने पढ़ी भी है। 'परतों के आर पार' के बारे में तुमने जो लिखा है, उसके लिए आभारी हूँ। लेकिन मेरे बाकी साहित्य के बारे में तुमने जो राय व्यक्त की है, उसने बाकी सब प्रशंसा को धो दिया है। लेकिन चूंकि तुम अभी युवक हो और दयानतदारी किसे कहते है, यह नही जानते, इसलिए मै बुरा नही मानता। जो आदमी अच्छी कहानी, अच्छा उपन्यास लिख सकता है, वही वैसे अच्छे संस्मरण भी लिख सकता है। उन संस्मरणो में कहानी, उपन्यास अथवा काव्य का कितना समावेश है, इसे तुम थोडा प्रौढ हो कर ही जान सकोगे। यो 'हिन्दी कहानियाँ और फैशन' और 'परतो के आर पार' दोनो की समीक्षाओ को पढ कर तुमको जानने में काफी सहायता मिली और जो कुछ जाना, खासा दिलचस्प है।

'विग्रह' में छपे मेरे लेख की कुचर्चा क्यो है, यह बात मेरी समझ में नही

आयी। यह तो ठीक है कि भैरव की इतनी गालियों का मैंने कोई उत्तर नही दिया, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि मैं हर किसी के आक्रमण पर चुप ही रहूँगा। कमलेश्वर ने अगर मेरी कहानियो के शिल्प या भाषा या वस्तु की निन्दा की होती तो मै कुछ नहीं कहता, लेकिन उसने मुझ पर ब्लैकमेलिंग का आरोप लगाया और यह बात मुझसे सहन नही हुई, क्योकि मुझे किसी को ब्लैक-मेल करने की कोई आवश्यकता नही। सुदर्शन को ठीक ही मुझसे कोई उम्मीद नही। जो आदमी अपने आप से कोई उम्मीद नही करता, वह दूसरो से क्या कर सकता है? मैंने इधर उसकी काफी कहानियाँ पढी हैं और मुझे इस बात को जान कर दुख हुआ है कि वह अपनी प्रतिभा का गला अपने ही हाथों रेत रहा है। मै उसे व्यक्तिगत रूप से नही जानता, इसलिए राग-द्वेष का कोई प्रश्न नही उठता। कोई आदमी मुझे क्या समझता है, इससे कुछ लेना-देना नही, कितना अच्छा लिखता है, यही मेरे लिए महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि कई बार मै अपने निकटतम मित्रों की कड़ी आलोचना कर देता हूँ और शत्रुओं की प्रशंसा।

मेरे बारे मे बहुत-से भ्रम फैले हुए है और मेरे लिए उन्हें काटना सम्भव भी नही। चूँकि स्वभावतः आशावादी भी हूँ और आदर्शवादी भी, इसलिए जब मै किसी लेखक की कोई बहुत अच्छी रचना पढता हूँ तो उसके सम्बन्ध में बड़ी जल्दी बडी-बड़ी आशाएँ बाँध लेता हूँ, और जब वह निरन्तर कूड़ा लिखने लगता है तो मुझे बेहद क्रोध आता है कि वह क्यो इतना बुरा लिख रहा है और मै बड़ी कटु आलोचना कर देता हूँ और अच्छे-भले मित्र नाराज़ हो जाते है। चूँकि आज एक भी ऐसा आदमी नही, जो इस तरह प्रशंसा-आलोचना करे, इसलिए जिनकी प्रशंसा अथवा आलोचना होती है, वे उसके दूसरे कारण खोज लेते है और भ्रम का शिकार होते है। मै चुप चाहे लगा जाऊँ, लेकिन जब लिखता हूँ तो झूठ नही बोलता। इसलिए समय-साधकता, अवसरवादिता और गुटबन्दी के इस जमाने में मैं कही फ़िट नही हो पाता।

प्रायः एक धारणा यह भी बनी हुई है कि जो मेरे विरुद्ध लिखता है, मै उसका नोटिस लेता हूँ। नोटिस लेना स्वाभाविक है, लेकिन उसकी प्रशंसा भी करूँ, यह ज़रूरी नही—जब तक कि उसकी रचना अच्छी न हो। कोई आदमी भले ही मेरी प्रशंसा करे, लेकिन अगर वह कूडा लिखता है तो मै उसकी प्रशंसा नही कर सकता।....और सुदर्शन या मनहर चौहान की समझ में यह बात नहीं आ सकती। बहरहाल, मै इस साल कहानी से छुट्टी ले रहा हूँ।

अगले पाँच वर्षों में नाटक और काव्य पर ही लिखूँगा, कहानी पर नही। इसलिए जिनकी आलोचनाएँ मैंने की है, उन्हें खुश होना चाहिए।

'अणिमा' के लेख में, हो सकता है किसी के प्रति अन्याय हुआ हो—हालाँकि मै इससे सहमत नहीं हूँ। गत ४० वर्षो से ऐसा नही हुआ है कि मैंने किसी रचना की प्रशंसा की हो और वह दो कौडी की साबित हुई हो अथवा मैंने किसी रचना को खाम समझा हो और वह अपना सिक्का मनवा गयी हो। मेरे पुराने और नये साथी उसके गवाह है। जो काम मै आज करता हूँ, वह पहले भी करता रहा हूँ।

तुम बहुत अच्छा लिख रहे हो—सिर्फ इतना खयाल रखना कि बहुत जल्दी-जल्दी मत लिखना और साहित्य को रोज़ी का साधन मत बनाना। अभी साहित्य इतना पैसा नही दे सकता कि अच्छा लिख कर अच्छी तरह रहा भी जा सके। मनहर चौहान तुम बनना चाहते हो तो बात दूसरी है।

मै कल तक बेहद व्यस्त रहा हूँ, इसलिए आज विस्तार से तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। बेहद थक गया हूँ और यों आराम से पत्र लिखाना भी एक ऐयाशी लगता है। इस वर्ष मैंने बहुत काम किया है—बीमारी के बावजूद ६ लेख 'नयी कहानियाँ' के लिए लिखे, डेढ़ सौ पेज का एक पूरा नाटक लिखा, दो कहानियाँ लिखी, सात कविताएँ, एक संस्मरण और 'अणिमा' के लिए ४० पेज का लेख लिखा। और जब तुम यह देखो कि इनमें से हर चीज़ चार-चार, पाँच-पाँच बार लिखी गयी है तब तुम उस श्रम का अन्दाज़ा कर सकते हो, जो मुझे करना पड़ा है। आँखें मेरी फिर खराब हो गयी है। अगर बीमार न हो गया तो अगले महीने केरल जाऊँगा और एक महीने में घूम कर फिर लौटूँगा और नया प्रोग्राम बनाऊँगा।

२७ नवम्बर १९६९

सस्नेह
अश्क

'मरना और मरना' प्रसंग

●

अश्क जी की कहानी 'मरना और मरना' सारिका सम्पादक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने स्वीकार की थी और जनवरी '६७ के अंक में छपी थी, पर अगले ही महीने से 'कमलेश्वर' सारिका में आ गये और चूंकि वे 'विग्रह' में अश्क जी के उत्तर से चिढ़े हुए थे, इसलिए जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उन्होंने उस कहानी के विरोध में छै-सात पत्र छापे—यह दृष्टव्य है कि उस अंक में जहाँ भी किसी कहानी या लेख के नीचे जगह मिली 'मरना और मरना' के विरोध में पत्र छाप दिया गया। उस कहानी को किसी पाठक ने न समझा हो, ऐसी बात नहीं। लेकिन कमलेश्वर ने प्रशंसा में आया एक भी पत्र नहीं छापा और कुछ पाठकों ने इस संदर्भ में अश्क जी को पत्र लिखे और 'सारिका' को भेजे. पत्रों की प्रतिलिपियाँ भेजीं। सारिका में छपे क्रोध और आक्रोश भरे उन पत्रों का फल यह हुआ कि कुछ पाठकों ने उन पत्रों को पढ़ कर 'मरना और मरना' के सम्बन्ध और भी रोष भरे पत्र अश्क जी को लिखे, जिनमें से एक-दो के उत्तर अश्क जी ने दिये।

'सारिका' सम्पादक को भी उन्होंने एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें सभी पत्रों में उठायी गयी बातों का संक्षिप्त उत्तर दिया, पर चूंकि 'सारिका' मे एक महीना कर्मचारियो की हड़ताल रही, इसलिए उसके बहाने यह कहते हुए कि अब उसमें सामयिकता नहीं रही, कमलेश्वर ने उस पत्र को पूरे-का-पूरा छापने से इनकार कर दिया। तब अश्क जी ने कहानी की व्याख्या करते हुए एक छोटा-सा पत्र लिखा जो कहानी छपने के पूरे चार महीने बाद मई की 'सारिका' में कमलेश्वर जी ने छापा।

इसी संदर्भ में यहाँ अश्क जी के नाम आया एक पाठिका का क्रोध भरा पत्र तथा अश्क जी का उत्तर दिया जा रहा है।

साथ ही वह पत्र भी, जो अश्क जी ने फ़रवरी ही में सम्पादक 'सारिका' के नाम लिखा था, पर जिसे कमलेश्वर जी ने नहीं छापा।

एक पाठिका का पत्र

●

वयोवृद्ध साहित्यकार अश्क साहब,

सादर प्रणाम।

उपरान्त इस माह 'जनवरी, १९६७' की 'सारिका' मे प्रकाशित कहानी 'मरना और मरना' के द्वारा जो अन्योक्ति के रूप मे भावाभिव्यक्ति हुई है, उससे आज यह पुरातन उक्ति कि 'साठी-बुद्धि नाटी' धारणा साकार हो उठी है।

साहित्यिक अवरोध की कुण्ठा-गत यौवन की स्मृति वर्तमान विगलित जीवन के शिथिल अंगो के चित्रण में स्पष्टतः परिलक्षित हो कर वर्तमान का संकेत दे रही है कि आपका तपःपूत साहित्यिक यौवन भी आज शिथिल अंगो के के साथ ही गल-चुक गया है।

प्रकृति के इस परिवर्तन पर आपके साथ-साथ हमें भी क्षोभ है। सच ही आपके द्वारा लिखी ऐसी कहानी समाज, नयी भावी पीढ़ी को बड़ा सुन्दर नमूना पेश करेगी—नयी पीढ़ी याद करेगी कि आप जैसे भी एक, नग्न-निरावरण लैंगिकता को कोकशास्त्रियो की भाँति परोसने में अपने नाम व साहित्यिकता का दम्भ भरते थे।

क्या बताने का कष्ट करेंगे कि मन की ऐसी कुण्ठा क्यों?—यद्यपि अर्थ व समय की हानि उत्तर देने में अवश्य होगी, लेकिन मेरी जिज्ञासा शान्त करने मे शायद आपको सन्तोष भी कम न होगा—

जयपुर, १६-१-६७ सावित्री परमार एम० ए०

अश्क जी का उत्तर

●

आदरणीया,

लगभग डेढ़ महीना दक्षिण भारत के विभिन्न नगरो में गुज़ार कर पहली फरवरी को वापस पहुँचा। बेंगलोर में एक दिन में छै जगह बोलना पड़ा। मेरा पुराना श्वास रोग पुनः उभर आया और रास्ते में ही अस्वस्थ हो गया। डाक में आपका आक्रोश भरा पत्र पढ़ा। कोई किशोर छात्रा होती—अबोध और अनजान—तो हँस कर चुप हो रहता, पर आप एम० ए० हैं, काफी पढ़ी-लिखी

है, पढ़ाती-लिखाती है, इसलिए आपके कलम से ऐसा पत्र पा कर हँसी नहीं आयी और इसलिए उत्तर दे रहा हूँ।

इस बात का अनुभव मुझे प्रायः हुआ है कि साहित्य पढ़ाने वालों को साहित्य की समझ प्रायः नहीं रहती और वे साहित्य को साधारण पाठकों की तरह केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं, पर मेरे जैसा लेखक, जिसे लिखते हुए चालीस वर्ष हो गये हों, और जो जिन्दगी के यथार्थ को पूरी तरह जानता हो, केवल मनोरंजन के लिए झूठा साहित्य नहीं सृज सकता।

मैंने 'सारिका' मे इस कहानी के विरोध मे छपे पत्र पढ़े है। नये सम्पादक से मेरी लगती है। कुछ ही दिन पहले 'विग्रह' मे मेरी उनकी नोंक-झोंक हो चुकी है, इसलिए उन्होंने कहानी की प्रशंसा में उन पाठको के पत्र नही छापे, जिन्होंने कहानी के मर्म पर उँगली रखी है। मै यह इसलिए कहता हूँ कि पाठको ने इस शिकायत के साथ पत्रो की प्रतिलिपियाँ मुझे भेजी है और यह जान कर मुझे आश्चर्य हुआ है कि उनमें से एक पत्र एक पढे-लिखे दर्जी का है, जिसने कहानी का ऐन मर्म पहचाना है।

कहानी मे एक हल्का-सा आध्यात्मिक नुक्ता है कि जवानी का अहंकार वृथा है और जवानी के उत्तप्त सेक्स की मात्र एक झलक दे कर मृत्यु मे उसी सेक्स की दयनीयता मृत्यु की सारी भयावहता, उसकी वीभत्सता और गन्दगी के साथ दिखायी गयी है।

साहित्य में मृत्यु के प्रति खासा रोमानी दृष्टिकोण भी मिलता है। लेकिन मेरा खयाल है कि मृत्यु की वीभत्सता जानते हुए ही उससे जूझा और उसके लिए तैयार हुआ जा सकता है।

ज्ञानी मृत्यु को देख कर मरता नही, उससे जूझता है; जबकि अज्ञानी बिना मौत के ही मर जाता है। और ऐसा पात्र मृत्यु का वह दर्शक है, जिसको ले कर कहानी कही गयी है।

फिर मै यह भी दिखाना चाहता था कि किस प्रकार कोई अहंवादी मृत्यु के सम्मुख भी अडिग रहता है और हाय तक नही करता। उस अफसर की जगह कोई दूसरा होता तो जाने कितनी हाय-तोबा मचाता।

कहानी प्रकट ही मृत्यु के यथार्थ पर लिखी गयी है। मैंने इधर भयानक मौतें देखी हैं, और मै समझता हूँ, मृत्यु के यथार्थ को जान कर ही जिन्दगी को निरपेक्ष भाव से जिया जा सकता है।

सेक्स को एक अति साधारण चीज मान कर और हौवा न समझ कर यदि

आप कहानी को ध्यान से पढ़ेंगी तो शायद आप उसके मर्म को पा जायँगी। सारिका के पत्रों का जो संक्षिप्त-सा उत्तर मैंने दिया है, उसकी प्रतिलिपि भेज रहा हूँ।

इस पर भी कहानी आपको बुरी लगे तो मुझे क्षमा कर दीजिएगा। मैं यथार्थवादी रचनाकार हूँ और ज़िन्दगी और मौत के यथार्थ को उकेरना मेरा कर्त्तव्य है—सेक्स कहानी में केवल एक प्रतीक है।

मै साहित्य के शिव और सुन्दर का भी कायल हूँ। लेकिन दोनो से ज़्यादा सत्य मुझे प्रिय है, चाहे वह असुन्दर ही क्यों न हो, क्योंकि साहित्य का कर्त्तव्य केवल मनोरंजन नही, ज़िन्दगी और मौत को समझना-समझाना है।

कहानी में मै कही नही हूँ, यद्यपि पाठको ने यही समझा है कि मैंने अपना चित्रण किया है। कमलेश्वर ने विग्रह के संदर्भ में एक पत्र स्वयं वही कल्याण (बम्बई) के किसी डॉक्टर से लिखवा कर कर इस भ्रम को पुष्ट किया है। अब इस स्थिति मे मै कुछ नही कर सकता। यदि मुझे केवल सेक्स का चित्रण भर प्रिय होता तो मैंने पचास-सौ कहानियाँ वैसी लिखी होती। मेरी डेढ़ सौ कहानियों में मुश्किल से दस होगी, जो सेक्स-गत स्थितियो को ले कर लिखी गयी है। वही पाठक का ध्यान ज़्यादा खीचती है, यह मेरा दोष नही, आप ही जैसे अभिभावको और अध्यापकों का दोष है कि बच्चे सेक्स को नारमल रूप में ले ही नही सकते और जिस चीज की ओर नजर नही उठनी चाहिए, उसकी ओर ही युवक-युवतियो की नज़र उठती है और वह उनके दिमागो पर छायी रहती है अफ़सोस इसी बात का है कि जवानी के प्रतीक सेक्स पर लिखी दो पंक्तियों पर आपकी नज़र जमी रही और बाह्य तथा अंतर रूप में मरते हुए दो पुरुषों को आपने नहीं देखा।

१० फ़रवरी '६७ अश्क

सम्पादक 'सारिका' के नाम अश्क जी का पत्र

•

प्रियवर,

'सारिका' के जनवरी अंक में छपी अपनी कहानी 'मरना और मरना' के विरोध में पाठको के आक्रोश-भरे पत्र पढे। सब का अलग-अलग उत्तर देना मेरे लिए कठिन है। मुख्य बातो के संदर्भ मे अपनी बात कहना चाहूँगा।

पाठको के पत्रो से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

१ 'मरना और मरना' वीभत्स रस की एक गन्दी और अश्लील कहानी है।

२ यह 'सारिका' जैसी पारिवारिक पत्रिका मे नहीं छपनी चाहिए थी।

३. इसे माँ, बहनें और बेटियाँ साथ-साथ नही पढ़ सकती।

४. यह केवल व्यापारिक दृष्टिकोण से लिखी गयी है।

५. यह यथार्थ तो है, लेकिन असुन्दर और उद्देश्यहीन है।

६ यह मैने अपने ही ऊपर लिखी है।

जहाँ तक कहानी के वीभत्स रस का सम्बन्ध है मुझे उससे इन्कार नही। यह किंचित गन्दी भी है। लेकिन यह कही नहीं कहा गया है कि वीभत्स रस अथवा गन्दगी को साहित्य में कोई जगह नही मिलनी चाहिए। मैंने मौत के कई रूप देखे हैं। और कई बार उसे खासा वीभत्स और गन्दा पाया है। जिन्दगी के इतने बड़े सत्य—मौत—उसकी वीभत्सता अथवा गन्दगी को साहित्य से बहिष्कृत कर दिया जाय अथवा उसे, मीठे-मीठे, कोमल-कोमल, अयथार्थ, वायवी शब्दों मे चित्रित किया जाय, इसकी माँग अबोध पाठक ही कर सकते हैं। समझदार पाठको के पत्र मेरे पास आये है और उन्होने कहानी के मर्म को समझा है। मेरे खयाल में मौत की वीभत्सता को जान कर ही हम जिन्दगी को निरपेक्ष भाव से जी सकते हैं। मौत की हकीकत को न जानने वाला मौत से पहले मर जाता है।

कहानी में अश्लीलता नही है। जिन पाठकों ने इसे अश्लील कहा है, उन्हे अश्लीलता के ठीक अर्थ मालूम नही। जवानी के सेक्स का प्रतीक मौत के सेक्स के 'कण्ट्रास्ट' मे रखा गया है।

'सारिका' जब से निकली है, केवल एक कहानी मैंने उसमें लिखी है। चूँकि मै 'सारिका' का नियमित पाठक नही हूँ, इसलिए मुझे मालूम नही कि 'सारिका' कैसी पारिवारिक पत्रिका है। यह देखना सम्पादक का कर्त्तव्य था। यदि वह कहानी ऐसी पारिवारिक पत्रिका के योग्य नही थी तो उन्हें नही छापनी चाहिए थी। चन्द्रगुप्त जी मेरे पुराने मित्र है। बहुत बार उन्होंने कहानी माँगी। मैं प्रायः सम्पादको की माँग पर कहानी नही लिखता। जब तक कोई चीज मेरे अन्तर को झकझोर नही जाती, मैं कभी कलम नहीं उठाता। सारे साल में यह एक कहानी लिखी थी, सो उन्हे भेज दी। 'सारिका' मे यह छपी इसमें मेरा दोष नही।

यह मै नही मानता कि इसे माँ-बहन और बेटियाँ नही पढ सकती। स्वस्थ

परिवारो मे, जहाँ बच्चों को यथार्थ ज़िन्दगी से दूर नही रखा जाता और जहाँ माता-पिता बड़ी दानाई से धीरे-धीरे उन्हे यथार्थ जिन्दगी के लिए तैयार कर देते है, यह कहानी पढ़ी जा सकती है। लेकिन यह भी ठीक है कि जिन परिवारों की माँ, बहनें और बेटियाँ निरन्तर यथार्थ और भोंडी हिन्दुस्तानी फिल्मे देखती है और छिप-छिप कर कोकशास्त्र किस्म के ग्रन्थ पढ़ती है और जिनके प्रिय लेखक प्यारेलाल आवारा, गोविन्द सिंह, गुलशन नन्दा, कुशवाहा कान्त जैसे लेखक है, उनके लिए यह कहानी नही है।

अगर मै महज़ व्यापारी होता तो कम-से-कम हर महीने एक ऐसी कहानी ज़रूर लिख देता। मेरी लगभग दो सौ कहानियो मे मुश्किल से दस होंगी जो सेक्सगत स्थितियों को ले कर लिखी गयी है। वही पाठको का ध्यान ज्यादा खीचती है तो इसमें मेरा दोष नही।

यह मैं मानता हूँ कि यह यथार्थ असुन्दर और वीभत्स है। लेकिन यह उद्देश्यहीन है, ऐसा मैं नही मानता। कहानी के उद्देश्य को जानने के लिए उसे धीरज के साथ दो-एक बार पढ़ना जरूरी है। फिर आज का हर गम्भीर लेखक सच्चे और गहरे यथार्थ में विश्वास रखता है। उसे सत्य अभीष्ट है, सौंदर्य की वह उतनी परवाह नही करता। कहानी जवानी के अहंकार की यथार्थता और मौत की वीभत्सता प्रस्तुत करती है और यह भी दिखाती है कि मौत की संगीनी तथा दारुणता मे किसी व्यक्ति का अहं कैसे उसे दूसरो की सहायता नही लेने देता। कोई प्रवुद्ध पाठक कहानी को ध्यान से पढेगा तो उसे कहानी में कई ऐसी बातें मिलेंगी, जिन पर पहली दृष्टि में उसकी नजर न गयी हो और वह कहानी के उद्देश्य को पा जायगा। महज़ मनोरंजन के लिए ट्रांजिस्टर गले में लगाये घूमने और 'सीलोन' अथवा 'विविध भारती' लगाये रखने वाले मनोरंजन-प्रिय पाठको के लिए यह कहानी नही है।

साहित्य मेरे लिए न व्यापार है, न खिलवाड़। ज़िन्दगी के यथार्थ को अपने पाठकों को दिखाना मेरा कर्त्तव्य है। यह यथार्थ कभी क्रूर भी हो सकता है और वीभत्स भी। उससे आँखें चुरा कर लिखना मुझे अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाना लगता है।

जो पाठक हर कहानी मे लेखक को ढूंढ लेते है, उनकी अबोधता को मै क्या कहूँ ?

'मरना और मरना' मे मैंने एक अति लोकप्रिय आध्यात्मिक नुक्ते को यथार्थवादी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है—नुक्ता बहुत सीधा-सादा है कि

जवानी का मान वृथा है। और मैं ने जवानी के उत्तप्त सेक्स की मात्र एक झलक दे कर मृत्यु की सन्निकटता में उसी सेक्स की दयनीयता (मृत्यु की सारी भयावहता, वीभत्सता और गन्दगी के साथ) दिखायी है। साथ ही यह भी संकेत दिया है कि दो तरह के व्यक्ति ऐसी मृत्यु से भय नहीं खाते—एक तो युवा, क्योंकि उनके सामने पूरा जीवन पड़ा होता है और दूसरे ज्ञानी, जो इस आध्यात्मिक सत्य को जानते हैं। लेकिन ऐसे अज्ञानी, जो जवानी बीत जाने पर केवल कल्पना से (अथवा दूसरे उपायों से) उसे बनाये रखते हैं, जब इस सत्य की भयावहता को सामने पाते हैं तो बिना मृत्यु के मर जाते हैं।—कहानी में मृत्यु की सन्निकटता भी है, जवानी और मृत्यु के सेक्स की तुलना भी। युवा व्यक्ति भी है और बेमौत मर जाने वाला अज्ञानी भी। ज्ञानी नहीं है। लेखक पाठकों से यही अपेक्षा रखता है कि वे कहानी को ध्यान से पढ़ें और ज्ञानी बनें—इसे कहानी का दोष अथवा गुण मान लिया जाय कि यह सब कहानी में कहीं लिखा नहीं है, उसे दो एक बार ध्यान से पढ़ कर ही जाना जा सकता है।

जिन पाठकों को इससे कष्ट पहुँचा हो वे मुझे क्षमा करेंगे। पुराने सम्पादक ने कुछ सोच कर ही इसे छापा होगा। वे होते तो भीष्म साहनी की तरह (जिन्होंने कृष्णा सोबती की कहानी 'यारों के यार' की सफाई नयी कहानियाँ के सम्पादकीय में दी है) इसकी सफाई देते। नये सम्पादक से इसकी अपेक्षा नहीं। उनसे भी मैं क्षमा चाहता हूँ।

३-२-६७ अश्क

●

पच्चीसवें सवार की व्यथा

●

'अणिमा' का विशेषांक पढ़ कर श्री परेश ने अश्क जी को लिखा था कि अश्क जी का लेख अधूरा है, पर तब अश्क जी केरल गये हुए थे। बाद मे जब यह पुस्तक प्रेस को जा रही थी, परेश जी का एक कार्ड आया कि उनकी कहानी का उल्लेख सातवें दशक के कथाकारों मे ज़रूर होना चाहिए और अश्क जी उन पर ज़रूर लिखें, चाहे वह पूर्वग्रह-युक्त ही क्यों न हो। अश्क जी ने उनको लिखा था कि उनके पास कहानी नहीं आयी, इसलिए वे उस पर नहीं लिख सके और बाद में उसे पढ़ने का समय उन्हें नहीं मिल सका।

बात वास्तव में यह थी कि अश्क जी के पास केवल २४ कहानियाँ आयी थीं, जिनमें दो-एक कहानियों पर उन्होंने कुछ नहीं लिखा था। उनमें से एक कहानी नीलकान्त जी की भी थी। जब अश्क जी का लेख 'अणिमा' में गया तो सम्पादक 'अणिमा' के कुछ मित्रों ने उसे पढ़ लिया और कलकत्ता के नये कथाकारों मे उसका शोर हो गया। चूँकि नीलकान्त जी उन दिनो कलकत्ते ही में थे, इसलिए जब उन्हें इस बात का पता चला कि उनका उल्लेख समीक्षा में नहीं है तो वे आग-बबूला हो कर 'अणिमा' के दफ़्तर पहुँचे और लड़-झगड़ कर अपनी कहानी वापस ले आये। परेश जी की कहानी बहुत दिनो से 'अणिमा' के पास आयी हुई थी, वह 'फ़िलर' के रूप मे उसमे छाप दी गयी। अश्क जी के पास वह कहानी इसीलिए नहीं भेजी गयी कि वह आरम्भिक सूची में शामिल नही थी। (इन पंक्तियो का लेखक उन दिनों कलकत्ते में ही था, वहीं 'अणिमा' के दफ्तर से यह बात उसे मालूम हुई।)...हम परेश जी का पत्र इस खण्ड में इसलिए छाप रहे है कि इससे नये फ़ैशनपरस्त लेखको की मनोवृत्ति का आभास मिलता है और चूँकि आज अधिकांश लेखक ऐसे ही हैं, इसलिए यह पत्र-व्यवहार महत्वपूर्ण हो जाता है।

परेश का पत्र

●

आदरणीय अश्क जी,

आपके पत्र से हल्का-सा दुःख हुआ। 'अणिमा' बराबर २५ कथाकारों का शोर मचा रही है और उन कथाओं के समीक्षक यह संख्या २४ मान रहे है। मैं नही जानता शरद ने वह २५ वी कथा आपको क्यों नहीं भेजी। क्या यह सम्भव है कि आपने 'अणिमा' का यह विशेषांक नही देखा ? जिस कथा की चर्चा करने से आप रह गये— वह मेरी है—अंक उठा कर देखें।

उस वक्त मैंने इस बात को छोटी माना—फिर भी आपको संकेत किया था कि आपका लेख अधूरा है—उन दिनो आप केरल वगैरह गये हुए थे। आपके सचिव का उत्तर आया था। मुझे इस बात की बिल्कुल तमन्ना नही थी। यदि जानबूझ कर आपने मुझे छोड़ा है तो मुझे एतराज नहीं—लेकिन यह बात तो बिल्कुल समझ में नही आती कि किसी को २४ और २५ का फरक समझ में नही आये।

अभी 'अणिमा' मे आपकी नयी किताब का विज्ञापन देखा तो सोचा आपसे पत्र-व्यवहार करूँ। मुझे लगता है कि 'हिन्दी कहानियाँ और फैशन' तथा यह नयी पुस्तक मिल कर कथा-जगत की पूरी झाँकी प्रस्तुत करेगी—अतः एक कहानी के बूते पर आपने जहाँ मुझे पहली पुस्तक मे जमाया है,वहाँ दूसरी पुस्तक मे यह नाम गायब ही हो जाए तो क्या यह झाँकी पूरी कहलायेगी ?

मेरी जिन दो कहानियो को ले कर कमलेश्वर ने इतना शोर मचाया है—मै उनको ले कर बिल्कुल सीरियस नही हूँ। यशपाल जी ने 'उत्कर्ष' के एक विशेपाक का सम्पादन किया था—उसमें मेरी एक कहानी थी 'पाप्लार का एक जंगल'.... यह आपको केवल सूचना दे रहा हूँ कि कमलेश्वर के 'धर्मयुग' के तीन किस्तो के लेख की मूल उत्तेजना यह कहानी है। मार्च 'सारिका' का पूरा सम्पादकीय इस कहानी पर है। कमलेश्वर के लेख की दूसरी किस्त मे इस कहानी का जिस्ट छापा गया है। (इसे कमलेश्वर 'जाँघो का जंगल' कहता है।)

जिस कथाकार को आप 'अणिमा' विशेपांक मे देखने से रह गये—उसके एक स्टेटमेंट पर कमलेश्वर 'ऐय्याश प्रेतो का विद्रोह' लिख बैठे। इस लेख की पहली किस्त में बीच के कॉलम पर धड़ल्ले से इस वक्तव्य को कोट किया गया है—'अतः सेक्स के अतिरिक्त कोई चीज मेरी कहानी का विषय नही हो

अस्वस्थ तो मै था ही, इस सब श्रम से बहुत बीमार हो गया और डेढ़ महीना सख्त बुखार में मुबतिला रहा। अस्पताल जा कर ही कुछ ठीक हो पाया। इन्ही कारणों से मुझे 'अणिमा' का विशेषांक देखने की फुर्सत नही मिली। कहानियाँ तो मेरी पढी हुई थी और कथाकारों की विचारधारा से मैं परिचित था, इसलिए उनके वक्तव्य पढना मैंने ज़रूरी नही समझा।

तुम्हारी एक कहानी पर कोई कमेन्ट न होने से लेख अधूरा रह गया अथवा पुस्तक अधूरी रह जायगी, हो सकता है यह बात सही हो, लेकिन ऐसी कोई पुस्तक कभी मुकम्मिल नही हुआ करती। अगर तुम्हारी कहानी पर कोई कमेन्ट उसमे होता भी तो तुम्हारी ही तरह के कई और लेखक है, जो अपने आपको बहुत महत्व देते है, जिनकी कहानियाँ अणिमा मे नही छपी और जिनका उल्लेख पुस्तक मे नही है और जो तुम्हारी ही तरह सोचेंगे कि पुस्तक अधूरी रह गयी और वे अपने तई ठीक ही सोचेंगे। लेकिन मेरी भी एक मजबूरी है। मै कहानियो पर कोई शोध-ग्रन्थ नही लिख रहा हूँ। यदि तुमसे कहा जाय कि तुमने आज की सब कहानियाँ पढ़ी है तो शायद तुम 'हाँ' नही कह सकोगे। तुम क्या सातवें दशक का कोई भी लेखक, जिसे इस बात की शिकायत हो कि मैंने उसकी कहानी नही पढी, स्वयं यह दावा न कर सकेगा। आज जितनी कहानियाँ छपती है, एक लेखक उन सब को नही पढ सकता। फिर मै तो बहुत ही व्यस्त लेखक हूँ। मेरे लिए तो वैसा करना और भी नामुमकिन है। कहानीकार हूँ और कहानियाँ पढ़ता हूँ। प्रकट है कि हर लेखक और पाठक की तरह मेरी भी अपनी रुचि-अभिरुचि है। जिन लेखकों को मै महत्वपूर्ण मानता हूँ उनकी रचनाएँ सामने पड़ती है तो ज़रूर पढता हूँ अथवा जिनकी चर्चा होती है उन्हे भी पढ़ता हूँ। कई बार सुनता हूँ कि किसी नये लेखक की कहानी अच्छी आयी है तो उसे ढूंढ़ कर भी पढ़ता हूँ। लेकिन मै पेशेवर आलोचक नही हूँ कि जितनी कहानियाँ छपें उन सब को पढ़ूँ और मेरी मेज़ पर कथा-पत्रिकाओ की फ़ाइलें लगी रहें कि जब कोई सुझाये, अमुक और अमुक पत्रिका के अमुक और अमुक अंक में मेरी कहानी छपी है तो मै तत्काल उसे पढ़ लूँ। फिर ऐसा भी होता है कि कोई लेखक अपनी किसी कहानी से मेरा ध्यान खीचता है, पर बाद मे उसकी एक के बाद एक घटिया कहानी पढने को मिलती है तो उसमे दिलचस्पी नही रहती और उसकी कहानी आँखो के सामने पड़ती भी है तो पढ़ी नही जाती फिर तब तक वह लेखक अनपढ़ा रह जाता है, जब तक उसकी कोई कहानी चर्चा का विषय न बने—याने प्रशंसित न हो।

तुम्हारी पहली कहानी 'प्रश्न सलीब नही होते' उस पत्रिका की ओर से मेरे पास आयी थी, जिसका मै उन दिनो सलाहकार था। प्रयोग के लिहाज से वह मुझे अच्छी लगी थी, इसलिए मैंने उसे छापने की भी सिफारिश की और जब 'परिमल' के परिसंवाद के लिए मुझे लेख लिखना पड़ा (जिसने बाद मे मेरी पुस्तक 'हिन्दी कहानियाँ और फैशन' का रूप लिया) तो इसका उल्लेख भी किया। बाद मे मैंने तुम्हारी दो-एक रचनाएँ पढी, वे मुझे अच्छी नही लगी। लगता है कि तुम्हारी कहानी 'एक और आत्महत्या' मैंने पढी है, पर उसका कुछ भी 'इम्प्रेशन' मेरे मन पर नही। 'उत्कर्ष' का विशेषांक भी मैंने देखा था और शायद उसमें तुम्हारी कहानी 'पाप्लार का एक जंगल' भी पढ़ी थी, लेकिन वह मुझे फ़ैशन में लिखी हुई लगी थी और तुम यह मानते ही हो कि तुम उसके बारे मे सीरियस नही थे। यो ही 'बच्चो का प्रयास' समझ कर तुमने उसे भेज दिया था। हालाँकि तुम स्वयं बच्चे हो—(रंग-रूप और उमर से भी और बुद्धि से भी) पर तुम अपने आप को प्रौढ समझते हो तो इसका क्या किया जा सकता है। तो भी उस अगम्भीरता से लिखी कहानी पर इतना हो-हल्ला मचा है तो तुम्हे प्रसन्न होना चाहिए, क्योकि यही तो तुम अन्ततः चाहते हो।

मैंने कमलेश्वर के लेख की सिर्फ दो किस्तें देखी हैं। उनमें उन्होंने महज दो-तीन लेखको ही की कहानियो से उद्धरण दिये हैं। नाम उन्होने दिये नही और एक-एक कहानी से ऐसे उद्धरण दिये है, जैसे वे कई कहानियो से उद्धरण दे रहे हों। लेकिन जिनकी कहानियो से उद्धरण लिये गये है, वे सब तुम्हारी ही तरह अगम्भीर लेखक है और महज़ चौंकाने के लिए लिखते हैं। मजे की बात यह है कि ये वही लोग है, जिनको कमलेश्वर ने स्वयं 'नयी कहानियाँ' के नये कथा-विशेषाकों में उछाला और जो तब भी महत्व के नहो थे और आज भी नही है। सातवें दशक के लेखको में जो महत्वपूर्ण हैं—जैसे दूधनाथ, ज्ञानरंजन, भीमसेन त्यागी, गिरिराज किशोर, विजय चौहान, महेन्द्र भल्ला आदि—उनमे से किसी एक की भी कहानी से कमलेश्वर ने उद्धरण नही दिया। फिर जिन तत्वो के प्रति कमलेश्वर ने आक्रोश प्रकट किया है, वे न केवल उनकी अपनी कहानियो में हैं, वरन दूधनाथ और गंगाप्रसाद विमल जैसे उनके मित्रो की कहानियों में भी है, जिन्हें उन्होने छोड दिया है। वास्तव मे जैसे तुम किसी एक बात से चिपके नही रहते, कमलेश्वर भो चिपके नही रहते। उनके सारे लेख अगर एक साथ पढो तो उसमें भी बेहद विभ्रम नजर आयेगा। विभ्रम और विरोधाभास! असल मे जितना शोर मचता है, वह प्राय' अगम्भीर लोगो के

द्वारा ही मचाया जाता है। इसे दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि इतनी अच्छी पत्रिकाओं पर कैरियरिस्ट सम्पादक जमे हुए हैं, जो सम्पादक के अपने धर्म के प्रति नितान्त उदासीन है। 'सारिका' की नौकरी मिलने पर कमलेश्वर इलाहाबाद आये थे और बडे जोम से उन्होने कहा था कि जो मेरे साथ नही है, मैं उनमे भुस भर दूँगा। वे तो किसी सक्षम लेखक मे क्या भुस भरेंगे, अगम्भीरता से लिखी हुई चीजो का नोटिस ले कर, सक्षम लेखको को काट कर, गुट बनाने के प्रयास में बोगस रचनाएँ छाप कर, और यो अगम्भीरता से पत्रिका का सम्पादन कर, वे अन्ततः पत्रिका मे लगातार भुस भरते जायँगे और धीरे-धीरे खुद भी भुस-भरे और निर्जीव हो जायेंगे। लगता है कि यह प्रक्रिया आंशिक रूप मे शुरू हो भी गयी है। मैंने कमलेश्वर को पत्र लिखा था कि उन्होने किसी काम को कभी सीरियसलो नही किया। अब उन्हें अच्छा मौका मिला है, वे अच्छे सम्पादक बनें, पर लगता है वे बहुत इम्मैच्योर और भावुक है और सम्पादक की गम्भीरता और मैच्योरिटी उनके बस की नही।

जैसे तुम महज़ चौकाने के लिए नान-सीरियस ढंग से कहानियाँ लिखते हो, वैसे ही कमलेश्वर लेख और सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखते है। लेकिन तुम्हे खुश होना चाहिए कि अपने कथनानुसार तुम्हारी एक नितान्त गैर-संजीदा कहानो का कमलेश्वर ने इतनी संजीदगी से नोटिस लिया।

तुमने लिखा है कि 'अणिमा' मे तुमने जो वक्तव्य दिया था, अब तुम उससे चिपके हुए नही हो। फैशन में लिखने वाले की यह नियति है। वह किसी चीज़ से चिपका नही रहता। जैसे फैशन बदलता है, वह भी बदल जाता है।

यह जान कर हैरत हुई कि तुम उपन्यास लिख रहे हो। 'अणिमा' के अपने वक्तव्य में तुमने लिखा है (तुम्हारे पत्र का उत्तर देने से पहले मैंने तुम्हारा वक्तव्य भी पढ़ा है और कहानी भी) कि उपन्यास लेखन को तुम अपराध मानते हो और, 'जिस व्यक्ति के पास आज के युग में उपन्यास लिखने का अवकाश है, वह पूँजीवादी है और अपराधी है।' इतनी जल्दी पूँजीवादी और अपराधी बनने को तुम कैसे तैयार हो गये ? या फिर वह वक्तव्य भी उतना ही गैर-संजीदा था, जितनी तुम्हारी कहानियाँ।

'अणिमा' वाली कहानी तुम्हारी वैसी ही है, जैसी कि तुम इधर लिख रहे हो— फैशन में लिखी हुई और महत्वहीन। (गौरीशंकर कपूर की कहानी भी अभी पढ़ी है, वह तुम्हारी कहानी की अपेक्षा बेहतर है, यद्यपि उसका अन्त ठीक नही) जब ऐसी महत्वहीन कहानी पर 'दुनिया की सारी पत्रिकाओ ने लिखा है' तो मुझसे

लिखवा कर क्या तुम अब दूसरी दुनिया में शोर मचवाना चाहते हो ? तुम्हारे अहं का भी दोस्त कोई वार-पार नहीं। आराम से बैठ कर कुछ दिन सीरियसली अच्छी चीजें लिखो और हल्ला मचाने की चिन्ता छोडो । हल्ला मचाने वालों की गति बहुत अच्छी नहीं हुआ करती । राजकमल चौधरी, राजेन्द्र यादव, सुदर्शन चोपडा—इतने लोगों ने हल्ला मचाने के लिए लिख कर ही क्या कर लिया, जो तुम कर लोगे ?

मैं तुम्हें जवाब देने से टालता था । तुम नही मानते तो मन की वात लिख रहा हूँ। बुरा मत मानना । शरद ने क्यों तुम्हारी कथा मुझे नहीं भेजी, यह तुम्हें उससे पूछना चाहिए था ।

२२-६-६८ सस्नेह

अश्क

पुनश्च :

तुम्हारा वक्तव्य पढ़ते-पढ़ते मैं कुछ और वक्तव्य पढ गया । सुदर्शन चोपड़ा, तुम और अतुल भारद्वाज—तीनो के वक्तव्य नितान्त बचकाने अहं से भरे हैं । गौरी शंकर कपूर और महेन्द्र भल्ला के वक्तव्य मुझे संतुलित लगे । कपूर के वक्तव्य से मैं शत-प्रतिशत सहमत हूँ । दूसरे फिर कभी पढूंगा ।

अभी खबर मिली है कि राजकमल चौधरी का देहान्त हो गया । पटना अस्पताल में—कैंसर से । बहुत दुख हुआ । मुझे ही नही घर के सभी सदस्यों को । उसकी कहानियाँ पढता था और उसके अनियमित जीवन के बारे में सुनता था तो कभी विश्वास नही आता था कि यह सब उसी राजकमल चौधरी से सम्बन्धित है, जो इलाहाबाद में मेरे यहाँ दो बार पन्द्रह-पन्द्रह दिन रह गया और मेरी वीवी, वच्चों और वहू तक को जिस व्यक्ति में कभी कोई बुराई नही लगी । लगता है केवल जल्दी नाम पाने, अपने को दूसरो से विशिष्ट वताने, साथियों को चौंकाने के लिए उसने वह जीवन अपना लिया । सम्पादक 'धर्मयुग' ने, जिन्हें नयी पीढी को बिगाड़ने मे सिद्धि प्राप्त है, भूखी पीढी पर उनके लेख छाप कर उन्हें शह दी (और यों उसकी आत्महत्या के कारण वने) । पूर पर आयी नदी का आवेग उसमें था, अपने ही किनारों को ढा गया । पिछले दिनो उसने वहुत कष्ट पाया । मैं नही जानता मृत्यु के वाद आत्मा रहती है या नही । रहती हो तो यही मनाता हूँ कि अव उसे शान्ति मिले ।

अश्क

दृष्टि-विन्दु

●

अश्क जी का एक और व्यक्तित्व है—एक सजग और सहानुभूतिशील ईमानदार पाठक का व्यक्तित्व। पत्रिकाएँ वे यों ही समय काटने या सिर्फ़ मनोरंजन के लिए नहीं पढ़ते, बल्कि उनका दृष्टिकोण कृति के अन्दर की सच्चाई को पकड़ना होता है। और इस तरह जब भी कोई रचना किसी भी दृष्टि-विन्दु से उन्हें महत्वपूर्ण (अच्छी या बुरी नहीं) लगती है तो वे अपन मत पाठकों को पहुँचाना नहीं भूलते।

इस सन्दर्भ में 'ज्ञानोदय' के सम्पादक श्री रमेश बक्षी तथा 'नयी कहानियाँ' के क्रमश. सम्पादक कमलेश्वर और भीष्म साहनी तथा दो-एक अन्य सम्पादकों के नाम अश्क जी के पत्र यहाँ संकलित किये जा रहे हैं।

सम्पादक 'नयी कहानियाँ' के नाम

●

प्रिय कमलेश्वर,

एक पत्र मैं लिख चुका हूँ। 'नयी कहानियाँ' का विशेषांक, जहाँ तक कहानियों का सम्बन्ध है, पढ़ गया हूँ। इम्प्रेशन ताज़े हैं सो लिख रहा हूँ।

सबसे पहले मैंने मन्नू की कहानी पढी—इस उम्मीद मे कि 'यही सच हैं' की लेखिका ने विशेषांक के लिए कोई खास चोज लिखी होगी। जब कहानी शुरू की थी तो लगा था कि बहुत अच्छी बन रही है, लेकिन अन्त तक पहुँचते-पहुँचते एकदम बैठ गयी। पढ़ते-पढते लगा कि कई जगह ब्रश के व्यर्थ के स्ट्रोक्स लगे हुए हैं। बेकार के पैचेज़ भी कई है और अन्त सन्तोषजनक (सैटिसफाइंग) नही है। कहानी पढ कर निराशा ही हुई। इतना ज़रूर लगा कि मन्नू पहले से बेबाक हो गयी है, लेकिन कलाहीन बेबाकी किसी काम की नही।

शानी की कहानी 'एक कमरे का घर' का अन्तिम भाग बहुत अच्छा है। लेकिन पहले हिस्से में काफी ढीलापन है और तेकनिक को दृष्टि से कहानी शिथिल और पेचीदा हो गयी है। कई बार शिल्प का ढीलापन लेखक जानबूझ कर लाता है और वह पूरी कहानी के संदर्भ मे गुण बन जाता है, पर लगता नही कि यहाँ लेखक ने जानबूझ कर ऐसा किया है और कहानी बेहतर बनी है।

संग्रह की सभी कहानियो में मुझे दो कहानियाँ सर्वाधिक पसन्द आयी। कृष्ण बलदेव वैद की 'मेरा दुश्मन' और भीष्म साहनी की 'कुछ और साल।' यो तो दो उत्कृष्ट कहानियों मे कोई तुलना नही हो सकती। रुचि या फिर कला अथवा सोद्देश्यता के प्रति प्रतिबद्धता की तुला पर तोल कर ही एक को दूसरी से अच्छा कहा जा सकता है और उस दृष्टि से मुझे भीष्म साहनी की कहानी इन दोनो में फिर अच्छी लगी। वैद की कहानी को मै 'नयी' कह सकता हूँ—नयी और चमत्कार भरी! हालाँकि वह ओसामू दज़ाई की एक कहानी 'भूला हुआ दुश्मन' की याद दिलाती है—जिसे गालिबन मनोहर श्याम जोशी ने 'अपरिचित' के नाम से हिन्दी जामा पहनाया है और जो शायद राकेश के ज़माने में 'सारिका' में छपी थी। लेकिन थोम का 'ट्रीटमेंट' वैद का अद्वितीय है। हाँ, जो लोग कहानी से सोद्देश्यता की माँग करते है, उन्हें इसमें चमत्कार से ज्यादा कुछ और दिखायी नही देगा। इसके मुकाबिले में भीष्म साहनी की कहानी यद्यपि उतनी ही पुरानी लगती है, जितनी कि राज-व्यवस्था, पदाधिकारी-वर्ग—यानी सदियों पुरानी—लेकिन दिमाग को वह बरबस सोचने के लिए

विवश कर देती है—भीष्म ने अपनी कहानी को अत्यन्त निरपेक्ष भाव से यथार्थता की भरपूर पकड़ के साथ लिखा है—एक भी शब्द या वाक्य कही ढीला नही। उन्होंने कोई समाधान भी उपस्थित नहीं किया, यथार्थ स्थिति का समर्थ चित्रण भर कर दिया है। लेकिन साहित्य से जो सोद्देश्यता का माँग करते हैं, उनके लिए कहानी में क्या कुछ नही है ! कोई ग्रहणशील अफसर इसे पढ कर निश्चय ही चेत सकता है और बाहर वालो से नही तो कम-से-कम अपने बच्चो से अपने व्यवहार को बेहतर बना सकता है और यों भविष्य के अकेलेपन से बच सकता है। यह कहानी मुझे उपन्यास का मज़ा दे गयो। भीष्म की कला एकदम मँज गयी है और उसमे उस्तादाना रंग झलक आया है। मेरी बधाई उन तक पहुँचा देना।

जहाँ तक वैद की कहानी का सम्बन्ध है, अगर कहानी मे 'दुश्मन' नायक का अपना ही दूसरा रूप है (और यह मानने के लिए कहानी में काफ़ी संकेत हैं) तब तो कहानी कलापूर्ण है और बात को इस ढंग से कहने पर वैद को दाद देने को जी चाहता है। और यदि कलाकार की प्रतिबद्धता केवल कला के प्रति मान ली जाय तो कहानी उच्चकोटि की बन पड़ी है। एक व्यक्ति का अन्त-र्द्वन्द्व साकार करके अत्यन्त चमत्कार पूर्ण ढंग से वैद ने दर्शा दिया है और वे बधाई के पात्र हैं। लेकिन तब पृष्ठ १४ पर निम्नलिखित पंक्तियाँ मेरे ख़याल में नही होनी चाहिएँ :

'कुछ देर हम बैठे पीते रहे, माला उससे घुल-मिल कर बातें करती रही—आपको यह शहर कैसा लगा ? बीयर ठण्डी तो है ? आप अपना सामान कहाँ छोड़ आये ?—और वह बग़लें झाँकता रहा। हमारे बच्चों ने आ कर 'अंकल' को ग्रीट किया, बारी-बारी से उसके घुटनों पर बैठ कर अपना नाम वग़ैरह बताया, एक दो गाने गाये और फिर गुड नाइट कह कर अपने कमरे मे चले गये।'

और अगर वह दूसरा व्यक्ति नायक का अपना ही ऐसा बिगड़ा हुआ रूप नही है, जो माला के संसर्ग में सुसंस्कृत होना सीख रहा है, लेकिन इस प्रक्रिया से विद्रोह भी करता है और उसका जुड़वाँ भाई या सचमुच उसका कोई पुराना शराबी मित्र है, तब इस कहानी में कुछ नही है और जैसी कि माला है, यह असम्भव नही तो असम्भाव्य ज़रूर लगती है।....सारी कहानी में उपर्युक्त पैरा ही ऐसा है, जो भुलावा देता है और पाठक को उलझन मे डाल देता है और जिसे कहानी की प्रथम थीम के सन्दर्भ मे समझाया नही जा सकता। मैं समझता

हूँ कि दुश्मन नायक का अपना ही रूप हो अथवा उसका कोई दबंग मित्र —दोनों ही सूरतों में इस पैरे की कोई जरूरत नही।

बहरहाल, ये दो कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी, प्रभावोत्पादक और विचारोत्तेजक लगी।

सस्नेह
अश्क

पुनश्च:
मैं अपनी कहानी 'एक उदासीन शाम' भी दोबारा पढ़ गया हूँ। उससे अलग हट कर निरपेक्ष रूप से उस पर फ़तवा देने के लिए कम-से-कम छै महीने की दूरी दरकार है, तो भी कहानी जैसे छपी है, लगता है (कम-से-कम पुरानी तेकनिक की दृष्टि से) कि एक पृष्ठ पहले, याने ६१वें पृष्ठ पर ही खत्म हो जाती है। इसके अलावा चार-पाँच अन्त एक साथ दिमाग में आते है। अभी तो उन सब में यही ठीक लगता है। छै महीने बाद की राम जाने।

पत्र बहुत लम्बा हो गया है, इसलिए शरद जोशी की कहानी पर कुछ नही लिख रहा। प्रेम पत्रांक मे उसकी जो कहानी छपी थी, उसके मुकाबिले में यह कमज़ोर कहानी है।

६-५-१९६५

सस्नेह
अश्क

सम्पादक ज्ञानोदय के नाम

●

प्रिय बच्ची,

जून अंक के सम्बन्ध में तुमने सम्मति माँगी थी। तुम्हारा पत्र मुझे समय से इलाहाबाद मिल गया था, पर चूँकि मुझे कसौली आना था, इसलिए न तो मैं इत्मीनान से पत्रिका ही पढ़ सका, न राय ही दे सका। औपचारिक सम्मतियाँ देने में, जो प्राय: पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती हैं, मेरा विश्वास नही।

बहरहाल, अब अंक मैंने यहाँ पढ़ लिया है और तुम्हारे आदेश का पालन करते हुए विस्तार से अपनी राय लिख रहा हूँ।

जून के अंक की चारो कहानियाँ मुझे अच्छी लगी। कोई स्तर से गिरी

नही लगीं। सोमा वीरा की दो कहानियाँ मैंने इधर पढ़ी हैं। एक इसी अंक की 'दो तारों का आकाश' और दूसरी 'नयी कहानियाँ' के जुलाई अंक में 'लॉन्ड्रोमैर्ट'। यद्यपि दूसरी कहानी मुझे पहली से अच्छी लगी, लेकिन 'दो तारों का आकाश' भी ये पंक्तियाँ लिखते हुए मै दोबारा पढ गया। सोमा वीरा में, विदेश मे रहने वाले अथवा विदेश से आने वाले हिन्दी लेखको से जो बात बेहतर है, वह यह कि उसकी दृष्टि सर्वथा भारतीय है और वह उस हीन-भाव का शिकार नही, जिससे हमारे अधिकांश लेखक और आलोचक बेतरह ग्रसित हैं। दोनो कहानियों को पढते हुए लगा कि हाँ कोई भारतीय लेखिका कहानी लिख रही है और भारतवासियों का भी एक अपना दृष्टिकोण है। 'दो तारों का आकाश' में हल्की-सी भावुकता और आदर्शवादिता है (हालाँकि मैं आदर्शवादिता को बुरा नहीं समझता, क्योंकि उसके बिना हम में और पशुओ मे कोई अंतर नही रह जाता) लेकिन लॉन्ड्रोमैर्ट मे उसने अत्यन्त निरपेक्ष हो कर वस्तु-स्थिति का चित्रण किया है; आदमी मशीन का गुलाम हो कर कैसे स्वयं भी मशीन हो रहा है, इसका यथार्थ-भरा चित्रण सोमा वीरा की इस कहानी मे मिलता है और इस वस्तु-स्थिति की तरफ से भी लेखिका ने आँख नही फेरी कि विदेश मे रहने वाला एकाकी भारतीय युवक बहुत देर तक उस स्थिति से बच भी नही सकता। निर्मल वर्मा, उषा प्रियम्वदा आदि विदेश में रहने वाले भारतीय लेखको में जिस दृष्टि का अभाव लगा, वह सोमा वीरा के यहाँ प्रचुर मात्रा में है।

अजित कौर मे पहले से कही अधिक प्रौढता आ गयी है। उनकी दो-एक कहानियाँ मैंने पहले पढ़ी थी और उन पर अमृता प्रीतम का प्रभाव लगता था, जो कुछ पंजाबी लेखको मे सरदार गुरुबख्श सिह के यहाँ से अबाध चला आया है, लेकिन अपनी 'माँ-बेटे' (मेरे खयाल में शीर्षक 'माँ-बेटा' होना चाहिए था) कहानी में तो वे उस किशोर-सुलभ भावुकता को कही पीछे छोड़ आयी है। 'माँ·वेटे' एक प्रौढ लेखिका की सफल कृति लगती है। कहानी समाप्त करते-न-करते शान्ति की विवशता मन में कुछ अजीव-सी करुणा जगा जाती है।

सुदर्शन चोपड़ा और से० रा० यात्री अपेक्षाकृत नये कथाकार हैं और उत्तरोत्तर वेहतर लिख रहे है। सुदर्शन की कहानी 'अधरंग' में यदि 'दनन-दनन....ऊँ ऊँ ऊँ....ने न् नन् न्....छडक-छक्-छक्-छक-छक् छडाआक.... खट्ट-खट्ट-खट्ट खट्ट....शूऊं शुऊं....पोंऊं—पोऊं।' आदि गाडी के इजिन की, कूपे की या मोटर आदि की ध्वनियाँ न होती तो कहानी और भी आनन्द देती। कहानी की गति में ये ध्वनियाँ निश्चित रूप से वाधा उपस्थित करती हैं। जहाँ-

जहाँ सुदर्शन ने इन ध्वनियों को लेखनी में बाँधना चाहा है, वहाँ-वहाँ ध्यान भटकता है। फिर इस संदर्भ में पहली वात तो यह है कि इन ध्वनियों की ओर संकेत तो दिया जा सकता है, इन्हें पूरी तरह लेखनी में बाँध पाना असम्भव है, फिर रेणु, 'परती परिकथा' में इस कला का इतना दिग्दर्शन करा चुके हैं कि अब उसमे कुछ नयापन नही रहा। 'अधरंग' कहानी अच्छी है, थीम भी नयी है और 'ट्रीटमेंट' भी बुरा नही। मुझे इन्ही ध्वनियो के व्यर्थ चित्रांकन ने परेशान किया।

से० रा० यात्री ने वड़े मँझे और संयत हाथ से कहानी (खंडित संदर्भ) लिखी है। कहानी खत्म होने पर वीरेन्द्र के अतीत की कितनी ही संभावनाएँ आँखो के सामने कौंध जाती है और मन उनकी भूलभूलैया में खो जाता है। वीरेन्द्र का चित्रण खूब सफल उतरा है।

धनंजय वर्मा का लेख (नयी कहानी भारतीय परम्परा और यथार्थ) तीनों कथाकारों को समझाने मे सहायता देता है। धनंजय के आलोचक में यह गुण है कि वह 'स्व' को नही, लेखक को आगे रखता है। छिद्रान्वेषण कर के अथवा फ़तवे दे कर अपनी महत्ता सिद्ध नही करता। आलोच्य वस्तु के गुणो को सफाई से पाठकों को दिखाता है और उसकी आलोचना महज प्रशंसा नही, लेखक को समझने-समझाने का प्रयास है और इसीलिए श्लाघ्य है। शानी के सिलसिले में जो उन्होने यह लिखा है—'इन कहानियो पर कहानी-कला की आवश्यकताओं की दृष्टि से वहस करना निरर्थक है'—इससे मैं सहमत नही। कहानियाँ पहले अच्छी होनी चाहिएँ, तभी वे चर्चा का विषय बन सकती है। विना इस 'अच्छेपन' के उनमें लाख ज़िन्दगी के आत्मीय या यथार्थ चित्र हो, वे मन पर प्रभाव नही डालेंगी। उन चित्रो को इस तरह रखना कि वे मन पर प्रभाव डालें, कला-कौशल की माँग करता है। और वह कौशल शानी में अभी नही आया। जहाँ राकेश के बारे में (कम-से-कम उनके संग्रह 'एक और ज़िन्दगी' तक) धनंजय ने ठीक ही लिखा है कि उनकी कहानियो का एक निश्चित स्तर (मिनिमम ऊँचाई) अवश्य है, वही शानी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उनके यहाँ ऐसा नहीं है। उनके यहाँ 'मैक्सिमम नीचाई' तो है, 'मिनिमम ऊँचाई' नही।....हो सकता है, यह मेरा ही पूर्वग्रह हो, पर मैं हमेशा उम्मीद से उनकी कहानी पढता हूँ और एक वार को छोड़ कर मुझे हमेशा निराशा हुई है।

कसौली — सस्नेह

१२-७-६५ — अश्क

दूसरा पत्र :

●

प्रिय बच्ची,

तुम्हारा २८ जुलाई का पत्र मिला। मैं 'ज्ञानोदय' का १७वाँ नव-वर्षांक वादे के मुताबिक पढ गया हूँ। यह पत्र लिखते समय कई रचनाएँ दोबारा पढ गया हूँ, यह कहूँ तो गलत न होगा। पहले तो मैं तुम्हें नयी पीढी को समर्पित ऐसा सुन्दर अंक निकालने के लिए बधाई देता हूँ। यह बात तो मैं विश्वास के साथ नही कह सकता कि इस नवर्षांक मे सम्मिलित होने वाले कथाकारों की रचनाओं में कोई ऐसी भी है, जो आज से दस वर्ष वाद भी याद रखी जा सके, लेकिन इतना मैं सच्चाई के साथ कह सकता हूँ, कि पढ़ते हुए मुझे अधिकांश अच्छी लगी (मैंने आलोचक की दृष्टि से नहीं, पाठक की दृष्टि से इस अंक को पढा।) और इस वात की आशा ज़रूर बँधी कि नयी पीढ़ी में कुछ ऐसे सशक्त नाम जरूर निकलेंगे, जो आने वाले वर्षों में हिन्दी भाषा का नाम ऊँचा कर सकें।

मैं इलाहावाद में रहता हूँ और इलाहावाद मे पुराने और नये लेखकों का अच्छा-खासा जमघट है। सौभाग्य से मुझे, अपनी पचपन को पहुँचती उम्र के बावजूद, दोनों का सान्निध्य प्राप्त है और मै दोनों पक्षो के मन की बात और भावना जानता हूँ। तुमने अपने सम्पादकीय में परम्परा के जिस 'असहनीय अंश' की वात कही है, उसे एकदम नये लेखक नहीं मानेंगे। वे सारी-की-सारी पुरानी परम्परा को असहनीय मानते है। रहे पुराने लेखक, तो वे इस अस्वीकार, नाराजगी, औद्धत्य और भूख, को समझ नही पाते। उन्हे नये लेखको के इस अस्वीकार और उद्धतता में वीच की पीढी के कुछ 'नये' लेखकों का षड्-यन्त्र दिखायी देता है। उन्हें यह भी लगता है कि यह उद्धतता और नकारात्मकता बाहर से आयी है, कि यह देशीय नही, विदेशीय है।....अमरीका की भूखी पीढी के उद्धत कवि गिन्ज़बर्ग को हमारे अखबारों में जैसे उछाला गया है, जैसे उसके प्रभाव में कलकत्ता, पटना, इलाहाबाद और दिल्ली मे नवयुवक लेखको के दल, हर प्रकार की कैद से आज़ाद हो कर, खुल खेलने और उसी को अच्छी अनुभूति मान कर उसे कविता अथवा कहानियो में रखने को सच्चा साहित्य समझने लगे है और शेष सब उनकी दृष्टि से झूठा और मसनूई और अप्रमाणिक हो गया है...जैसे हमारे यहाँ के साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओ मे ग्रीनविच-विलेज की सैर का आँखो-देखा-वर्णन रोटी के साथ चटनी जैसा ज़रूरी मान लिया गया है, उसे देखते हुए कई वार पुराने लेखकों को

बात सच भी लगती है।....रही बीच के लेखकों के षड्यन्त्र की बात, तो पिछले दिनों एक पुराने लेखक ने कहा, 'अरे बन्धु, यह सब कुछ नहीं, कुछ नये असफल लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं की सम्पादकी सम्हाल ली है और वे एकदम नये लेखकों को इसलिए उछाल रहे है कि वे उनका झण्डा बुलन्द करें और उन्हें सफल और महान कथाकार मान लें।' आदि....आदि....

मैं मान लूँ कि कुछ समय तक आकस्मिक-सा उठ आने वाला यह विद्रोह और यह परम उद्दंतता स्वयं मेरी समझ में नही आयी और मैं भी इसे विदेश से उधार ली हुई स्थिति मानता रहा।....इसमें कोई सन्देह नही कि 'नये' का यह विद्रोह स्वयं को प्रतिष्ठित करने के लिए भी था—एक बार मैं एक नये (अब बीच के) कवि के साथ सैर कर रहा था कि सहसा वे पन्त और महादेवी को गरियाने लगे। उनका आक्रोश इस कारण था कि शहर मे जो सभा होती है, उसका सभापतित्व अथवा उद्‌घाटन उन दोनों में से एक करता है। उन्हें गुस्सा था कि किसी नये (उनका मतलब अपने से था) कवि को क्यों इस काम के लिए नही बुलाया जाता ?....राकेश ने 'सारिका' मे 'आइडेण्टिटी' की बात की ही थी और सचेतन कहानीकारो में से कुछ ने उसे दोहराया भी है।....

लेकिन आज जब मैं पिछले दस वर्षों का जायज़ा लेता हूँ तो मुझे लगता है कि महज़ विदेशी प्रभाव या केवल आगे बढ़ने अथवा नाम या स्थान या प्रतिष्ठा पाने की प्रतिस्पर्धा ही इस अस्वीकार और औद्धत्य के पीछे नही है, और भी कारण है और वे विदेशी न हो कर देशीय ही हैं और उनका सम्बन्ध हमारे देश की सामाजिक और राजनीतिक विघटनकारी परिस्थितियो और उनके प्रति नयी पीढ़ी में एक दुर्निवार क्रोध और आक्रोश के साथ जुड़ा है।—१९४७ से पहले जो कुछ था, १९५७ तक पहुँचते-पहुँचते वह नही रहा और १९६५ तक आते-आते स्थिति भयानक हो गयी है। जिन पाठको ने स्टीफ़न ज्वाइग की आत्म-जीवनी 'द वर्ल्ड आफ़ येस्टरडे' पढ़ी है, उन्हें उस पुस्तक के २९७ से ३०१ पृष्ठों पर पहले महायुद्ध के बाद जर्मनी में, कहा जाय कि सारे योरोप में, पैदा होने वाली ऐसी ही स्थिति का चित्रण मिलेगा—वही घनघोर अस्वीकार, वही प्रबल अनास्था, वही भयंकर आक्रोश, वही भीषण औद्धत्य, रस्मो और परम्पराओ को तोड़ने भर के लिए निषिद्ध पदार्थों का उपभोग, समलैंगिक यौनाचार—किसी आन्तरिक भूख के कारण नहीं—महज़ इसलिए कि वह बुरा समझा जाता था—वह सब कुछ, जिसके लिए हमारे यहाँ भी भूखी पीढ़ी बदनाम है।....

मुझे भी पहले अपने पुराने साथियो की तरह यही लगा था कि जब हमने

कोई युद्ध नहीं लड़ा तो हमारे युवकों में वैसी उद्धतता और अनास्था आयी कैसे ? मुझे स्वयं यह विदेशी प्रभाव लगता था, लेकिन जब मैंने इस समस्या पर ज़रा ठण्डे दिल से विचार किया और इसे निकट से देखने का प्रयास किया तो मैंने पाया कि चाहे हमने युद्ध की विभीषिका नही देखी (हालाँकि विभाजन के दिनों में जो पंजाब या वंगाल ने देखा, वह किस युद्ध की विभीषिका से कम था ?—घर उजड गये, लड़कियों को तन और मन की कुर्बानी दे कर पूरे-के-पूरे परिवारो का पालन करना पड़ा, युवकों ने अपने आपको आशा और आश्रय-विहीन पाया) फिर पिछले पन्द्रह वर्षों में लड़कियाँ आज़ाद हो गयी है, ममता अग्रवाल की कहानी से शब्द उधार लूँ तो कहूँ कि उनकी 'लुक बस्टी थर्स्टी हो गयी है। उनके सौंदर्य ने सामूहिक समानता स्वीकार कर ली है। तेरह से उन्नीस तक की लडकियाँ कार्वन कापियो-सी लगती है, उनकी दृष्टि निर्भीक, दुस्साहसी और न्योतती-सी लगती है।' पुराने नेताओ और पुराने माता-पिताओ ने युवा लोगो के सामने जो आदर्श रखे थे, वे उन्होंने स्वयं झुठला दिये (देश और प्रान्तों की राजधानियो में जा कर मन्त्रियो और धारा-सभाओं के सदस्यों का जीवन देख लीजिए....और कुछ लोग सब कुछ सहन कर सकते है, निरन्तर झूठ और मक्कारी और रियाकारी सहन नही कर सकते !)....इसके अलावा ऐटम बम चाहे हिरोशिमा और नागासाकी पर गिरा हो, पर उसको भयानक छाया नयी पौध के दिलो और दिमागो पर क्या नही पडी ?....इन सब कारणों से नयी पीढ़ी के युवा साहित्यकारो में यदि हर पुराने के प्रति घोर असन्तोष और अनास्था है तो कोई हैरत की बात नही—उनके पास वह उम्र और ज्ञान और अध्यात्म नहीं, जो सब विघटनकारी स्थितियों के पार देखने और निरपेक्ष भाव से कर्म करने की प्रेरणा देता है।.... जैसा कि ज़्वाइग ने कहा है, प्रतिक्रिया में अतिरेक होता है। हो सकता है इस अतिरेक के कारण सब कुछ, जो आज लिखा जा रहा है, स्थायी न हो, पर इस आन्दोलन की तह में जो अन्तर्भूत विद्रोह है, वह निश्चय ही शुभ है। वह साहित्य के ठहरे, गँधाते और सड़ते हुए पानियों में उथल-पुथल मचायेगा, वहाँ नया और स्वच्छ जल आयेगा और इस विद्रोह के गर्द-गुवार ही में नये साहित्य के फूल खिलेंगे, इसमें मुझे कोई सन्देह नही।

०

सम्पादकीय के वाद मैंने सवसे पहले 'अँधेरे वन्द कमरे' पर सुधा अरोड़ा और राकेश के वक्तव्य पढे। मेरे खयाल मे इस माला का विचार जितना अच्छा है, उतने अच्छे लेख उसके अन्तर्गत नही आ रहे। चूंकि इस माला के अधीन

श्रीमती निर्मला ठाकुर के उत्तर में मेरा अपना लेख भी छप चुका है और मैंने राजेन्द्र यादव वाला भी पढा है, इसलिए मै यह महसूस करता हूँ कि जितने ज़ोरदार, विचारोत्तेजक और विवादास्पद ये लेख हो सकते थे, नहीं हुए। कारण मुझे एक ही लगता है—समर्थ आलोचको ने इन रचनाओ के सम्बन्ध में अपनी उलझनो को नही रखा। यदि पुरानों में प्रकाशचन्द्र गुप्त या भगवतशरण उपाध्याय या वच्चन सिंह या नामवर सिंह या देवराज उपाध्याय या विजयदेव नारायण साही आदि और नयो मे देवीशंकर अवस्थी या धनंजय वर्मा या मार्कण्डेय (जो चाहे इधर कहानी अच्छी नही लिख रहे, आलोचना या कहे कि छिद्रान्वेषण वहुत अच्छा कर रहे है और उनके लेख के बाद वादविवाद को काफी गुंजाइश निकल सकती है।) या श्याम परमार आदि उपन्यासों के सम्बन्ध में अपनी उलझनें बताते तो उत्तर देने मे उपन्यासकारो को भी ज़ोर लगाना पड़ता और उपन्यासों के गुण-दोष भी पाठकों के सामने आते, उनका मनोरंजन भी होता और ज्ञान-वर्धन भी—मेरे खयाल मे इलाहावाद मे 'विवेचना' में जैसी परम्परा है, कुछ वैसी परम्परा होनी चाहिए—सिर्फ इस संशोधन के साथ कि लेखक की भी पूरी सफाई छपे। एक ही बात है, जिसका भय इस तरह की लेखमाला मे हो सकता है—कि दोनों पक्षों की ओर से तिक्त, कटु और व्यक्तिगत आरोप न होने पायें। लेकिन सम्पादक का यह कर्त्तव्य है कि वह आलोचको से कहे कि कटु-से-कटु आलोचना करते हुए भी वे सहानुभूति को हाथ से न जाने दें और इस पर भी यदि आलोचक अथवा लेखक के यहाँ ऐसे सन्दर्भ आ जायें तो उन्हें उसकी मरज़ी से सम्पादक काट दे। अभी तो इस माला में और भी उपन्यास 'डिसकस' होंगे। यदि उपरोक्त आलोचकों से लिखने को कहा जाये तो अच्छा हो।

कहानियाँ में प्रायः सभी पढ़ गया। रामनारायण शुक्ल की कहानी वैसी ही है, जैसी उनकी अन्य कहानियाँ। मैंने इधर उनकी काफी कहानियाँ पढ़ी है। उनमें कुछ अजीव-सी एकरसता है। यों रामनारायण शुक्ल ने 'तारीख' मे वात जमा कर कही है और किसी खास तारीख के पहले और वाद के जीवन में कितना अंतर हो सकता है, यह भलीभाँति जना दिया है।

ममता अग्रवाल की कहानी 'इरादे इरादे और इरादे' एक नये युवक की मन स्थिति का सुन्दर चित्रण करती है। ममता की कलम साफ और रवाँ होती जा रही है। यह कहानी 'कादम्बिनी' में छपी उसकी कहानी से वेहतर है। थोड़ी गहराई की उससे और अपेक्षा है, और पूरी आशा है कि उम्र और अनुभव के

साथ वह उसके यहाँ आ जायेगी। (यों लड़कियों के बारे में कोई भविष्यद्वाणी करना कठिन है, भारत मे शादी के बाद लड़कियाँ ऐसे ही बैठ जाती है, जैसे अच्छी नौकरी के बाद यहाँ के लेखक।)

'सारी ख़ुशबू' बड़ी ख़ूबी से लिखी गयी है। पर कहानी शुरू होती है 'मैं' से (यानी नायिका स्वयं अपनी कहानी कहती है।) लेकिन तीसरे कॉलम की अन्तिम पंक्तियो में वह 'वह' हो जाती है (याने लेखक उसके बारे में बताने लगता है) फिर कुछ पंक्तियों के बाद 'मैं' हो जाती है। प्रथम पुरुष और उत्तम पुरुष की इस दुविधा के कारण बराबर रस-भंग होता है। दूसरी बार पढने पर भी इसका कोई कारण समझ में नही आया। प्रेम कपूर की कहानियों के दो टाइप्ड मसौदे, किसी कहानी पत्रिका के माध्यम से, मुझे एक बार देखने का सुयोग मिला था। कहानियाँ अच्छी थी, पर लेखक ने टाइप की ग़लतियाँ तक नही सुधारी थी। स्वयं एक प्रतिष्ठित पत्र में काम करने वाले की इस बेपरवाही पर हैरत होती है। मैं समझता हूँ कि लेखको के लिए इस तरह प्रेस-कापी तैयार किये बिना कहानियाँ भेजना सम्पादक के साथ ही नही, अपने साथ भी अन्याय करने के बराबर है। प्रेम कपूर से मेरी ओर से इस कटु बात के लिए क्षमा माँग लेना। कहानी अच्छी न होती तो मुझे यह भूल न खलती और और मैं इसका उल्लेख न करता।

शशि तिवारी की कहानी बहुत अच्छी बनी है। लेकिन उन्हें मै रामनारायण शुक्ल की ही तरह नयी नही, बीच की पीढ़ी का कथाकार मानता हूँ। प्रकट ही उनकी कलम में अपेक्षाकृत ज़्यादा प्रौढ़ता और गहराई है। 'चाहो के मरुस्थल में उन्होंने विचित्र स्थित्तियों का बड़ी बारीकी से चित्रण किया है।

अवधनारायण सिंह की कलम भी पहले से बहुत मँझ गयी है। 'निर्णय' के कपिल जैसे युवक कलकत्ते अथवा दिल्ली जैसे महानगरों ही में नही, इलाहाबाद और लखनऊ मे भी मिल जायेंगे। नयी पीढी के उस असन्तुष्ट, लेकिन निष्क्रिय प्रतिनिधि का बड़ा ही सफल चित्रण अवधनारायण ने किया है।

अतुल भारद्वाज ने एक 'प्रक्रिया' को बड़ी ख़ूबी से उकेरा है। लेखक ने प्रयास किया है कि पाठक के हाथ कुछ न लगे, लेकिन 'ऐसे हुलिये में कौन पहचानेगा बेटे तुम्हें ?' नायक का अपने आप को इतना कहना ही ग्रहणशील पाठक के हाथ बहुत कुछ दे देता है।....मुझे इस कहानी को पढ़ कर अनायास जितेन्द्र की लम्बी कहानी 'ये घर : ये लोग' की याद आ गयी। बिल्कुल ऐसे ही युवक का इतना ही, कहूँ कि इससे भी ज़्यादा निर्मम चित्रण उसने अपनी

उस लम्बी कहानी में अद्वितीय ढंग से किया था। अतुल ने नायक से जो वाक्य मन-ही-मन कहलवाया है, वह तो उसमें नहीं था, लेकिन लगता है कि जितेन्द्र ने वह कहानी लिख कर अपने से वही प्रश्न किया होगा और अपने को पहचनवाने के प्रयास में साहित्य-वाहित्य का चक्कर छोड़ कर किसी दफ्तर में जा कर वह सुपरिन्टेण्डेण्ट हो गया—अतुल के यहाँ प्रक्रिया वैसी न हो, यही मनाता हूँ।

'अँधेरी सुरंग और सफर' यों तो साधारण रूमानी कहानी है, लेकिन लेखक ने उसे नयी बिनावट में बुना है और इसके लिए वह प्रशंसा की पात्र है।

रवीन्द्र कालिया की 'कोज़ी कार्नर' सुन्दर स्टडी है—ऐसी ही, जिसकी आशा कालिया से की जा सकती थी। नये लेखकों में बात कहने का रवीन्द्र कालिया का एकदम अपना ढंग है। 'नौ साल छोटी पत्नी' के बाद मुझे उसकी यही कहानी अच्छी लगी।

कमलजीत सिंह की कहानी 'अँधेरे में डूबी हुई रोशनियाँ' का शीर्षक मुझे ठीक नहीं लगा, लेकिन थीम की बारीकी और लेखनी की सफलता मुझे चौंका गयी। मुझे विश्वास है कि कमलजीत सिंह की क़लम से और भी सुन्दर और सूक्ष्म कहानियाँ पढ़ने को मिलेंगी।

कसौली सस्नेह
३१-७-६५ अश्क

सम्पादक प्रतिमान के नाम

●

प्रिय त्रिलोकीनाथ,

'प्रतिमान' के कहानी विशेषांक के संदर्भ में तुम्हारा संदेश मिला। इधर महीनों से मैं बीमार चला आ रहा हूँ। तबियत सम्हल कर फिर गिर जाती है। कल रात को बेहद तकलीफ़ रही। कोई लम्बा लेख ऐसे में लिखना या लिखवाना लगभग असम्भव है। 'नयी कहानी,' 'आधुनिक कहानी,' 'आज की कहानी,' 'सचेतन-कहानी,' अथवा 'अकहानी'—यानी कहानी के नाम पर जो कुछ भी पिछले दिनों सामने आया है, उसके सम्बन्ध में इस समय जो भी विचार मेरे मन में आ रहे हैं, वे मैं इस पत्र के माध्यम से तुम्हें भेज रहा हूँ। हो सकता है इनमें सुव्यवस्थित तारतम्य न हो, लेकिन इससे तुम्हारा काम चल जायगा, ऐसी आशा है।

पिछले दिनों 'नयी कहानी' को ले कर काफी चर्चा-कुचर्चा हिन्दी पत्र-पत्रिकाओ में हुई है। मैंने स्वयं भी न केवल फुटकर लेख लिखे, वरन 'हिन्दी कहानियाँ और फ़ैशन' नाम की एक पूरी-की-पूरी पुस्तक का प्रणयन कर डाला ! यहाँ उन बातो को दोहराने का कोई औचित्य मुझे नज़र नही आता। इस सारे शोर-शराबे मे जो चन्द बातें सामने आयी है, वे मै यहाँ दे रहा हूँ।

अंग्रेज़ी मे एक मसल है कि पुरानी व्यवस्था बदलती है, चाहे वह कितनी ही अच्छी क्यों न हो। यही हाल साहित्य का भी है। आदमी चूंकि परिवर्तन-प्रिय है इसलिए वह एकरसता से ऊब जाता है। 'नयी कहानी' के प्रादुर्भाव का पहला कारण यही है।

पुरानी कहानी गत कई दशको के निरन्तर प्रयास से मँजाव के ऐसे स्तर पर पहुँच गयी थी और उसका शिल्प इतना पेचीदा हो गया था कि किसी नवोदित कथाकार के लिए सहसा सुगम न रहा था। 'सचेतन' कहानी का आन्दोलन नवोदित कथाकारों की इसी तन-आसानी से उद्भूत दिखायी देता है।

चूंकि हिन्दी साहित्य में—विशेषकर कथा-साहित्य मे—लिखने वालों की संख्या बढ गयी, इसलिए पुराने जमे हुए लेखको की भीड़ में किसी नवागन्तुक के लिए अपने आप को पहचनवाना कठिन हो गया। अतः इसके लिए पुरानो को नकारना अनिवार्य हो गया। 'आइडेंटिटी' की इसी इच्छा ने 'नयों' को 'पुरानो' के विरुद्ध होने को विवश किया और 'सचेतनों' को 'नयों' के विरुद्ध उन्ही के हथियारों का प्रयोग करना सिखाया और हिन्दी कहानी के क्षेत्र में खासी आपा-धापी मच गयी।

पश्चिम मे आर्ट के क्षेत्र में मूर्त से अमूर्त की ओर जो प्रयोग हुए, धन और ऐश्वर्य के बाहुल्य ने जीवन को जैसे खोखला बना दिया, दो महायुद्धो ने आदर्शो को जैसे तोडा और सत्य तथा शिव के प्रति आस्था को जैसे खण्ड-खण्ड किया, उस सब का प्रभाव वहाँ के कहानी-साहित्य पर भी पड़ा और यथार्थ-वादो, अतियथार्थवादो कहानी के बाद 'एब्सर्ड' कहानियाँ और 'अकहानियाँ' लिखी गयी। वहाँ के कथाकारो ने कदाचित वैसा आन्तरिक प्रेरणा से किया। हमारे यहाँ वैसा अनुकरण मे हुआ, इसलिए नवोदित कवियो और कथाकारो के यहाँ 'थीम' और 'ट्रीटमेट' मे जल्दी ही एकरसता आ गयी।

आइडेंटिटी की भूख आदमी को कहाँ तक ले जा सकती है, इसके एक उदा-हरण से मुझे अभी-अभी दो-चार होना पड़ा है। श्री गुरवचन सिंह हिन्दी के काफी पुराने 'नये कहानीकार' हैं, जो अब तक अपने कथनानुसार लगभग डेढ़ सौ

कहानियाँ लिख चुके हैं और उनका यह भी दावा है, कि वे हिन्दी के प्रथम मौलिक सिख लेखक हैं और उर्दू से आ कर उन्होंने हिन्दी के लिए बड़ा बलिदान किया है। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं हिन्दी-कहानी-सम्बन्धी इधर के अपने किसी भी लेख में उनका उल्लेख नहीं कर सका, जिस कारण उन्हें मेरी खासी खबर लेते हुए, तीन फ़ुलस्केप पृष्ठों का एक लम्बा पत्र मेरे पास भेजना पड़ा। उनकी धारणा है कि मैंने वास्तव में उनकी उपेक्षा महज़ इसलिए की है कि उनके चेहरे पर दाढ़ी है और मेरे नही। श्री गुरबचनसिंह अपनी तरह के अकेले नहीं है। इसी तरह की कुण्ठा के शिकार श्री भैरवप्रसाद गुप्त भी है, जो कई सौ कहानियाँ लिखने और छपवाने के वाद भी कहानीकार के रूप में अपनी कोई आइडेण्टिटी नही वना पाये, इसीलिए आजकल कीचड़-उछाल, गन्दी कहानियाँ लिख कर अपना नाम अमर करने मे संलग्न है। ऐसों की तो कोई दवा नहीं, लेकिन सुलझे दिमाग वाले नवागन्तुक कथाकारों के लिए मैं चन्द संकेत देता हूँ :

१. साहित्य किसी की वपौती नही है और फ़ारसी की कहावत है 'जा-ए-उस्ताद खाली अस्त' अर्थात उस्ताद की जगह सदा खाली है, जिसका जी चाहे अपनी प्रतिभा, श्रम तथा सूझ-बूझ से उसे पा सकता है।

२. युवक कथाकारों का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वे पुरानों की गद्दियाँ छीन लें, पर पुरानो को इस प्रयास से कोई नहीं रोक सकता कि जब तक सम्भव हो, वे उन पर जमे रहें।

३. नयी रचना केवल 'नयी' होने से अच्छी नही हो जाती।

४. महज़ अनुकरण से उच्चकोटि का साहित्य नहीं रचा जा सकता। अनुकरण-जन्य तथा अनुभूति-जन्य साहित्य में सदा अंतर रहेगा।

५. साहित्य में 'हिन्दू लेखक,' 'मुसलमान लेखक,' 'सिख लेखक,' होना कोई मानी नही रखता, केवल अच्छा लेखक होना ही अर्थ रखता है।

६. पाठक निहायत निर्मम होता है। वह लेखक की वल्दियत, उसका धर्म, जाति वग़ैरह कुछ नही देखता। वह तो सिर्फ़ अच्छी रचना देखता है।

७. प्रचार आइडेण्टिटी के लिए ज़रूरी है, पर केवल प्रचार किसी को उच्चकोटि का लेखक नही बना सकता, वह किसी के नाम को वक्ती तौर पर उछाल तो सकता है, लेकिन उसे स्थायित्व नही प्रदान कर सकता।

पत्र खासा लम्बा हो गया है और मैं वेहद थक गया हूँ, इसलिए इसे यही समाप्त करता हूँ।

इलाहावाद
१५ अक्तूबर '६५

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

सम्पादक 'नयी कहानिय ' के नाम

●

प्रिय भीष्म,

मै इधर सख्त बीमार हो गया था । आज ग्यारह-बारह दिन बाद पढ़ने के कमरे में आया हूँ और यह पत्र लिख रहा हूँ ।

इस बीच मैं 'नयी कहानियाँ' बराबर पढ़ता रहा हूँ । जुलाई अंक में सोमा वीरा की कहानी 'लॉन्ड्रोमैर्ट,' अगस्त अंक में नरेन्द्रनाथ की 'सरदारासिंह' और सितम्बर के अंक में रेणु की 'विकट संकट' मुझे बहुत अच्छी लगीं ।

विदेश में गये हुए हिन्दी लेखकों की मनोवृत्ति और वस्तुओ और स्थितियो को देखने की दृष्टि प्रायः विदेशियों जैसी हो जाती है । मैंने सोमा वीरा की कई कहानियाँ इधर पढी है । वहाँ की स्थितियों को दिखाने का उनका ढंग अपना, कहूँ कि भारतीय है । किस प्रकार वहाँ की मशीनी सभ्यता में हृदय की कोमलतम भावनाएँ भी मेकानिकी बनती जा रही है और नारी और कपडा धोने वाली मशीन में कोई अंतर नही रहा, इसका बड़ा ही कुशल चित्रण सोमा वीरा ने ने अपनी कहानी 'लॉन्ड्रोमैर्ट' मे किया है ।

'सरदारासिंह' अत्यन्त प्रभावोत्पादक कहानी है । श्री देवीशंकर अवस्थी से मै विशेषकर कहना चाहूँगा कि महेन्द्र भल्ला की कहानी का यथार्थ यदि सच्चा और आधुनिक है तो सरदारासिंह का भी उतना ही सच्चा और आधुनिक है, क्योकि सरदारासिंह को मैंने भी देखा और जाना है । यह और बात है कि हमारे बौद्धिक आलोचक उस यथार्थ को स्वीकारना अपनी बौद्धिकता और आधुनिक दृष्टि का अपमान समझें ।

रेणु की कहानी मुझे अपनी बीमारी और उदासी मे बेतरह हँसा-रुला गयी । स्थितियों की हास्यास्पदता को पकड़ने और देखने और उसे उकेरने की वह शैली रेणु की नितान्त अपनी है और इसमे उनका कोई सानी नही । मेरी बधाई और आभार इन कथाकारो तक पहुँचा दीजिए ।

कसौली
सितम्बर '६५

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

सम्पादक विकल्प के नाम

●

प्रिय शैलेश,

बटरोही जी के माध्यम से, छैमाही 'विकल्प' के सिलसिले में, क्लिष्ट भाषा मे लिखा हुआ, बहुत ही उलझा और पेचीदा तुम्हारा आयोजकीय वक्तव्य मिला। दो-तीन बार पढ़ने पर भी कुछ पल्ले नहीं पड़ा, और न ही यह मालूम हुआ कि तुम मुझसे क्या चाहते हो। बहरहाल, बटरोही जी ने अपने शब्दो मे तुम्हारी बात कही है और मै जो कुछ भी समझ पाया हूँ, उसके बारे में संक्षिप्त रूप से अपने विचार भेज रहा हूँ।

जिन स्थितियों की ओर तुमने अपने आयोजकीय वक्तव्य में संकेत किया है, उसके अस्तित्व से एकदम इनकार करना सम्भव नही। यद्यपि अपने तईं न मुझे रचनात्मक असामर्थ्यबोध होता है, न मैं अपने को किसी तरह संत्रस्त पाता हूँ। लेकिन कथाक्षेत्र में यह स्थिति है जरूर और इसमें कोई सन्देह नही कि संक्रमण, संक्रान्ति, आतंक, संत्रास, विघटन, मूल्यहीनता, धुरीहीनता, दिशाशून्यता, अपरम्परा, विद्रोह, विस्फोट, निषेध, नये सत्यों की खोज आदि इतने बड़े-बड़े शब्दों के ढेले फेंकने के बावजूद बहुत-से लेखकों से 'साधारणतया अच्छी' भी एक रचना नहीं बन पाती, अच्छी, बहुत अच्छी रचना की तो बात ही दूर रही और ये इतने सारे आन्दोलन कही-न-कहीं उस असामर्थ्य और तज्जनित संत्रास का ही बोध कराते है।

इस स्थिति के कारणो में जाने के लिए हमको कम-से-कम पिछले दस वर्षों और उनमें सृजनशील कथाकारो, उनकी व्यक्तिगत कुण्ठाओ और उनके द्वारा अपने आप को पहचनवाने के प्रयास में छेड़े गये आन्दोलनो का जायज़ा लेना होगा।

१९५४ से आज तक जितने नारे बुलन्द हुए है और जितने आन्दोलन उठे मैंने उन सब को दर्शक की हैसियत से भी देखा है और भोक्ता बन कर सहा भी है। मेरा यह निश्चित मत है कि ये आन्दोलन किसी बड़े राजनीतिक अथवा सामाजिक संकट के कारण नहीं उठे। (संकट न हो, ऐसी बात नही, पर उनसे इन आन्दोलनों का ज्यादा सम्बन्ध नही)। उस तरह उठते तो ऐसे बैठ न जाते और उनके परिणामस्वरूप कुछ ठोस साहित्य हाथ में आता। इन आन्दोलनों की तह में मेरे मत के अनुसार निम्नलिखित बातें काम करती थी :

प्रेमचन्दोत्तर पीढ़ी के वाद लेखकों की एक नयी पीढ़ी (जो अब वीच की पीढ़ी हो गयी है) का आगमन और पुराने लेखकों द्वारा मार्ग अवरुद्ध पाने के कारण उन्हें हटा कर या नकार कर आगे बढ़ने की स्वाभाविक लालसा। लेकिन वास्तव में यह लालसा वीच के कथाकारों में से जो सचमुच सक्षम थे, उनके मन में पैदा नही हुई। राकेश वहुत पहले से लिख रहे थे, उन्होंने कोई आन्दोलन शुरू नही किया। रेणु ने उसी जमाने में अपना प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आँचल' लिखा और विना किसी आन्दोलन के वे आगे आ गये। भारती की 'गुलकी वन्नो' तथा 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' को भी किसी आन्दोलन के कारण मान्यता नही मिली। मै नही समझता कि सच्चे लेखको को किसी आन्दोलन की आवश्यकता होती है। देर-सबेर वे अपनी सत्ता मनवा ही लेते है।

यह आन्दोलन छेड़ा लोकप्रियता की दौड़ में किंचित पिछड़ जाने और आंचलिक कहलाने वाले कुछ कथाकारो ने। इन लेखकों में मार्कण्डेय और भैरवप्रसाद गुप्त प्रमुख थे। उन्होने आलोचक नामवर सिंह का सहारा लिया और गिनाने को शिवप्रसाद सिंह, अमरकान्त, शेखर जोशी, विद्यासागर नौटियाल आदि को साथ मिला लिया। चूंकि इनके पास 'कहानी' पत्रिका का बल था, इसलिए 'आचलिक व-मुकाविल शहरी कथाकार' आन्दोलन चलाया और जैसा कि होता है, उसका परिणाम शहरी कथाकारो पर भी पड़ा। उनमें चूंकि यादव और कमलेश्वर कमज़ोर थे, इसलिए उन्होने इसमें ज़्यादा ज़ोर लगाया और कुछ ही वरस वाद शहरी लेखको का पक्ष प्रवल हो उठा।

लेकिन तभी इनके वाद एक और पीढ़ी आ गयी। चूंकि इस पीढ़ी के आगे पुराने नही थे, यही वीच के कथाकार थे, इसलिए उन्होने इनके खिलाफ झण्डा बुलन्द किया और 'सचेतन' और 'अकहानी' आन्दोलन उठे। ये आन्दोलन प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी आन्दोलनो के ही विकृत रूप थे। सचेतनों में से अधिकांश, वस्तु के लिहाज़ से प्रगतिशील और अकहानी वाले प्रायः प्रतिक्रियावादी थे। तव वे सारे शव्द हवा मे उछले, जो तुमने अपने आयोजकीय वक्तव्य के पहले दो पैरो में दिये है। इसमें सन्देह नही कि पुरानो और वीच के कथाकारों को उखाड़ने के लिए वहुत-से नारे और शव्द सीधे पश्चिम से भी उधार ले लिये गये; कहानी के वस्तु और रूप में भी परिवर्तन हुआ; लेकिन वस्तु में राजनीतिक अथवा सामाजिक संकट का प्रतिविम्व झलकने के वदले व्यक्तिगत कुण्ठाएँ ज़्यादा झलकी। विद्रोह अथवा विस्फोट भी इसी क्षेत्र में हुआ। लेखकों की ज़िन्दगी वही रूढ़िग्रस्त रही, लेकिन वे वीटनिको की नकल में सव रूढ़ियाँ तोड़ गये। इस

झूठी ओढ़ी सम्वेदना से जल्दी ही गत्यवरोध की स्थिति पैदा हो गयी। जहाँ तक 'एब्सर्डिटी' का सम्बन्ध है, वह भारत में न हो अथवा पुराने किसी युग में न हो, ऐसी बात नहीं। एब्सर्डिटी ज़िन्दगी के साथ जुड़ी है। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि पश्चिम के जीवन की एब्सर्डिटी हमारे जीवन की एब्सर्डिटी से भिन्न है। जिन नये कथाकारों ने ज़िन्दगी की एब्सर्डिटी का नारा बुलन्द कर कहानियाँ लिखीं, उनमें से अधिकांश ने पश्चिम की नकल में लिखी। वे कहानियाँ पाठकों को यहाँ की नहीं लगी। जिन चंद लेखकों ने इस सम्वेदना को अपनी बना कर लिखा, वे आश्वस्त भाव लिखते रहे, आज भी लिखते हैं, शेष बेतरह सन्त्रस्त हो गये।

इस सारे शोर-शराबे का एक परिणाम यह भी निकला कि पुरानी तरह लिखना कठिन हो गया। इस 'नये' के लिए पुरानों अथवा बीच के लेखकों के पास सम्वेदना नहीं थी। जिन्होंने कोशिश की, वे अपनी नयी रचनाओं को जमा न पाये, इसलिए उन्हें असमर्थता-बोध भी हुआ और संत्रास भी।

इस सब आपा-धापी में उन नयी कहानी पत्रिकाओं का भी हाथ है, जो कहानियों के अच्छे पैसे देने लगीं और न केवल लेखकों को यश वरन धन भी मिलने लगा। तब जिसे देखो कहानी लिखने लगा और नयी सम्वेदनाओं को आत्मसात किये बिना अपने तथाकथित 'भोगे' और 'झेले' को लिपिबद्ध करने लगा। और इन अपनी कच्ची-पक्की रचनाओं को जमाने के लिए अपने अग्र-गामियों के हथकण्डे अपनाने लगा और एक अजीब-से ठहराव की स्थिति आ गयी।

मेरे ख़याल में **सक्षम लेखकों को एक ही स्थिति में संत्रास अथवा असमर्थता का बोध हो सकता है। वह तब, जब उनके हाथ बाँध दिये जायँ और होंट सी दिये जायँ।** वैसी स्थिति अभी भारत में तो है नहीं। यदि कोई लेखक हमारे राजनीतिक अथवा सामाजिक जीवन के विघटन से आक्रान्त है तो उसे इनको ले कर कहानियाँ लिखने से कौन रोक सकता है। पर उन व्यवसायिक पत्र-पत्रिकाओं में वह सब तो छप नहीं सकता। फिर कैरियर की गणनाएँ भी लेखकों के सामने रहती हैं। इसलिए उनका सारा आक्रोश, व्यक्ति, उसकी कुण्ठाओं, सेक्स और प्रेम को ले कर उनकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है। यहाँ भी दूर की कौड़ी लाने के प्रयास; अपने को दूसरों से अलग पहचनवाने की लालसा; जल्दी धन अथवा यश अर्जित करने के प्रयत्न उन्हें वह श्रम नहीं करने देते, जो कि सत्साहित्य माँगता है। कुछ दूसरे भी हैं, जो नये-नये 'अनटच्ड' पात्रों की खोज में मारे-मारे फिरते हैं और हमारा यथार्थ सामाजिक या राजनीतिक

जीवन हमारे साहित्य द्वारा अनछुआ ही रह जाता है।....वर्तमान आन्दोलनों की धूल जब बैठ जायगी तो उस वक्त बहुत-से शोर मचाने वाले थक कर बैठ गये होंगे अथवा अच्छी नौकरियों पर जा चुके होंगे और वे लेखक, जिनके लिए लेखन जीवन का दूसरा नाम है, जो इसे व्यवसाय अथवा कैरियर की सीढ़ी नहीं समझते और धन अथवा यश के लिए नही, अन्तः प्रेरणा से लिखते हैं, वे लिखेंगे—अच्छा लिखेंगे और व्यक्ति अथवा समाज की समस्याओ को भरपूर अभिव्यक्ति देंगे, किसी तरह का संत्रास उनका रास्ता नही रोकेगा।

इलाहाबाद,
९-५-६७

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

कुछ व्यक्तिगत आशंसाएँ

पृष्ठ : भूमि

●

अश्क जी ने अपने विभिन्न निबन्धों, पुस्तकों की भूमिकाओं, पत्रों अथवा डायरी के पृष्ठो में अपने समकालीन (पूर्ववर्ती तथा परवर्ती) कथाकारों के सम्बन्ध में अपने मत अथवा आशंसाएं व्यक्त कर रखी हैं। इस बिखरी सामग्री को यहाँ संकलित कर प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रेस में जाने से पहले अश्क जी ने इसे एक नज़र देख लिया है और कुछ नये 'इम्प्रेशन्ज़' दे कर इसे यथा-सम्भव अप-टू-डेट कर दिया है। लेखकों के नाम अकारादि क्रम से दिये गये हैं।

अमरकान्त

अमरकान्त की अभिव्यक्ति सरल, ज़िन्दगी की पकड़ मज़बूत, निगाह गहरी और व्यंग्य पैना है। अमरकान्त वस्तु के चुनाव में सतर्क है, पर शिल्प के सौष्ठव में अल्हड। कब बहुत अच्छी बनती-बनती कहानी उनके हाथो साधारण उतरे और कब रवारवी में लिखी बहुत अच्छी बन जाय, इसका कोई भरोसा नही। उनकी कहानी पढ़ते-पढ़ते ('खलनायक' इसका उदाहरण है) कई बार यह एहसास हुआ है कि लेखक ने थोड़ा-सा श्रम किया होता तो कहानी 'साधारण-तया अच्छी' उतरने के बदले 'बहुत अच्छी' बन जाती। (शायद यही तन-आसानी अथवा बेपरवाही है, जिसके कारण आधा दर्जन के लगभग उपन्यास लिखने पर भी उपन्यासकार के रूप में अमरकान्त को मान्यता नहीं मिली।) इसके बावजूद उन्होंने 'ज़िन्दगी और जोंक,' 'डिप्टी कलेक्टरी,' 'दोपहर का भोजन,' 'हत्यारे,' और 'मूस' जैसी बहुत अच्छी और 'छिपकली' और 'असमर्थ हिलता हाथ' तथा 'जनमार्गी' जैसी अच्छी कहानियाँ लिखी है और उन्ही के दम से है कि बिना किसी शोर-शराबे के, वे अपने समकालीनों में महत्वपूर्ण स्थान पा गये। इधर दो वर्षों से उनकी कोई भी अच्छी कहानी नज़र से नही गुज़री। अपने कई प्रमुख साथियों की तरह उनके यहाँ भी थकन के आसार दिखायी देने लगे है।

अज्ञेय

अज्ञेय का रचनाकार, कवि, कथाकार, विचारक तथा पत्रकार के बीच दुविधा-ग्रस्त रहा है और धीरे-धीरे कथा को छोड़ कविता और पत्रकारिता की राह लग गया है। 'कलाकार की मुक्ति' के बाद, इधर पन्द्रह वर्षों में, उनकी एक भी अच्छी कहानी देखने को नही मिली। उनके उपन्यासों का स्तर उत्तरोत्तर गिरा है—'शेखर' से 'नदी के द्वीप' और 'नदी के द्वीप' से 'अपने अपने अजनबी' तक एक गहरी ढलान है। कठिन को सरल बना कर पेश करने के बदले, उन्हें सरल को कठिन बना कर प्रस्तुत करना प्रिय है। यदि वे डेल कार्नेगी से लिया हुआ सरल सूत्र भी किसी मित्र को लिख भेजते हैं (राजकमल चौधरी की बीमारी में लिखा उनका पत्र साक्षी है) तो उसे भी वेद-उपनिषद के दर्शन की गहनता

श्रौर गरिमा प्रदान करने का प्रयास करते है और यदि कभी सायास सरल लिखते भी है तो वह सरलता बनावटी हो उठती है ('अपने अपने अजनबी' की भाषा मेरे कथन का प्रमाण है।)....अज्ञेय की अधिकांश रचनाएँ दिमाग़ को भले ही छूती हों, मन को कभी नही छूती ('लेटर बक्स' और 'बदला' इसके अपवाद हैं) दूर की कौड़ी लाने के प्रयास में, वे दैनन्दिन अनुभूतियों को प्रायः अनदेखा और अनछुआ कर जाते हैं। जिन्दगी से कट जाने और अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के सत्य की अभिव्यक्ति का साहस न रखने के कारण इधर वे कवि पंत ही की नकल मे अध्यात्म की शरण में चले गये हैं।....उनके रचनाकार में जो पत्रकार छिपा है, उसमे प्रभावों को ग्रहण करने, उन्हें गरिमामयी भाषा मे प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता हैं। स्वाभाविक कथाकार की सरलता अथवा अनायासता उनके यहाँ नहीं है। लेकिन इस पर भी उनकी 'आर्टिस्ट्री' तथा कौशल चकित करता है, और पाठको को अफसोस होता है कि 'जीवनी शक्ति,' 'हीलीवोन की वत्तखें' और 'कलाकार की मुक्ति' (भले ही वे कहानियाँ अनुभूतिजन्य न हो कर प्रभावजन्य हो) लिख सकने वाला कथाकार क्यों पत्रकारिता के बीहड़ जंगल में अपना बहुमूल्य समय बर्बाद कर रहा है, लेकिन 'प्रतीक' और 'दिनमान' तथा उनके सम्पादन में निकले 'तार सप्तको' को (जिनका उन्हें गर्व है) देखें, तो लगता है कि उनकी मूल प्रवृत्ति शायद सम्पादक ही की है और उससे मुक्ति पाना उनके बस की बात नही।.

ऊषा प्रियम्वदा

ऊषा प्रियम्वदा के पास भाषा भी है, शिल्प भी है और अभिव्यक्ति भी। लेकिन इसके बावजूद कोई बहुत अच्छी और गहरी कहानी उनकी कलम से नही निकली। 'जिन्दगी और गुलाब के फूल,' 'वापसी,' 'नीद' और 'मछलियाँ' सब अच्छी कहानियाँ हैं, लेकिन बहुत अच्छी नही। 'मछलियाँ' दो बार पढ़ गया हूँ। अपने सारे शिल्प-सौष्ठव के बावजूद अन्त पर पहुँच कर वह एक बनी हुई और फार्मूलाबद्ध कहानी बन जाती है और अजीब बात है कि अन्त में विज्जी के बदले मुकी से सहानुभूति हो जाती है। ऊँचे घरानों की पढी-लिखी परम स्वच्छन्द (इमेंसीपेटिड) युवतियों के प्रेम, विरह, ईर्ष्या और उदासी का सफल चित्रण ऊषा प्रियम्वदा ने अपनी अधिकाश कहानियो में किया है। लेकिन तमामतर सफलता के बावजूद कही कुछ कमी रह जाती है—यद्यपि उस पर उँगली रखना आसान नहीं। वे उत्तरोत्तर अच्छा लिख रही हैं और कौन जानता है,

कल उनकी कलम से बहुत अच्छी कहानी बन जाय !

कृष्णचन्द्र

मेरे उर्दू साथियों में कृष्णचन्द्र का नाम सबसे पहले आता है, इसलिए नही कि वे शेष की तुलना में महान है, वरन इसलिए कि उनकी शैली में अपूर्व कशिश है। जैसा कि कुछ-कुछ हिन्दी में जैनेन्द्र के यहाँ है। कृष्ण की कहानी को पढना शुरू करो तो मन उसके साथ बहता चला जाता है। अन्त पर पहुँच कर भले ही कुछ हाथ न आये, पर शुरू करके उसे छोड़ देना कठिन है।.... कृष्णचन्द्र के पास जन्मजात शैली के अलावा एक फ़ार्मूला है। थोड़ा लैला-मजनूँ वाला प्यार, थोड़ा खलनायक का (जो प्रायः पूँजीपति होता है) अत्याचार, थोड़ी प्रगतिशील फिलासफ़ी और थोड़ा सेक्स और वे ऐसा अवलेह तैयार कर देते है कि साधारण पाठक अभिभूत हो उठता है। कृष्ण के पास बेकिनार कल्पना है और वे यहीं बैठे-बैठे दुनिया के हर हिस्से की कहानियाँ परम अनायासता से लिख सकते है। इस शैली ने उन्हें हिन्दी-उर्दू का सर्वाधिक लोकप्रिय कथाकार बना दिया है। यद्यपि जिसने कृष्ण को उर्दू में पढ़ा है, वह जानता है कि उनके हिन्दी अनुवाद मे वह रस नही जो उर्दू में है।....बहुत ज्यादा लिखने वालो की तरह कृष्ण के यहाँ भी बहुत कूड़ा-करकट है, पर कुछ ऐसी कहानियाँ भी उन्होने लिखी हैं, जिनका कोई जवाब नही। उनकी कहानियों में मुझे 'आगी,' 'पीलिया,' 'दो फ़र्लांग लम्बी सड़क,' 'बे-रंगो-बू,' 'कब्र,' 'ज़िन्दगी के मोड़ पर,' 'अन्नदाता,' 'बालकनी,' 'प्रिंस फ़ीरोज़,' याद है। कभी-कभी सोचता हूँ, इस अतुल प्रतिभा के साथ कृष्ण के पास यदि कुछ ठहराव होता; वे गुड, बैड और इनडिफ़्रेंट लिखते चलने के बदले जम कर लिखते और लिखे को सँवारते-सजाते तो कितना अच्छा होता और कृष्ण कितनी महान कहानियाँ न लिखते ! लेकिन 'यदि' को किसने जीता है ? और आदमी अन्ततः अपनी सीमाओ में बँधा है। अपनी उत्कृष्ट कहानियो में कृष्ण एक उत्कृष्ट कथाकार है।

कृष्णा सोबती

अपने समकालीनों में कृष्णा सोबती का नितान्त अपना रंग है। 'सिक्का बदल गया,' 'गुलाबजल गँडेरियाँ,' 'दादी अम्मा,' 'कही नही : कोई नही,' 'बादलो के घेरे'—उनकी पहले की कहानियो में जो गुण है, वे ही उनकी लम्बी कहानियों

'डार से बिछुडी' और 'तिनपहाड' में परिलक्षित है—वही गला घोटने वाली उदासी, वही अकेलापन, अनुभूतियों की वही तीव्रता और गहराई, शैली में छोटी-छोटी बजरी पर सरकती चादर जैसे बहते पानी की रवानी और भाषा में पंजाबी के सुमधुर शब्दों का सफल प्रयोग। इधर की दो कहानियों, 'मित्रो मरजानी' और 'यारों के यार' मे उन्होने ऐसी बेबाकी का, यथार्थवादिता का परिचय दिया है, जो उर्दू में केवल इस्मत के यहाँ दिखायी देती है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये दोनों कहानियाँ इस्मत के मुकाबले में कही बेहतर लिखी हुई है।

कृष्ण बलदेव वैद

नये कथाकारो मे अपनी प्रयोगशीलता के लिए वैद का नाम अनायास सामने आता है। जिन लोगो ने 'नये', 'नये' का शोर मचाया उनके यहाँ अधिक नया नही, लेकिन वैद ने, न केवल शिल्प में, वरन वस्तु में भी नये प्रयोग किये है और कहूँ कि सफलता से किये है—आदमी जैसे असम्बद्ध सोचता है, अथवा एक ही वक्त में दस बातो के बारे मे सोचता है और प्रमुख बात से हट कर सोचता है, उसे वैद ने अपनी दो-तीन कहानियों में सफलता से बाँधा है, फिर एक ही व्यक्ति के अन्दर छिपे दूसरे व्यक्ति को मूर्त रूप दे कर उसका चित्रण किया है। उस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता को उजागर करने के लिए वैद ने सम्वेदनशील भाषा-शैली अपनायी है। उनकी शैली में निजता है। उनकी कहानियों मे मुझे 'खामोशी,' 'जामुन की गुठली,' 'उड़ान,' अच्छी और 'मेरा दुश्मन' बहुत अच्छी लगी है। 'एक था विमल' भी प्रयोग के लिहाज से महत्वपूर्ण है। वैद का लघु उपन्यास 'उसका बचपन' उनकी पैनी दृष्टि, शैली के संयम, अभिव्यक्ति की गहराई, यथार्थता की पकड़ और तीखे व्यंग्य के कारण बहुत अच्छा उतरा है और वैद को शक्ति का परिचय देता है। मै उसे हिन्दी के उत्कृष्ट लघु-उपन्यासों में एक मानता हूँ।

कमलेश्वर

कमलेश्वर ने काफी कहानियाँ लिखी है। दो-तीन उनमे से चर्चित भी हुई है। पर मुझे नही लगता कि उन्होने अपना पूरा मन उन कहानियो को दिया है। दिया होता तो उनमें ऐसी त्रुटियाँ न रह जाती, जो थोडे से श्रम से दूर की जा सकती और जिनके दूर होने से वे कहानियाँ निश्चय ही यादगार बन

जाती। पहली बार पढने पर जो कहानियाँ मन को कुछ अच्छी भी लगती है, दूसरी बार पढने पर उनकी कई त्रुटियाँ आँखो में बेतरह खटकती है। कमलेश्वर ने जितना समय जमने-जमाने पर लगाया है, उसका एक-तिहाई भी कहानी लिखने पर लगाया होता तो शायद वे कुछ ऐसी कहानियाँ लिख जाते, जो याद रखी जातीं। प्रतिभा उनमें है, पर उनके सारे लेखों, दावों और तिकड़मों के बावजूद मुझे कभी नही लगा कि वे साहित्य के प्रति संजीदा हैं। सब कुछ करते हुए भी उनकी एक चोर आँख कैरियर पर लगी रहती है। अपने कैरियर के शिखर पर पहुँच कर वे अच्छी कहानियाँ लिख सकेंगे, मुझे इसमें सदेह है। कभी मैंने उनसे कहा था कि उनके हाथ मे लाला खज़ानचीराम की लाइन है। धन-सम्पदा उन्हें खूब मिलेगी, साहित्य-साधना के बारे मे कुछ नही कहा जा सकता। उनकी इधर की कहानियाँ पढ़ता हूँ तो लगता है कि मैंने ग़लत नही कहा था। उनकी जिन तीन-चार कहानियों की चर्चा हुई है, वे दस-बीस वर्ष बाद भी याद रखी जायँगी, यह कहना मुश्किल है। हो सकता है मेरी इन पंक्तियो को वे चुनौती के रूप लें और कमर कस कर कुछ बहुत अच्छी कहानियाँ लिख दें। प्रतिभा उनमें है और मैं इतने पर भी उनसे निराश नही हूँ। लेकिन कहानी को उन्हें गम्भीरता से लेना होगा और उस भावुकता पर, जो उनकी कहानियों में झलकती है, अधिकार पाना होगा।

ख़्वाजा अहमद अब्बास

अब्बास उर्दू के लोकप्रिय कथाकार हैं। वे सफल पत्रकार भी हैं और फिल्म-निर्माता भी और विचारो की दृष्टि से प्रगतिशील। उनके कथाकार को उनके पत्रकार का यथेष्ट सहयोग मिला है और उनकी कहानियो में उनके कॉलमों ऐसी प्रवहमानता, दिलचस्पी और सामयिकता है। शायद ही उन्होने कोई कहानी स्तर के नीचे लिखी हो, लेकिन यह भी सही है कि स्तर से ऊँची कहानियाँ, जिनमें गहराई भी हो या जो ऐसा चित्र प्रस्तुत करें, जो दिल में दूर तक उतरता चला जाय और याद के पर्दे पर अमिट नक्श छोड़ जाय, उन्होंने कम ही लिखी है। मुझे उनकी एक कहानी 'अवध की शाम' बहुत अच्छी लगी है और मैंने उसे जब-जब पढा है, वह मुझे रस दे गयी है।

गिरिराज किशोर

पुराने हों, बीच के हो या एकदम नये, लेखक सभी पीढ़ियों में दो तरह के होते आये हैं—एक वे, जिनकी कहानियों में व्यक्तिपरक तत्व का प्राधान्य है, दूसरे वे, जो समाजपरक कहानियाँ लिखते हैं। इन दूसरी तरह के एकदम नये लेखकों में गिरिराज का नाम महत्वपूर्ण है। उनकी कहानियाँ अन्तरोन्मुख न हो कर समाजपरक हैं। गिरिराज ने कहानी के शिल्प में कई तरह के प्रयोग किये हैं, पर मुझे उनकी जो कहानियाँ पसन्द हैं, वे शिल्प के कारण नहीं (भले ही, वह किंचित पुराना हो) वस्तु के कारण है और उनमें 'हरी लाल रोशनी,' 'पेपरवेट,' 'नया चश्मा,' 'निमंत्रण' और 'गाउन' प्रमुख हैं। उनका उपन्यास 'लोग' मुझे बहुत पसन्द है।

जैनेन्द्र

जैनेन्द्र मे प्रकट जीनियस के गुण है और दोष भी। हिन्दी-कहानी मे जैनेन्द्र का उदय शुभ के लिए हुआ अथवा अशुभ के लिए, इसका फ़ैसला आज नही हो सकता। लेकिन यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उन्होने प्रेमचन्द की सपाट कहानी को किंचित गहराई और मनोवैज्ञानिकता दी और भाषा को लचीलापन। मुझे उनकी कहानियो मे 'राजीव और उसकी भाभी,' 'मास्टरजी,' 'बिल्ली-बच्चा,' 'पाज़ेब' और 'अपना पराया' आज भी याद है। 'राजीव और उसकी भाभी' को मै उनकी सर्वोत्कृष्ट कहानी मानता हूँ।....जैनेन्द्र मे नीम-दार्शनिक का पोज़ शुरू ही से है। हमारे यहाँ बिना ज़्यादा किये-धरे, बैठे-बैठाये मान और सम्मान कहानीकार नही पा सकता, पर संत और दार्शनिक पा सकता है....संत बनना जैनेन्द्र के बस का नही था, सो वे सच्चे कहानीकार बनने के बदले झूठे दार्शनिक बन गये।....इधर उनका नया संग्रह 'वि-ज्ञान और अन्य कहानियाँ' पढ़ा है। ये कहानियाँ 'पैराबल' (प्रतीक कथाओ) जैसी लगती है। कुछ बातें कहने को, सत्य उकेरने को, (जो उनके निकट सत्य है, दूसरों के निकट भले ही असत्य हो) उन्होने रूमानी कल्पना से कहानियाँ गढ़ दी है, पर 'राजीव और उसकी भाभी' जैसी बात फिर उनके यहाँ नही आयी। सच पूछा जाय तो वही एक कहानी उन्होने बार-बार लिखी है और राजीव और भाभी ही बार-बार चोला बदल कर उनकी कहानियों में आये है और नये संग्रह मे भी वे मौजूद है। आज पढ़ने पर उस कहानी में अंतिम पैरा गलत लगता है—यथार्थ

जीवन को देखते हुए—लेकिन यथार्थ की दृष्टि से जैनेन्द्र की कहानियों को पढ़ना मूर्खता है।

दूधनाथ सिंह

दूधनाथ नयी पीढी के सशक्त कवि है। उनकी कविताओ मे कुछ ऐसी तल्खी, और गहराई लगती है कि वे न केवल चौंकाती हैं, वरन मन पर गहरा प्रभाव भी डालती हैं। नयी कविता के नाम पर जो कूड़ा आये दिन छपता रहता है, उससे दूधनाथ की कविताएँ इतनी भिन्न और विशिष्ट है कि उन्हें ढूँढ़ कर पढ़ने को मन होता है। लेकिन दूधनाथ का गद्य एक कवि का गद्य नही है, वह एक सशक्त कथाकार हो का गद्य है। दूधनाथ की कहानियाँ उस तरह कवि की कहानियाँ नहीं लगती, जैसे सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, अज्ञेय अथवा नरेश मेहता की। कथाकार के रूप में दूधनाथ उतने ही सफल है, जितने कवि के रूप मे। उन्होने बहुत कहानियाँ नही लिखी, पर जो लिखी है, उनमें अधिकांश अच्छी उतरी हैं। कहानी के एक-एक शब्द, एक-एक पंक्ति और प्रतीक पर उन्होने श्रम किया है और जो प्रभाव वे पैदा करना चाहते है, वह उन्होने पैदा कर दिया है। उनकी कहानियो में 'रक्तपात,' 'आइसबर्ग,' 'रीछ,' 'स्वर्गवासी' और 'दु:स्वप्न' मुझे अच्छी लगी हैं। 'रीछ' पर वैद की 'मेरा दुश्मन' तथा 'दु:स्वप्न' पर निर्मल की 'लन्दन की एक रात' के शिल्प का हल्का-सा प्रभाव है। शिल्प दूधनाथ ने कहीं से भी लिया हो, पर अनुभूतियाँ उनकी अपनी ही है और इसीलिए उनकी कहानियाँ मन को प्रभावित करती हैं।

धर्मवीर भारती

भारती के यहाँ आशा-निराशा, आस्था-अनास्था, क्रोध-दया, विद्रोह और रेजिग्नेशन'—यानी नियति के आगे परास्त हो कर बैठ जाने की भावना का कुछ अजीब-सा सम्मिश्रण है। भारती के कथाकार की स्थिति उस किशोर की-सी है, जो चाँद को चाहता है और जब उसे चाँद की यथार्थता का पता चलता है कि वह एक मुर्दा ग्रह है तो वह उसके बखिये उधेड़ने लगता है और उसकी चाँदनी के पीछे छिपा उसका भयानक चित्र खीच कर सुख पाता है। जैसे कोई अपने घाव को कुरेद कर सुख पाये, वैसे ही भारती जिन्दगी के घावों को कुरेदने में कुछ अजीब-सी लज्ज़त पाते है। उनकी कहानियों में 'गुलकी बन्नो,' 'सावित्री नम्बर दो,' 'यह मेरे लिए नही' और 'बन्द गली का आख़िरी मकान' (जितनी कि

वह 'नयी कहानियाँ' मे छपी) बहुत अच्छी उतरी है। इलाहाबाद के अहियापुर की ज़िन्दगी पर उनकी पकड अचूक है और उसका चित्रण करने मे वे अत्यन्त सक्षम हैं। 'गुलकी बन्नो' शिल्प और थीम के निर्वाह मे एकदम निर्दोष हैं। 'सावित्री नम्बर दो' आधुनिक कहानी कला के सभी प्रसाधनों—'सिम्बलिज़्म,' किंचित अस्पष्टता, दोहरे-तिहरे अर्थ, सूक्ष्मता—सभी से सम्पन्न है। लेकिन इन कहानियो को पढ कर गहरी उदासी मन पर उतर आती है। भारती की शुरू की कहानियों में ज़िन्दगी के पिसते हुए मानवो में लेखक की जो आस्था थी, वह जाने किन अँधेरे गर्तों में तिरोहित हो गयी है। भारती में जीनियस के सभी गुण हैं और उतना ही बिखराव भी। इलाहाबाद मे किंचित कम से गुज़ारा करते हुए यदि वे कला की साधना करते तो न जाने क्या कर गुज़रते। लेकिन जो जीवन वे जी रहे हैं, उसमें रहते हुए अपनी प्रतिभा के पूरे शिखर पर पहुँच सकते है, इसमें मुझे सन्देह है और इसका अफसोस भी।

निर्मल वर्मा

निर्मल की कहानियाँ आम पाठक के लिए नही हैं। अत्यन्त सुरुचि-सम्पन्न, सोफिस्टीकेटेड, अंग्रेजी पढे-लिखे, प्यानो और पश्चिमी संगीत से परिचित, बंगलो में रहने, लॉनो पर लेटने और शराबखानों अथवा अपने सर्द-गर्म कमरों की तन्हाई में बियर या ड्राई मार्टिनी अथवा कोई अन्य शराब पीने वाले लोगों के लिए हैं। साधारण पाठकों के लिए उनका ठीक-ठीक रस ले पाना कठिन है। हाँ जिन लोगो को यह सब मयस्सर नही है, वे उस उदास-उदास रूमानी दुनिया में खो कर अपने-आप को कुछ क्षण के लिए भूल भले ही जाते है, यद्यपि रचना पढ़ कर अपने आप को और भी अकेला और उदास पाते हैं। नामवर ने 'परिन्दे' की कहानियो में जो विश्वव्यापी संकेत देखे है, वे नामवर की कल्पना मे ज़्यादा हैं, निर्मल की कहानियों में नही है।.... मैंने निर्मल की अधिकाश कहानियाँ पढ़ी हैं, लेकिन मुझे उनको सिर्फ एक कहानी—'लन्दन की एक रात' सचमुच उत्कृष्ट लगी है। इस कहानी में लेखक ने एक ऊँचे कलाकार की तरह उस हॉरर को, जो इस समय दुनिया में रंग-भेद को ले कर अगणित लोगों को संत्रस्त किये हुए है, चित्रित कर दिया है। खूबी यह है कि उस कहानी को पढ़ कर यह नही लगता कि 'लिंचिंग' का वह दृश्य निर्मल ने कल्पना से लिखा है। फिर लन्दन में बाहर से आने वाले छात्रो की बेरोज़गारी, शराबखानो के जीवन और काले लोगों से हमदर्दी रखने वालो के प्रति वहाँ के गोरे गुण्डो की

घृणा तथा विद्वेष का चित्रण निर्मल ने निहायत कुशलता से किया है। यही एक कहानी है, जिसे मैंने दोबारा पढ़ा तो भी मुझे अच्छी लगी। इसके बाद की कहानियाँ—'पराये देश में,' 'कुत्ते की मौत,' 'अंतर' आदि मुझे अच्छी नही लगीं, वल्कि इस पर हैरत हुई कि वे 'लन्दन की एक रात' लिखने वाले के कलम से निकली है।—रामकुमार और निर्मल की कहानियों के वातावरण में थोड़ी समानता है, लेकिन मुझे कभी-कभी लगता है कि निर्मल 'सेल्फ़ कान्शस' हो कर लिखते हैं और इसलिए सव कुछ वैसा होने के वावजूद उनके यहाँ वैसी अनायासता नही। फिर यह भी लगता है कि वे अपनी कहानियाँ इसी तरह लिखते चले गये तो उनका यह स्टाइल वासी पड़ जायगा। कहूँ कि अभी उस स्टाइल में वासी होने का आभास मिलने लगा है। कृष्णचन्द्र, जैनेन्द्र अथवा भारती की तरह (कि ये तीनो स्टाइलिस्ट है) निर्मल के यहाँ भी विविधता नही है।

फणीश्वरनाथ रेणु

रेणु की कहानियों में उनके उपन्यासों के सभी गुण है—आंचलिक शब्दों के बडे कुशल प्रयोग से रसी-बसी, कही-कहीं काव्यमयी भाषा, मन को छूते-से भाव होटों पर मुस्कान लाता व्यंग्य, ईषत् हास्य और किंचित आदर्शवादिता।—उनकी शैली में अपूर्व प्रवाह, माधुर्य, काव्यमयता, यथार्थ की पकड़ और आदर्श की प्यास है। लेकिन रेणु के रचनाकार का एक गुण है, जिसका उल्लेख मै विशेष रूप से करना चाहूँगा और वह है हास्यास्पद स्थितियों की अद्भुत पकड़। यद्यपि उनके इस गुण की झलक 'मारे गये गुलफ़ाम' में भी मिलती है, पर 'संकेत' (हिन्दी) में छपे रिपोर्ताज 'एकलव्य के नोट्स' तथा उनकी कहानी 'विकट संकट' में हास्यास्पद स्थितियो का ऐसा सुन्दर चित्रण है कि उनके समकालीनो में अन्यत्र दुर्लभ है।

बलवन्त सिंह

बलवन्त सिंह के यहाँ न कृष्णचन्द्र जैसा आक्रोश है, न मंटो जैसा विक्षोभ और न वेदी ऐसी करुणा। मानव की नियति के विचार से उनके होंटो पर महज़ एक मुस्कान आती है और वही मुस्कान होटो पर लिये हुए वे मानव को अपनी कहानियों में उकेरते चले जाते है। इसलिए कभी-कभी और कहीं-कही वलवन्त मुझे अपने इन समकालीनों की अपेक्षा बड़े कलाकार लगते है—पंजाब के देहात के—यो

कहें कि सिक्ख-जाटों के—चित्रण में उनका कोई सानी नहीं। उनकी कहानियो में 'जग्गा,' 'पंजाब का अलबेला,' 'दीमक,' 'ग्रन्थी,' 'तीन बातें,' 'खुद्दारी,' 'ये लम्हे,' 'पहला पत्थर,' 'अपरिचित,' 'देवता का जन्म' और 'सूरमा सिंह' मेरी प्रिय कहानियाँ है और बार-बार पढ़ने पर भी रस दे जाती हैं।

भीमसेन त्यागी

युवक कथाकारो में भीमसेन त्यागी अनायास ध्यान खींचते है। त्यागी की कहानियाँ उन अर्थों मे नयी नही, जिन अर्थों में विजय चौहान, रवीन्द्र कालिया या ज्ञानरंजन की। उनका शिल्प-विधान परम्परा से कटा नही, पर उनकी दृष्टि और सम्वेदनाएँ नयी है और उनका व्यंग्य सूक्ष्म! स्थानीय रंग और बोली का मिश्रण वे सफ़ाई से कहानी में करते है और अपने पात्रो के मनोविज्ञान को बड़े नाजुक हाथो से उकेरते है—'एक और विदाई,' 'शमशेर' और 'शहर में एक और शहर' उनकी अच्छी कहानियाँ है। गालिब ने कहा है—जाने क्या गुज़रे है क़तरे पे गुहर होने तक—मै नये सक्षम कथाकारो की कहानियाँ पढ़ता हूँ तो हमेशा गालिब का यह शेर मुझे याद आ जाता है।

भीष्म साहनी

भीष्म का शिल्प सीधा, भाषा सरल और ज़िन्दगी हमारी जानी-पहचानी है। व्यंग्य और करुणा भीष्म की कहानियो के प्रमुख गुण है। भीष्म निम्न-मध्य-वर्गीय परिवारो के अन्तरंग चित्र प्रस्तुत करते है, उन चित्रों को देखते-देखते कभी होटों पर मुस्कान आ जाती है; कभी कण्ठ में गोला-सा आ अटकता है; कभी आँखें हल्के-से झलमला आती है और कभी-कभी कहानी के अन्त पर पहुँच कर हृदय में गहरी टीस उठती है। आधुनिक कहानी की पेचीदगी, पच्चीकारी, प्रतीकात्मकता, व्यक्तिपरकता, सूक्ष्मता और कदाचित शक्ति भीष्म के यहाँ नही है। उनकी कहानियाँ समाजपरक है। उन्हें पढ़ते हुए कभी-कभी लगता है कि यह वस्तु तो पुरानी है, अथवा यह लटका देखा हुआ है, लेकिन इससे कोई अंतर नही पड़ता। कहानी का सीधा-सरल चित्र मन को बाँधे रखता है, भाव उतरते-चढते रहते हैं और कहानी के अन्त पर पहुँच कर मन को असंतोप नही होता। कारण यही है कि पुराने विपय को भी भीष्म लेते है तो उसके नये कोण को उजागर कर देते है।—'माता-विमाता,' 'वीवर,' 'सिर का सदका,' 'प्रोफेसर,' 'कटघरे,' 'अपने-अपने वच्चे' भीष्म की अच्छी कहानियाँ है और

'कुछ और साल' बहुत अच्छी—यहाँ तक कि उसमे उस्तादाना रंग झलक आया है। भीष्म की पहले की कहानियों पर यशपाल का स्पष्ट प्रभाव रहा है। उनके शीर्षक अब भी यशपाल की कहानियों की याद दिलाते हैं। यद्यपि अपनी कथा-शैली में अब वे उस प्रभाव से मुक्त हो गये हैं।

मंटो

मंटो उतना बद नही था, जितना बदनाम था। वह अत्यधिक भावप्रवण था। यही वजह है कि जब एक बार उसकी एक अपेक्षाकृत निरीह कहानी के खिलाफ़ अश्लीलता का इल्जाम लगाया गया तो वह लोगो को चिढाने के लिए अश्लील पर अश्लील कहानियाँ लिखता चला गया। लेकिन वे तथाकथित अश्लील कहानियाँ भी ऐसी गहरी मानवीय संवेदना से भरी है कि वह सवेदना मन को कचोट जाती है और उस अश्लीलता की याद नही रहती। मंटो शिल्प में मा'म का अनुवर्ती है और मा'म, ओ' हेनरी और मोपासाँ का; लेकिन निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो मंटो मा'म की अपेक्षा बेहतर कलाकार है। कारण मेरे खयाल मे शायद यह है कि मा'म मानव की नियति के प्रति निरपेक्ष है, सिनिसिज्म की हद तक! वह केवल उसका दर्शक और चितेरा है, जबकि मंटो उसमे पूरी तरह मुबतिला है, 'इन्वाल्व्ड' है, उसका अंग है। अपनी हर कहानी मे मंटो स्वयं है। 'खुशिया' में खुशिया तो 'क्लाउज़' में मोमिन, 'हतक' में सुगंधी, तो 'नंगी आवाज़ें' मे भोलू; 'स्वराज्य के लिए' में गुलामअली तो 'प्रगतिशील' में जुगिन्दर; 'नया कानून' में ताँगेवाला, तो 'टोबाटेकसिह' मे पागल सिक्ख—उसकी कहानियों में जो भी व्यक्ति सहता है—वह समाज का जुल्म हो अथवा अपनी भावुकताजनित मूर्खता का परिणाम अथवा अपने 'परवर्शन्ज़' की मार, वह मंटो स्वयं है—वह दशक नही, भोक्ता है—इसीलिए जहाँ फ़िसादों के दिनो में कृष्ण को 'हम वहशी हैं' की कहानियाँ अपने तमाम लोकप्रिय लटकों के बावजूद किसी को याद नही रही, मंटो की—'ठण्डा गोश्त,' 'खोल दो,' शरीफन,' टोबा टेक सिंह,' हमेशा हमेशा के लिए पाठकोंकी याद के परदे पर नक्श हो गयीं। यद्यपि मंटो की और भी कई कहानियाँ मुझे पसन्द हैं पर बहुतो के नाम याद नही—लेकिन 'बू,' 'काली शलवार,' 'धुआँ,' 'मंत्र,' 'मेडम डिकॉस्टा,' 'डरपोक,' 'बाबू गोपीनाथ,' 'आत्महत्या' मुझे आज भी याद है।

मन्नू भण्डारी

मन्नू के लेखन मे कुछ अजीब सरलता और बोधगम्यता है। उनकी कहानियों को पढ़ते समय दिल या दिमाग पर जरा भी जोर नहीं पड़ता। मन्नू की कहानियों में भी यह विशेष गुण है कि उन्हे पढ़िए, अच्छी लगेंगी, लेकिन जल्दी ही भूल जायँगी; फिर पढिए, 'फिर अच्छी लगेंगी, लेकिन फिर भूल जायँगी। वे 'साधारणतया अच्छी' कहानियाँ लिखती हैं। स्तर से गिरी कहानी प्रायः नहीं लिखती। एक कहानी उनकी कलम से जरूर ऐसी निकली है, जिसे मैं 'बहुत अच्छी' मानता हूँ। उस यादगार कहानी का नाम है—'यही सच है।' एक नारी एक ही समय में दो व्यक्तियो को प्यार कर सकती है—यह सत्य अपनी बनायी इस दुनिया में यहाँ के पुरुषों को स्वीकार नही होता, पर यह है सच और मन्नू ने बड़े ही नाजुक हाथो से इस सत्य को अपनी कहानी में उकेर दिया है। 'कील और कसक,' 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' तथा 'ऊँचाई' मन्नू की तीन और कहानियाँ मुझे प्रिय है। लेकिन अपने समकालीन अधिकाश कथाकारों की तरह मन्नू के कलम में इधर कुछ शिथिलता दृष्टिगोचर हो रही है।

मार्कण्डेय

मार्कण्डेय के पहले कहानी-संग्रह 'पान-फूल' की आलोचना करते हुए मैंने लिखा था :

'मार्कण्डेय की कहानियाँ पढ़ते हुए सहसा ऐसे तैराक का चित्र आँखों के सामने आता है, जो साहित्य के सागर में बड़ी तेज़ी से हाथ मारता हुआ अपने साथियों को पीछे छोड़ने की व्यग्रता से बढ़ा जा रहा है, लेकिन दिशा उसने अभी नही अपनायी। कभी इधर और कभी उधर बढ़ता है—शिल्प के प्रयोग, नयी बात को नये ढंग से कहने की बेचैनी; ग्रामांचलों की (अपने जाने) सही तस्वीर पेश करने और आचलिक शब्दों तथा मुहावरों को खड़ी वोली में चलाने की आतुरता—वह ठीक दिशा पा ले तो साथियों को ही नही, वहुत आगे वढे हुए तैराको को भी पीछे छोड़ जाय !'

इस संदर्भ में केवल इतना और कहना चाहूँगा कि दस साल बीत जाने पर भी उन्होंने दिशा नही अपनायी, साथियो को काटने में अधिकांश समय लगाया और जब वे उनका कुछ नही बिगाड़ सके तो उन्हें मात देने के फिराक में अपनी आंचलिक रविश छोड़ कर पेचीदा और सेक्सी कहानियाँ लिखने लगे। उन

कहानियों में शायद फ़्लूक से एक कहानी 'माही' अच्छी बन गयी। शेष को, सिवा उनके परम मित्र नामवर सिंह के, और किसी ने दाद नही दी (नामवर ने भी लिखित रूप से दी हो, इसमें शक है)। नतीजा यह हुआ कि कहानी लिखना छोड़ मार्कण्डेय आलोचक बन गये। पहले 'चक्रधर' के छद्म नाम से अपने से आगे बढ़े जाने वालों को काटा करते थे, अब खुले आम यही काम करते हैं और इस प्रक्रिया में पुरानो को तो क्या पीछे छोडते, अपने छुटभइय्ये साथियों से भी पीछे रह गये है।

मोहन राकेश

यदि बीच के कथाकारो में केवल तीन नामो को चुनना हो तो सबसे पहले मोहन राकेश का नाम आयेगा। राकेश ने निश्चित रूप से कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी हैं—'उसकी रोटी,' 'मवाली,' 'मन्दी,' 'जानवर और जानवर,' 'आर्द्रा,' 'परमात्मा का कुत्ता,' और 'एक और ज़िन्दगी' मुझे विशेष रूप से प्रिय है। इधर 'नये' के चक्कर में उन्होने कुछ नये प्रयोग किये हैं। उनका संग्रह 'फौलाद का आकाश' पढ़ता हूँ तो लगता है कि न किये होते तो अच्छा था—तो भी 'जख्म,' 'ठहरा हुआ चाकू' और 'पाँचवें माले का फ़्लैट' उनमें अच्छी बन पड़ी है। 'ग्लास टैंक' बहुत अच्छी वनते-वनते रह गयी। राकेश ने उसमें बड़ी ही सूक्ष्मता से एक पारिवारिक ट्रैजिडी को उजागर किया है, लेकिन 'ग्लास टैंक' का प्रतीक आरोपित लगता है। यदि ग्लास टैंक के बारे मे कही गयी सभी बातें कहानी से काट दी जायें याने कहानी के पहले चार पृष्ठ चौथे पृष्ठ की केवल अंतिम चार पंक्तियों को छोड़ कर, काट दिये जायें और कहानी दूसरे परिच्छेद से शुरू की जाय तो प्रभाव में कुछ भी फर्क नही पड़ेगा। बेहतर भले हो जाये!

कहानी के शिल्प और शैली पर पूरा अधिकार, टकसाली प्रवहमान भाषा, अभिव्यक्ति का अद्‌भुत कौशल, कही-कही किंचित भावुकता और आदर्शवादिता—राकेश की उत्कृष्ट कहानियो के प्रमुख गुण हैं। जब-जब उन्होने अनुभूत सत्य को लिया, कहानी गहरे यथार्थ को उद्‌घाटित करती हुई मार्मिक बन गयी—जैसे 'आर्द्रा' और 'एक और ज़िन्दगी'। जहाँ उन्होने 'विशफुल थिंकिग' से काम लिया है, वहाँ कहानी में कमजोरी आ गयी—जैसे 'अपरिचित' और 'चौगान' में और जहाँ उन्होने वाहर के पात्रों को यथार्थता की खुली आँखो और किंचित सहानुभूति से देखा, चित्र यथार्थ, 'आइरानिक' (विडम्बनापूर्ण) और व्यंग्य भरे उतरे—'मन्दी,' 'मवाली' और 'परमात्मा का कुत्ता' इसके उदाहरण है।

यशपाल

यशपाल जैनेन्द्र के उलटे हैं। उनकी कहानियों में न विधि-विधान के उतने प्रयोग हैं, न भाषा का लचीलापन, न व्यक्ति मन की वैसी उलझनें, न झूठी दार्शनिकता, न एक ही थीम अथवा एक ही नारी का बार-बार चीर-हरण ! यशपाल सीधी, सपाट लेकिन यथार्थ और व्यंग्य भरी शैली मे लिखते हैं। मार्क्सवाद के सूत्रो को उन्होंने अपनी कहानियो के द्वारा स्पष्ट रूप से प्रकट किया है और बेहतर समाज की व्यवस्था का स्वप्न ले कर वर्तमान समाज के झूठ की आलोचना की है। यशपाल तन-मन से माडर्न आदमी है और यह आधुनिकता उनकी कहानियो मे भी झलकती है—लेकिन उनके समाजगत विचारो मे ही। कहानी का शिल्प उनका एक-सा किंचित पुराना और फार्मूलाबद्ध है। जहाँ उन्होंने कल्पना से पात्र गढे है, वहाँ दिमाग को झकझोरा हैं; जहाँ अनुभूति से, वहाँ मन को—यशपाल कहानी का शीर्षक ढूँढने में प्राय: तरद्दुद नही करते। मुझे उनकी कई कहानियाँ याद है, पर उनके शीर्षक भूल गया हूँ तो भी 'पहाड की स्मृति,' 'पराया सुख,' 'हलाल का टुकड़ा,' 'ज्ञानदान,' 'धर्मरक्षा,' 'प्रतिष्ठा का बोझ,' 'फूलो का कुर्ता,' 'धर्म युद्ध,' 'ज़िम्मेदारी' मुझे विशेषकर याद हैं। इसलिए नही कि वे सब को सब उत्कृष्ट कहानियाँ हैं, बल्कि इसलिए कि उनमे से हरेक में कुछ-न-कुछ ऐसा है जो दिल या दिमाग को कोंच गया है।

रवीन्द्र कालिया

रवीन्द्र कालिया के बारे में लिखते हुए निश्चयात्मक ढंग से कुछ भी कहने में मुझे संकोच होता है। अपनी राह के बारे में उन्होने अभी कुछ भी तय नही किया। मुझे उनकी कहानियो में 'बड़े शहर का आदमी,' 'नौ साल छोटी पत्नी' और 'कोज़ी कार्नर' पसन्द है, पर उनसे मिलने पर मालूम हुआ कि वे इन कहानियों से संतुष्ट नही—वे समझते है कि यह अकहानी ही का युग है और ज़िन्दगी को क्षण में जिया और व्यंग्य के माध्यम से ही उरेहा जा सकता है और क्षण क्षण हम जैसे जीते हैं, उसका चित्रण उन्हें करना है। कालिया ने वैसी जो कहानियाँ लिखी है, वे मुझे उनकी पहले की कहानियों के मुकावले पसन्द नही आयीं।

रमेश बक्षी

बक्षी का कथाकार मुझे ऐसे बच्चे-सा लगता है जो नदी के तट पर बैठा कागज़ की छोटी-छोटी नौकाएँ बना कर नदी में तैरा रहा है। वह हर बार नयी तरज़ की नाव बनाता है और सोचता है कि उसकी वह नाव अनन्त काल के लिए नदी के तट पर तैरती रहेगी। उसकी कहानियों को पढ़ता हूँ तो लगता है कि शायद ही किसी में ऐसा स्थायित्व हो। लेकिन इसमे संदेह नहीं कि वे छोटी छोटी सुबक कहानियाँ, जिनमें अपने कथनानुसार उसने दृष्टि-प्रभावित-क्षण को बाँधने का प्रयास किया है, जब तक आँख के आगे रहती है, मन को लुभाती है। इतनी सारी कहानियों में, जिनमें तरह-तरह के प्रयोग है, मुझे केवल 'वही का वही सवाल,' 'वायलन पर तिलक कामोद,' और 'अगले मुहर्रम की तैयारी' पसन्द आयी और याद रह गयी।

राजकमल चौधरी

राजकमल चौधरी बुनियादी तौर पर शैलीकार है। बड़ी प्यारी और प्रवहमान उनकी शैली है। रवाँ दवाँ। शेरो के टुकड़ो, मुहावरों, महान व्यक्तियो के अस्फुट कथनो और शब्दों और वाक्यांशो के उलट-फेर से पैदा होने वाली कशिश से भरपूर! काश उनकी वस्तु में भी वही शक्ति होती! उनकी कहानियाँ अपनी ओर खीचती है, पर खत्म होते ही पानी में हाथ आयी मछली की तरह छिटक कर दूर चली जाती है। मेरा खयाल है कि राजकमल चौधरी अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए उतना नही लिखते, जितना लोगों को चौकाने और यों नाम पाने के लिए! उनकी लम्बी कविता 'मुक्ति प्रसंग' और उनका लघु उपन्यास 'मछली मरी हुई' (जो उनकी एक पूर्व-लिखित कहानी ही का परिवर्धित रूप है) मेरे कथन का प्रमाण है। राजकमल चौधरी में यदि जीनियस के एक-दो गुण है तो पाँच-दस दोष भी है और यह अनुपात उनके लिए घातक है। उनका बहुत कुछ पढ़ा है, जिसमे केवल 'मुक्ति,' 'बस स्टाप' और 'भयाक्रान्त' की धुँधली-सी याद रह गयी है।

राजेन्द्र यादव

बीच की पीढ़ी के अपने प्रिय कथाकारो में मुझे राजेन्द्र यादव अपनी तमाम त्रुटियो के बावजूद पसन्द भी है और उन पर गुस्सा भी है। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है'

से पहले मुझे उनकी एक भी कहानी पसन्द नही थी और मैंने उन्हे कभी संजीदगी से नही लिया था। वह कहानी मुझे इतनी अच्छी लगी कि मैंने उसे 'संकेत' मे प्रथम स्थान दिया और उनकी कहानियों में मेरी दिलचस्पी बढ़ी। उसके बाद ही मैंने उनके उपन्यास 'कुलटा' और 'उखड़े हुए लोग' पढे और यद्यपि मुझे उनमें कुछ विभ्रम लगा, पर कुछ स्थल इतने अच्छे लगे कि उनकी रचनाओ में मेरी वह दिलचस्पी उत्तरोत्तर बढती गयी, लेकिन मैंने देखा कि अपनी अनुभूतियों तथा विचारों को कहानियों की शक्ल देने के बदले, जो कि एक 'जेनुइन' कथाकार करता है, वे लोगो को चौंकाने, अपने को दूसरों से विशिष्ट साबित करने महज़ के लिए कहानियाँ लिखते हैं। पहली बार मुझे कुछ गुस्सा उनकी एक 'कमज़ोर लडकी की कहानी' को पढ़ कर आया, फिर 'अभिमन्यु की आत्महत्या' को पढ़ कर। फिर तो मैंने उन्हें हर फैशन के साथ चन्द कदम चलते देखा। मुझे न फैशन से चिढ़ है, न 'नये' से, यदि लेखक उस 'नये' अथवा उस 'फैशन' के साथ मिलने की उत्कट इच्छा अपने मन मे पाये, लेकिन यादव के यहाँ मैंने यह नही देखा। उन्हें मैंने उन लेखकों मे से एक पाया जो ज़िन्दगी में कहानियाँ ढूँढ़ते फिरते है। इसी फैशन के कारण कट्टर प्रगतिशील होते हुए वे एकदम कलाबाजी लगा कर प्रतिक्रियावादी हो गये और 'किनारे से किनारे' तक में उन्होने अधिकांश व्यक्तिपरक, निरुद्देश्य कहानियाँ लिखी। तभी साहित्य में 'अकेलेपन' का फैशन आया। अज्ञेय ने 'अपने अपने अजनबी' उपन्यास लिखा। बिना किसी आन्तरिक अनुभूति के यादव ने 'एक कटी हुई कहानी' लिख डाली और कही देखे-भाले पात्रों पर 'अपना अपना अजनबीपन' लाद दिया।....लेकिन इस सब फ़ैशनपरस्ती और विभ्रम के बावजूद राजेन्द्र यादव ने कुछ बहुत अच्छी कहानियाँ लिखी है—'जहाँ लक्ष्मी कैद है' के बाद मुझे उनकी 'टूटना,' 'बिरादरी बाहर,' 'पास-फेल' कहानियाँ अच्छी लगी है। यादव के पास प्रवहमान भाषा है, ज़िन्दगी के बारीक से बारीक ब्योरों की पकड़ है, अभिव्यक्ति की अपूर्व शक्ति है, अद्भुत पच्चीकारी है, पर चूँकि वे बहुत पढ़ते है, और जब जो नया लेखक पढ़ते है, उन्हें बाँध लेता है और उनके लेखन-चिन्तन पर हावी हो जाता है, इसलिए अपनी कहानियों में वे 'वह कुछ' पैदा नही कर पाये जो राजेन्द्र यादव का निजी अपना हो और जिससे वे पहचाने जायँ। सब कुछ पढ़ते हुए भी अपनी निजता बरकरार रखने की शक्ति उनके पास नही। आज तो ऐसा ही है, कल वे पैदा कर लें तो नहीं कह सकता। क्योकि कुछ कर गुज़रने की छटपटाहट उनके यहाँ अपरम्पार है, जो सहसा उनके प्रति मन में आशा जगाये रखती है।

राजेन्द्रसिंह बेदी

कौन-सी चीज़ है जो बेदी को अपने साथी कथाकारो से भिन्न करती है, जब इस पर सोचता हूँ तो पाता हूँ कि जहाँ कृष्ण के मन में समाज के प्रति आक्रोश और मंटो के यहाँ मानव की नियति के प्रति विक्षोभ है, वहाँ बेदी के यहाँ अपार करुणा है। बेदी की कहानियो में दूसरे गुण न हों, यह बात नही, पर उनका प्रमुख गुण उनका बेकिनार 'कम्पैशन' है। बेदी मुश्किल-गो कथाकार हैं, उन्हें समझने और उनकी कहानियो का रस पाने के लिए उन्हे ज़रा ध्यान से पढ़ना ज़रूरी है। वे अनुभव अथवा चिन्तन से वडी सूक्ष्म-सी, नाजुक-सी थीम उठाते है और फिर अपने अतुल ज्ञान से उसे बेगिनती ब्योरों में छिपा कर पेश कर देते है। बेदी स्वभाव से दार्शनिक है और इसीलिए उनके यहाँ न आक्रोश है, न विक्षोभ, बस करुणा है। उनकी कहानियों में मुझे 'भोला,' 'छोकरी की लूट,' 'लारवे,' 'लाजवन्ती,' 'दीवाला,' 'अपने दुःख मुझे दे दो,' 'बब्बल,' और 'सिर्फ़ एक सिगरेट' वहुत अच्छी लगी हैं और मै उन्हें उच्चकोटि की कहानियाँ मानता हूँ। 'हज्जाम इलाहाबाद के' नयी कहानी के सभी गुण अपने में समोये है और उसमें कुछ ऐसी आलोचना, व्यंग्य, प्रतीकात्मकता है, जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती।

रामकुमार

रामकुमार प्रसिद्ध और सफल चित्रकार है। लेकिन उन्होने कहानियाँ भी कम नही लिखी और उनका सबसे अलग अपना एक रंग है। रामकुमार कुछ अजीब से करुण मूड के कथाकार है। मैं श्रीपत की इस बात से सहमत हूँ कि उनकी कहानियों की पीडानुभूति एक अनुभव है, जिसे पाठक सहज ही भुला नही सकता और उसे पाने के लिए फिर-फिर उनके यहाँ जाता है। 'पिकनिक,' 'जीवन का विष,' 'पेरिस की एक शाम,' 'एक चेहरा,' 'अंकल' और 'चेरी के पेड़' मेरी प्रिय कहानियाँ हैं और उन्हें पढते हुए मुझे उनकी कहानी 'सेलर' की दो पंक्तियाँ याद आती हैं—खुली-खुली शून्य-सी आँखें, जैसे दो दरवाज़े अपने आप खुल गये हो, जिनके बीच से दूर-दूर तक फैला उजाड़ दीखता हो—कभी-कभी ये आँखें रामकुमार की आँखें लगती है और महसूस होता है, जैसे जीवन की गहमागहमी मे छिपा उजाड़ उन आँखों ने देखा है और उनके कलम ने वड़े कौशल से कागज़ पर उतार दिया है।

शैलेश मटियानी

शैलेश मटियानी ने जिन्दगी की गलाजत को देखा ही नही, उसमें जी भर लोट-नियाँ लगायी है। उनकी सफल कहानियों मे अपूर्व प्रवाह है, भाषा भी प्रांजल है, पर उनके पास दृष्टि का नितान्त अभाव है। इसके अलावा उन्हें एक ही बात, वाक्य या शब्द को वार-वार कहने का मर्ज़ है। अलमोडे की लोक-कथाओं की स्फटिक धवल निर्मलता और बम्बई के जीवन की कर्बम आविलता के वीच उनका मन दुविधाग्रस्त भटकता है....अतीव क्रोध और कटुता....लेकिन शैलेश नहीं जानते कि क्रोध और कटुता उत्कृष्ट साहित्य के मार्ग की बाधा है। शैलेश शायद वहुत जल्दी में है। लेकिन जल्दी में रपटना सरल है, जमना मुश्किल उनकी कहानियो में 'दो दुखो का एक सुख' और 'प्रेत-मुक्ति' उनके कथाकार की शक्ति का परिचय देती है और अन्य ढेरो उसके असामर्थ्य का।

ज्ञानरंजन

नये शिल्प और नयी सम्वेदना का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व ज्ञान की कहानियों मे मिलता है। दूधनाथ की कहानियो में किंचित क्लासिक तत्व है, पर ज्ञान एकदम नये भावबोध और भाषा की सशक्त रूखडता में विश्वास रखते है। ज्ञान की कहानियो पर अचानक मेरी नजर पड़ गयी और उनकी पहली कहानी ने ही मुझे प्रभावित किया। मै 'धर्मयुग' के कथा दशक की कहानियाँ पढ़ रहा था कि पत्रिका की फाइल में 'शेष होते हुए' पर मेरी नज़र गयी। चूंकि शायद उसी अंक में मैंने यादव की 'एक कटी हुई कहानी पढी थी, इसलिए भाषागत कुछ त्रुटियो के वावजूद मुझे ज्ञान की कहानी यादव की कहानी के मुकाविले में सच्ची और अच्छी लगी। और मैंने यही बात लिख दी। (परिणाम यह हुआ कि यादव बेतरह नाराज़ हो गये।) बहरहाल, सहसा 'शेष होते हुए' से ज्ञान की ओर ध्यान गया और मुझे लगा कि एकदम नये कथाकारों में इस लेखक के पास नयी दृष्टि, नयी सम्वेदना, नयी भाषा और नये भाव ही नही, उनकी अभि-व्यक्ति के लिए व्यंग्य का एक ऐसा व्यक्तिगत कोण भी है, जो अन्यत्र नही मिलता। ज्ञान की दूसरी कहानियों में 'सम्बन्ध' और 'पिता' ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया। मुझे अफसोस है कि लोग इन दोनो कहानियों को नही समझे। उनका खयाल है कि ये उन्होने पिता या माता के विरुद्ध लिखी है, जबकि यह आज के युवक और उसकी सम्वेदना को उद्घाटित भी करती है और उस पर व्यंग्य भी।

पुनश्च :

मेरे इन फतवों को ग्रन्थ के विद्वान सम्पादकों ने 'आशंसाएँ' जैसा बा-इज्ज़त नाम दे कर उन्हे अतिरिक्त गम्भीरता प्रदान कर दी है। लेकिन मै इन्हे फ़तवे ही कहूँगा। इतनी उम्र कहानी लिखने-पढ़ने और समझने में बिता देने के बाद मैं समझता हूँ कि मुझे फतवे देने का अधिकार है। फिर मैंने देखा है कि व्यक्तिगत मजलिसों में हर लेखक दूसरो के बारे में फतवे ही देता है। यह और बात है कि वह दसियों मसलहतों के कारण, उन्हें लिपिबद्ध करने का साहस नही कर पाता। मै कहानियाँ पढते-पढते कभी यो ही विचार आ जाने पर महज़ याद-दाश्त के लिए, अपने मन की बातें लिखता रहा हूँ और जैसा कि मैंने 'एक आत्मस्वीकृति' में लिखा है, मै उनके छप जाने को बुरा नही मानता।

प्रस्तुत रूप में इन्हें पढ़ते हुए मुझे लगा है कि हर पीढी में कुछ नाम छूट गये है, जिन पर मुझे इसी तरह कुछ विस्तार अथवा संक्षेप से लिखना चाहिए था। अपने से पूर्ववर्तियो में मुझे भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर के नाम याद आते है। इन चारो ने कहानी क्षेत्र को वर्षो से छोड़ रखा है और इनकी जो कहानियाँ मुझे याद रह गयीं, उनका मै अन्यत्र उल्लेख कर चुका हूँ। लगभग यही बात मै अपने साथ लिखने वाले चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, निर्गुण, विष्णु प्रभाकर, अमृतराय, राधाकृष्ण, बलराज साहनी, धर्मप्रकाश आनन्द के बारे में कहना चाहूँगा। चन्द्रगुप्त जी ने वर्षों से कोई महत्वपूर्ण कहानी नही लिखी। जो एकाध लिखी उनका मै कही उल्लेख कर चुका हूँ। अमृत और विष्णु प्रभाकर अब भी लिखते रहते है, पर उनकी जो कहानियाँ मुझे पसन्द है, उनका भी मैंने कही दूसरी जगह ज़िक्र किया है। निर्गुण 'पापुलर' लेखक है। फार्मूलाबद्ध लिखते है। उनका एक संग्रह भी पूरा पढा था, पर मुझे उसमें से एक भी कहानी याद नही। बलराज साहनी की दो कहानियाँ मुझे याद है—'वापसी-व-वापसी' और 'शाहज़ादों का ड्रिंक' 'वापसी-व-वापसी' को मै हिन्दी की एक बहुत अच्छी कहानी मानता हूँ। इसी तरह धर्म प्रकाश आनन्द की 'यह भी : वह भी,' 'यह खत' और 'रामी' ऊँचे दर्जे की कहानियाँ है। अमरकान्त की 'डिप्टी कलक्टरी' पर उसी तरह आनन्द की कहानी 'यह भी : वह भी' का प्रभाव है, जैसे उषा प्रियम्वदा की 'वापसी' पर बेदी की 'गुलामी' का। मुझे इस बात का बड़ा अफसोस है कि बलराज साहनी और धर्म प्रकाश आनन्द कहानी का दामन छोड़ गये। बलराज

बहुत बडे अभिनेता है और आनन्द बहुत बडे अफसर। ये दोनों कहानी-क्षेत्र में रहते तो इतने ही ऊँचे उठते, इसमें कोई संदेह नही।

बीच की पीढी में भी शिवप्रसाद सिंह, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, मनोहर श्याम जोशी, डाक्टर लक्ष्मीनारायणलाल, नरेश मेहता आदि के नाम रह गये है। इनमें से सब की एक-न-एक कहानी का उल्लेख मैंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी कहानियाँ और फैशन' में भी किया और इसमें भी। अलग से मैं इन पर इसलिए नही लिख पाया कि मुझे नही लगता इनमें से कोई भी कहानी के प्रति गम्भीर है। किसी की आँख विभागाध्यक्ष के आसन की ओर लगी है तो किसी की प्रधान सम्पादक की कुर्सी की ओर; कोई कविता करते-करते एक-दो डग कहानी के रास्ते चल कर उपन्यास को अधिक 'लाभदायक' विधा मान उधर बढ गया है, तो कोई इसी कारण पत्रकारिता अथवा आलोचना की ओर। एकाध मित्र ऐसे भी है जो हर विधा के साथ चन्द कदम चले हैं और अभी तक अपनी असली विधा पहचान नही पाये। हर विधा (यदि लेखक उसमें कुछ महत्वपूर्ण देना चाहे) रचनाकार की तन्मयता, एकनिष्ठता और एकाग्रता चाहती है और इनमे से एक भी ऐसा कथाकार नही, जिसने कहानी को वह निष्ठा दी हो, जिसकी वह माँग करती है।

सातवें दशक मे तो ढेरो नाम है, जो यहाँ रह गये है। पर अव्वल तो उनमें प्रमुख लेखकों और उनकी कहानियो का जिक्र मैंने सातवें दशक के अन्तर्गत दोनों लेखों में विस्तार से किया है। फिर जो शेष रह गये है, उन्हें अभी कुछ और श्रम दरकार है। वे बनने के क्रम में हैं। जिन्दा रहा तो कभी फिर उन पर विस्तार लिखूंगा।

●

सातवाँ दशक

सचेतन कथाकार

•

सातवाँ दशक : दशा-दिशा

दशा : दिशा

•

अपने समवयस्कों में केवल अश्क जी ऐसे कथाकार हैं, जो नये-से-नये कथाकारों की रचनाएँ पढ़ते हैं और अपने अधिकांश साथियों की तरह बिना पढ़े ही उन्हे कंडम करार नहीं देते। अश्क जी ने बीच के कथाकारों की लगभग समस्त महत्वपूर्ण रचनाएँ ही नहीं पढ़ीं, वरन सातवें दशक के कथाकारों को भी पढ़ा है और उनके सम्बन्ध में उनका निश्चित मत है, भले ही उस मत से दूसरे सहमत न हों।

प्रस्तुत खण्ड में सातवें दशक के कथाकारों के बारे में उनके दो महत्वपूर्ण लेख संकलित किये जा रहे हैं। पहला उन्होने अक्तूबर, १९६४ में 'आधार' के 'सचेतन अंक' के लिए लिखवाया था। वे उन दिनों बम्बई गये हुए थे। वहाँ उन्हें सब की सब कहानियाँ नहीं मिलीं, जो मिलीं उनके सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार लिखवाये थे। बाद में चूँकि उन्होंने शेष कहानियाँ भी पढ़ीं, इसलिए लेख को पुस्तक में देते समय उन्होने इसमें संशोधन कर दिया है।

दूसरा लेख अश्क जी ने गत वर्ष अक्तूबर-नवम्बर मे 'अणिमा' विशेषांक के लिए लिखा। अश्क जी के पास चौबीस कहानियाँ आयी थीं। उन्हीं पर उन्होंने विस्तार से अपने विचार प्रकट किये। लेकिन विशेषांक में नीलकान्त की कहानी नहीं छपी। पच्चीस कहानियाँ छपीं। अश्क जी से शेष दो पर भी अपने विचार लेख में जोड़ने को कहा गया तो कहानियाँ पढ़ कर उन्होने कुछ भी और लिखाने से इनकार कर दिया, सिवा इसके कि गौरी शंकर कपूर की कहानी में ताज़गी है, लेकिन अंत में बेकार का झटका है। उसके बिना कहानी बेहतर उतरती।

सचेतन कथाकार

•

गत वरस डेढ वरस के अरसे मे मैने सचेतन कथाकारो की काफी कहानियाँ पढ़ी अथवा सुनी है। उन कथाकारों की भी, जो स्वयं तो अपने आप को सचेतन नही मानते, लेकिन सचेतन आलोचक उन्हे अपने दायरे में शामिल कर लेते है। इन कहानियों को पढ़ने के वाद यह तो नही कहा जा सकता है कि सचेतन कथाकारों की लेखनी एकदम परिपक्व, कला मँजी-धुली, शिल्प सुष्ठ-पुष्ठ और भापा टकसाली है। लेकिन इन कथाकारों में से कुछ की दृष्टि स्पष्ट सचेतन है, यह अधिकार-पूर्वक कहा जा सकता है।

अभी कुछ दिन पहले सचेतन कथाकारो में सबसे सरगर्म सदस्य श्री महीप सिंह का दूसरा कहानी संग्रह 'उजाले के उल्लू' (न जाने पुस्तक का यह नाम उन्होंने क्यों पसन्द किया) देखने का संयोग मिला। इस संग्रह की भूमिका में वड़े ही स्पष्ट शव्दों में उन्होंने अपनी वात कही है और यह वताया है कि सचेतन आन्दोलन की क्यों जरूरत पड़ी ? सचेतन दृष्टि क्या है ? और यद्यपि यह वात उन्होने लिखी नही, लेकिन प्रकारान्तर से इसका आभास मिल जाता है कि किस प्रकार यह आन्दोलन पुरानी परम्परा से जुड़ा है—उस परम्परा से, जिसे हम प्रेमचन्द की अथवा प्रगतिशील परम्परा कहते है।

महीप सिंह अपने कथा-संग्रह की भूमिका में लिखते है :

'सचेतन' एक दृष्टि है जिसमें जीवन 'जिया' भी जाता है और 'जाना' भी जाता है।...कुछ लोग आज के मानव-जीवन की निरर्थकता और निष्क्रियता की वातें (विशेष रूप से भारतीय सन्दर्भ में) बौद्धिक अन्दाज से करने लगते हैं। सब कुछ की उपलब्धि के बाद यदि उन लोगों की निष्क्रियता का बोध हो, जो सक्रिय (शायद अतीव सक्रिय) रह चुके है, तो हैरत नहीं, परन्तु हमारे देश की अवस्था तो इसके विपरीत है। (हम तो कुछ ही वर्ष पहले आजाद हुए हैं, हमें जीवन क्यों निष्क्रिय लगे ?)...सचेतन कहानी सक्रिय भाव-बोध की कहानी है, वह जिन्दगी को नकारती नहीं, स्वीकारती है।...जीवन को जड़, निरर्थक और गतिहीन मान बैठने वाला व्यक्ति अधिक-से-अधिक वर्तमान के ही कुछ क्षणों में जी सकता है। उसके पास भविष्य की दृष्टि नहीं निखर सकती...परन्तु जो जीवन को समग्र रूप से 'जीना'

चाहता है। वह उसे 'जानना' भी चाहता है। 'जानने' का यह सक्रिय भाव-बोध आधुनिकता का भाव-बोध है। आधुनिकता गतिशीलता में होती है और यह उसकी अनिवार्य शर्त है।'

मैंने उस भूमिका मे से कुछ सूत्र-वाक्य ले कर यहाँ दे दिये है और इनसे यह अन्दाज हो सकता है कि सचेतन कथाकार ऐसी कोई बात नही कहते, जो पहले न कही गयी हो। अधिकाशतः ये बातें वही है, जो प्रेमचन्द के समय से कही जाती रही है और जिन पर प्रगतिशीलो ने भी काफी ज़ोर दिया है। हाँ, इधर कुछ वर्षों से नयी कहानी के समर्थक उनसे कुछ ज़रूर हटे है और उन्होंने ऐसी कहानियाँ लिखी है, जो शत-प्रतिशत व्यक्तिगत है, जो मन के सागर की गहराइयो में टामकटोये मार कर अपने जाने सत्यो के मोती लाने का प्रयास करती है, यह और बात है कि वे मोती कंकर हो अथवा वे सत्य आरोपित हो, अथवा वह सागर-सागर न हो कर केवल पोखर हो, जिसमें पानी बेतरह सड़ रहा हो।.... दो-एक को छोड़ कर नये कथाकारो ने, वह रेणु हो या भारती, राकेश हों या यादव, निर्मल हो या रामकुमार, मार्कण्डेय हों या कमलेश्वर, शिवप्रसाद हों या सर्वेश्वर, श्रीकान्त हों या अमरकान्त—पहले समाजपरक कहानियाँ लिखी हैं। पर इधर विभिन्न डेलीगेशनो में योरोप अथवा अमरीका घूम आने वाले अपने साथ वहाँ की अनास्था, घुटन, जीवन को निरर्थक समझने वाली फिलासफ़ी तथा ज़िन्दगी के प्रति घोर वितृष्णा लाये और उन्होने फ़ैशन के रूप में कुछ वैसे ही लेख लिखे। उन पत्र-पत्रिकाओं ने जिन पर पूंजीपतियों का अधिकार है और जो नही चाहते कि लेखकों की दृष्टि समाज पर रहे, उन्हें खूब उछाला। पश्चिम में होने वाले नये आन्दोलनों के वृत्तान्त छपे। उसके फलस्वरूप पहले नयी कविता और फिर नयी कहानी के आन्दोलन चले। तब यादव और राकेश, मार्कण्डेय और कमलेश्वर जैसे सशक्त कथाकार अपनी धुरी से हट गये और यद्यपि राकेश तो सम्हल गये और रेणु और अमरकान्त पर इनका प्रभाव नहीं पड़ा, पर शेष अभी तक हवा मे धुरीहीन चक्कर लगा रहे है—इन नये कथाकारो की (जो अब पुराने पड़ गये हैं) कहानियो में इधर जो घुटन, अनास्था, भटकन, निराशा, निष्क्रियता आयी है और इस सब की अभिव्यक्ति में उन्होने जो पेचीदा शिल्प अपनाया है, उसके विरुद्ध लगता है विद्रोह के रूप में सचेतन कथाकारो ने आवाज़ उठायी है।—इस कारण एकाध अपवाद को छोड़ कर अधिकांश सचेतन कथाकारो ने जो कहानियाँ लिखो हैं, वे सीधी-सादी, सरल, बोधगम्य, आकार-प्रकार में छोटी है और ज़िन्दगी की फड़कती हुई काशें लगती

हैं। महीप सिंह की 'स्वराघात,' धर्मेन्द्र गुप्त की 'पुराने और नये जूतों के साथी,' रवीन्द्र कालिया की 'बड़े शहर का आदमी,' विजय चौहान की 'घोड़ा,' मनहर चौहान की 'सीढ़ियाँ,' देवेन गुप्त की 'अजनबी समय की गति,' गिरिराज किशोर की 'ज़नाने डिब्बे में पुरुष,' सुरेन्द्र पाल की 'ओवरहालिंग,' से० रा० यात्री की 'गर्द गुबार,' मेहरुन्निसा परवेज़ की 'पाँचवी कब्र,' ज्ञानरंजन की 'फ़ेंस के इधर और उधर,' सुरेश सिनहा की 'नीली धुन्ध के पार,' सुखबीर की 'गोली और चुम्बन का लक्ष्य,' सुदर्शन चोपड़ा, वेद राही, मधुकर सिंह, रामकुमार भ्रमर, हिमांशु जोशी, योगेश गुप्त, ममता अग्रवाल तथा शकुन्तला शुक्ल की कहानियाँ सब सीधी सरल, छोटी-छोटी कहानियाँ हैं। इसमें से किसी का शिल्प भारती की 'सावित्री नम्बर दो,' राकेश की 'ग्लास टैंक,' यादव की 'किनारे-से-किनारे तक,' निर्मल वर्मा की 'एक कुत्ते की मौत,' शिवप्रसाद सिंह की 'मुर्दा सराय,' सर्वेश्वर की 'पागल कुत्तो का मसीहा,' मार्कण्डेय की 'पक्षाघात' अथवा कमलेश्वर की 'दुखों के रास्ते' जैसा दुरूह और पेचीदा नही है और न ही दृष्टि वैसी व्यक्तिपरक है।

सो सचेतन कथाकारो का आन्दोलन, उनकी कहानियो और वक्तव्यों को पढते हुए, मुझे दो स्तरों पर उठता हुआ लगता है—१. दृष्टि के स्तर पर; और २. शिल्प के स्तर पर। दृष्टि अधिकांश (अधिकांश रेखांकित है) सचेतन कथाकारों की सचेतन, स्वस्थ और समाजपरक है और शिल्प अधिकांश का सीधा और सरल है। आकार अधिकांश कहानियो का प्रायः छोटा है।

०

इस बीच मैंने केवल दो सचेतन कहे जाने वाले कथाकारों की किंचित लम्बी ऐसी कहानियाँ पढ़ी हैं, जिनका शिल्प पेचीदा है और कहानियाँ गहरी तथा मर्मस्पर्शी है। इनमें एक है दूधनाथ सिंह की 'आईसबर्ग' और दूसरी सुखबीर की 'दीवारें और उड़ने वाला घोड़ा।' दोनो अच्छी कहानियाँ हैं। गहरी बात कहती है और मन को छूती हैं। दूधनाथ तो अपने आप को सचेतन नहीं मानते और शिल्प में उसी परम्परा से जुड़े है, जो गहरी मनोवैज्ञानिक कहनियो की परम्परा है, जिसमें जैनेन्द्र और अज्ञेय ने ही कहानियाँ नहीं लिखी, राकेश यादव, निर्मल, रामकुमार और भारती ने भी लिखी है। सुखबीर की कहानी का शिल्प प्रेमचन्द की याद दिलाता है। और यदि सच कहूँ तो सचेतन कथाकारो मे उनकी दृष्टि सर्वाधिक सचेतन है और उनकी वह कहानी हमारी शिक्षा-प्रणाली की पोल ऐन चौराहे पर खोलती है

और मन पर गहरा प्रभाव छोड़ जाती है। दूधनाथ और सुखबीर ज़्यादा गहरी बात कहने का प्रयास करते है।

कमल जोशी, योगेश गुप्त, कुलभूषण और आनन्दप्रकाश जैन भी अपने आप को सचेतन ही मानते है (हालाँकि इस बात पर मुझे हैरत है कि वे इतने पुराने कथाकार इस नये आन्दोलन के साथ कैसे आ मिले—शायद मान्यता न मिलने की कुण्ठा के कारण) पहले तीनों के शिल्प मे तो वैसी नवीनता नही, जैसी उपर्युक्त कथाकारो मे, पर दृष्टि उनकी सचेतन और समाजपरक है, इसमे कोई सन्देह नही।

कुलभूषण और आनन्दप्रकाश जैन वर्षो से एक-जैसी 'साधारणतया अच्छी' कहानियाँ लिखते आये है। हाँ, कमल जोशी ने कुछ अत्यन्त सफल रचनाएं लिखी है जिनमे 'कस्तूरी मृग' की मुझे आज तक याद है। लेकिन उनकी रचनाओं की मौलिकता के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हो जाने के कारण उन्हें लोग गम्भीरता से नही लेते। योगेश गुप्त ने अपनी कहानी 'एन्क्लोज़र' में नया प्रयोग करने का प्रयास किया है, पर कहानी ऐसी नही बनी जो मन पर गहरा प्रभाव छोड़ जाय।

मनहर की 'बीस सुबहों बाद' जिसकी बड़ी चर्चा उन्होने करायी है और जिसके नाम पर उन्होंने अपने कहानी संग्रह का नाम रखा है, अपनी सचेतन दृष्टि के बावजूद, मनहर की अन्य कहानियो की तरह कमज़ोर कहानी है। उसे विश्वसनीय मानने के लिए बहुत-सी बातें पहले मान कर चलना पड़ता है—पहली यह कि बम्बई मे ऐसे लोग रहते है, जो पहले दिन ही खुल जाते है और अपने पार्टनर को 'मी लार्ड' जैसे अत्यन्त अनौपचारिक सम्बोधन से पुकारने लगते है; कि न केवल स्वामीनाथन चादर तान कर सोता है, वरन कथा कहने वाला भी; कि उसके मन में बीस दिन तक अपने पार्टनर को देखने की जिज्ञासा नही जगती; कि पार्टनर से बातें करने की इच्छा होने के बावजूद वह रोज ग्यारह ही बजे सो जाता है और आध घण्टा और जाग कर उससे बात नही कर लेता, न एक दिन को सुबह ही पहले उठ पाता है। इनमें से एक भी बात हो गयी होती तो कहानी नही बनती, इसलिए लेखक ने कहानी बनाने के लिए इन सब बातों का खयाल रखा। कहानी पढ कर मन में आता है कि लेखक ने बीस दिनो की कैद क्यों लगा दी। मजे से चालीस या पचास दिन तक भी यही क्रम चल सकता था।....इस बनावट के अलावा जो बात कहानी में खटकती है, वह जगह-जगह अंग्रेजी शब्दो का निरर्थक और कई बार गलत प्रयोग है। सम्वादो

में अंग्रेज़ी (गलत ही सही) चल जाती, पर लेखक जब स्वयं लिखता है तो भी साधारण मेज़-कुर्सी तथा कमरे आदि के लिए अंग्रेज़ी शब्द इस्तेमाल करता है। मै नही जानता मनहर कहाँ तक अंग्रेज़ी पढ़े है, पर इस कहानी को पढ़ कर लगता है कि या तो वे ज़्यादा अंग्रेजी पढ़े नही अथवा जताना चाहते हैं कि मैं भी खूब अंग्रेज़ी पढ़ा हुआ हूँ। या फिर माडर्न बनने के चक्कर में इतने अंग्रेज़ी शब्द, वाक्यांश और वाक्य लिखते हैं। उर्दू शब्दो का प्रयोग भी प्रायः गलत है—'बालों का कोई नन्हा-सा कतरा (?) (क़तरा' तरल पदार्थ का होता है, बालों का नही होता।)....'खलल पहुँचाई होगी' (खलल पुल्लिंग है।) 'मुझे उस पर पूरा यकीन था कि पैसा कमाने जाते हैं' (मुझे इस बात का पूरा यकीन था कि वे पैसा कमाने जाते हैं—होना चाहिए था) और ऐसे ही न जाने कितने अन्य गलत प्रयोग है।

मैंने मनहर की कहानी के ये दोष इसलिए गिनाये है कि मेरे पास जितनी कहानियाँ आयी है, उनमे 'बीस सुबहो बाद' मे ये दोष सब से ज़्यादा है। दूसरे मै यह बताना चाहता हूँ कि अच्छी कहानी के लिए सचेतन दृष्टि ही काफी नही, शिल्प, शैली और भाषा भी ज़रूरी है।

सुदर्शन चोपड़ा की कहानी 'ज़िन्दगी का सकोरामा' अच्छी है। सुदर्शन के पास प्रतिभा भी है, भाषा भी है, अगर वह इसे बिगाड़ न दे। इस कहानी मे उसकी पहले की लिखी कहानी 'औलिम्पस' की तरह उसकी दृष्टि भी सचेतन है। मुझे लगता है कि यदि उसने अपने आप पर नियंत्रण न रखा तो उसकी दृष्टि धुँधला जायगी। कहानी के अंतिम पैरे मे किसी चाबुकदस्त बाज़ीगर की तरह वह उसे रपटने से और कहानी को मानव-प्रकृति के निरुद्देश्य—अ-चेतन—चित्रण होने से बचा गया है।

हिमांशु जोशी की कहानी 'आदमी ज़माने का' पढ़ कर मार्कण्डेय की 'आदर्श कुक्कुटगृह' की याद आती है। घुग्घू बाबू का चित्रण जोशी ने खूब किया है। अन्त थोड़ा नाटकीय है, पर उसके बिना शायद काम न चलता।

धर्मेन्द्र गुप्त की कहानी 'मोड़ से पहले' में राजधानी के जीवन में फँसे एक युवक अध्यापक और तथाकथित नेशनल कॉलेज का बड़ा सुन्दर चित्रण है। इतना अपार समय और शक्ति 'कथा-कहानी' निकालने पर बर्बाद करने के बदले धर्मेन्द्र ने यदि कहानियाँ ही लिखी होतीं तो बहुत अच्छा होता। उसकी कहानियाँ मन को बाँधती भी है और प्रभावित भी करती हैं। 'मोड़ से पहले' अनुभूत सत्य का मर्मस्पर्शी चित्रण है।

ममता अग्रवाल की 'किशोर मन की साध' प्यारी कहानी है और ममता ने उसे अपने प्यारे ढंग से लिखा है। अन्त यद्यपि किंचित झटका देता है, पर अस्वाभाविक नही लगता।

हृदयेश की 'आइसक्रीम वाला लडका' साधारणतया अच्छी कहानी है यद्यपि दूसरे पृष्ठ ही से अंत का पता चल जाता है। कोई ज़्यादा प्रगतिशील लेखक यही कहानी लिखता तो लोगों की आइसक्रीम खिलाने वाला लड़का आखिरी आइसक्रीम स्वयं खाने के वदले लू खा जाता और मर जाता। पर हृदयेश ने अंत अपेक्षाकृत स्वाभाविक और विश्वसनीय वना दिया है।

प्रियदर्शी प्रकाश की कहानी 'आँधी के स्वर' साधारणतया अच्छी रूमानी कहानी है। उसकी दृष्टि भी सचेतन है और भाषा और भावों पर उसे अधिकार है। वह लिखता रहा तो यकीनन अच्छी कहानियाँ लिखेगा।

यदि हम ध्यान से देखें तो ये सारी-की-सारी कहानियाँ परम्परा से कटी हुई नही है। न दृष्टि के लिहाज़ से, न शिल्प के। हाँ, इतना जरूर है कि इधर कुछ वर्षों से जो शिल्प दुरूह-से-दुरूहतर और भाव अस्पष्ट-से-अस्पष्टतर होते जा रहे थे और नयी कहानी नयी कविता-सी जड़ होती जा रही थी, उसके विरुद्ध एक प्रवल आक्रोश सचेतन कथाकारों द्वारा इन छोटी-छोटी ज़िन्दगी से धड़कती क़ाशों ऐसी कहानियों में प्रकट हुआ है।

०

जहाँ ये कथाकार और इनकी कहानियाँ महीपसिंह द्वारा उल्लिखित सचेतन दिशा की ओर संकेत करती हैं, वहाँ सचेतन कहाने वालों में ऐसे कथाकार और ऐसी कहानियाँ भी है, जो इस परिभाषा के अन्तर्गत तभी आती हैं, यदि इसे हम जरूरत से ज़्यादा खीच दें। जगदीश चतुर्वेदी भी अपने आप को सचेतन मानते है और सचेतन आन्दोलन के चलाने वाले भी उन्हें अपना एक सदस्य समझते हैं। मैने उनकी कई कहानियाँ पढी है, मै उनकी शैली की प्रवहमानता का भी क़ायल हूँ, उनके पास वारीकवीनी है, यह भी मानता हूँ, पर दृष्टि उनकी नितान्त अस्वस्थ और व्यक्तिपरक है, कहूँ कि अ-सचेतन या अ-चेतन है। जव महीप सिंह ने 'आधार' के तत्वावधान में छपने वाले संकलन में भी उनकी एक कहानी भेजी तो मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने महीप-सिंह के कहानी-संग्रह की भूमिका को फिर पढा और पता चल गया कि घपला कहाँ है ? महीपसिंह ने अपनी उपर्युक्त भूमिका में कुछ ऐसे दो-अर्थी शब्द इस्तेमाल किये हैं, जिन्होने नये कथाकारो की दृष्टि को भी धुंधला रखा है और

उन्हीं शब्दों ने सचेतन कथाकारों के दायरे में ऐसे लोगों का आना आसान कर दिया है, जिनकी कहानियाँ सचेतन आन्दोलन के सारे दावो को झुठलाती है।

महीप सिंह लिखते : **'सचेतनता एक दृष्टि है, जिसमें जीवन 'जिया' भी जाता है और 'जाना' भी जाता है।'** फिर लिखते है—**सचेतन दृष्टि जिन्दगी को 'नकारती' नहीं, 'स्वीकारती' है।** फिर अन्त में उनकी भूमिका में ये शब्द आते हैं कि **'सचेतन कथाकार' जीवन को समग्र रूप में जीना चाहता है।'**

ये **'जानना,' 'जीवन को स्वीकारना'** और **'जीवन को समग्र रूप से जीना'** बड़े ही भ्रामक शब्द हैं; क्योकि व्यक्ति-मन के अँधेरो में टामकटोये मारने वाले, दो युद्धों के बीच पिसे हुए जीवन से आक्रान्त, धन के बाहुल्य के कारण ह्रासोन्मुख संस्कृति का शिकार, जिन्दगी को व्यर्थ समझने वाले पश्चिमी कथा-कारो के अनुकरण में मानव की कुप्रवृतियो, विकृतियो, ग्रन्थियों तथा भटकनों का चित्रण करने वाले भी यही कहते है कि वे ज़िन्दगी को जानने का प्रयास कर रहे है, उसे नकारते नहीं, स्वीकारते है, ।....इस दृष्टि से देखें तो सारी व्यक्तिपरक कहानियाँ, जिनमें जीवन की निष्क्रियता अथवा निरर्थकता का बोध होता है, समग्र जीवन का अंग होने के नाते 'सचेतन' है ।....यदि ऐसा है तो निर्मल वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, राजकमल चौधरी, राजेन्द्र यादव, रमेश बक्षी (अपनी उन कहानियो मे जहाँ वे नितान्त व्यक्तिपरक हो गये है) और उन जैसे दूसरे नये कथाकार, जिन्हे सचेतन आन्दोलन के कर्ता-धर्ता टोकते है, कहाँ गलत है ? यदि ये सब कहानियाँ सचेतन आन्दोलन के अन्तर्गत आती है तो इस नये आन्दोलन की जरूरत ही क्या है ?—सचेतन कथाकार ऐसा क्या कहना चाहते है, जो उनसे पहले के कथाकार नही कह चुके अथवा नही कह पा रहे थे ?

क्योकि सचेतन आन्दोलन में उद्देश्य और दृष्टि की सफ़ाई अभी नही आयी, इसलिए उनके प्रवक्ता महीप सिंह के यहाँ भी 'उजाले के उल्लू' जैसी कहानी मिल जाती है। और यह कहानी अपने उद्देश्य के प्रति उसी विभ्रम (कन्फ़्यूजन) ने उनसे लिखवायी है। उस कहानी की दृष्टि और जगदीश चतुर्वेदी का कहानी 'अधखिले गुलाब' की दृष्टि में कोई अंतर नही। महीपसिंह ने केवल नाम 'उजाले के उल्लू' रख कर कुलदीप और तोष की स्थिति पर व्यंग्य करने का प्रयास किया है, पर कहानी में अन्तर्भूत उद्देश्य के अभाव ने उस व्यंग्य की धार को गुट्ठल कर दिया है।....आखिर कहानी का आधारभूत विचार क्या है ?—एक जवान लड़का—कुलदीप—जो अपने दफ़्तर की बोरियत के बाद अपने वक्त

को इस या उस लड़की के संसर्ग मे विताता है, तोप—एक ऐसी युवती के सम्पर्क में आता है, जिसे वह कुछ ज्यादा चाहने लगता है। जिससे उसका शरीर ही नही, कही मन भी उलझ जाता है। लेकिन वह लड़की भी उसी की तरह कही दफ्तर में काम करती है और अपनी वोरियत को इस या उस पुरुष के संसर्ग में भुलाती है। काफी घनिष्ट होने के बाद, जब वह उसे फिर एक दिन किसी दूसरे के साथ टैक्सी मे जाते देखता है तो उसे वेहद वुरा लगता है। लडकी उससे मिलने आती है तो वह उससे पूछ वैठता है। लेकिन लड़की उसके उस प्रश्न को पसन्द नही करती और चली जाती है। जब युवक के दूसरे सम्वन्ध उसे संतोष नही दे पाते तो फिर वह उस लड़की को जा पकड़ता है और दोनों एक दूसरे के विश्वासघात से आँखें मूँदे सम्वन्ध निभाने लगते हैं।

जगदीश चतुर्वेदी की कहानी 'अधखिले गुलाब' चालीस वर्ष के एक ऐसे आदमी की कहानी है, जिसे लोलिता के नायक की तरह दस-वारह वर्ष की लड़कियाँ पसन्द आती हैं। वह ऐसी लडकियों से सम्पर्क बढाता है, जिनके वैसी छोटी-छोटी वहनें हो। उसकी एक शाम का उल्लेख जगदीश की कहानी में है। लेखक कहना यह चाहता है कि कहानी का नायक साँझ का समय अपनी इस अस्वस्थ मनोवृत्ति की पूर्ति मे विता कर दूसरे दिन काम के लिए ताज़ा-दम हो जाता है। महीप सिंह हो अथवा जगदीश चतुर्वेदी, अपनी इन कहानियों में शायद बताना चाहते हैं कि जिन्दगी में यह सब है और उसे चित्रित करना, उस सत्य को 'स्वीकारना,' जीवन को 'जानना' और उसे 'समग्र रूप से जीना है।'

मेरा विनम्र निवेदन है कि ऐसा नहीं है। यह न जीवन को 'जानना' है, न 'यथार्थ को स्वीकारना' और न 'जीवन की समग्रता को लेना।' यह केवल मानव प्रकृति का निरुद्देश्य चित्रण है और दृष्टि की 'स-चेतनता' की नहीं 'अ-चेतनता' की दलील है। जिन्दगी में कडुवे, तीखे, घृणित सत्यों की कोई कमी नही, अंग्रेजी मुहावरे का प्रयोग करूँ तो कहूँ कि हममें से हर एक की आलमारी में उन सत्यो के कंकाल पडे हैं। जागरूक लेखक उन्हें वहाँ से निकाल कर कागज के पन्नों पर उतारने से इन्कार कर देता है तो इसलिए नही कि उसमे साहस का अभाव है, वल्कि इसलिए कि वह इसे वेकार समझता है। हेनरी मिलर ने यदि वडी प्रभावमयी शैली में वैसा ही कुछ लिखा है तो इसलिए नही कि उसमें दूसरो की अपेक्षा साहस ज्यादा है, वल्कि इसलिए कि उसमें दृष्टि का अभाव है। ज़िन्दगी में ऐसे भाई मिल जायँगे जो अज्ञानतावश अथवा काम अथवा

विकृति से अंधे हो कर बहन से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लें, ऐसे पिता भी मिल जायेंगे जो लड़की से ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर लें, लेकिन क्या इनका अथवा इनसे भी भयानक यथार्थताओं का चित्रण भर सचेतन कथाकार के लिए पर्याप्त है। मंटो ने अपनी एक कहानी में ऐसी लड़की का चित्र दिया है जो पिता की वासना का शिकार होती है, और कहानी इसलिए निरुद्देश्य नही कि उसने लड़की पर उस स्थिति के प्रभाव को दिखाया है। यदि उजाले के उन उल्लुओं के जीवन की अतृप्ति अथवा कुण्ठा को भी महीप दिखा पाते, यदि चालीस वर्ष के प्रौढ़ की वासना का शिकार बनने वाली किसी लडकी के मन में बन जाने वाली ग्रन्थियों की ओर जगदीश चतुर्वेदी संकेत कर पाते तो हम मानते कि उन्होंने कहानियाँ सोद्देश्य लिखी हैं और जीवन के समग्र रूप को लिया है। वर्तमान रूप में ऐसी कहानियाँ अपने उद्देश्य के प्रति लेखकों की दुविधा और विभ्रम ही का पता देती हैं।

०

लेकिन सचेतन कथाकारों में अधिकांश की कहानियो को पढने से महसूस होता है कि चाहे वे अपनी बात को सूत्रों के रूप में अथवा पूरी स्पष्टता से न रख पाये हो, उनमें से अधिकांश की दृष्टि स्वस्थ, सचेतन और समाजपरक है। महीप सिंह ने भी पूरे संग्रह में एक ही कहानी ऐसी लिखी है, जिसे पढ कर उन पर यह आरोप लग सके कि उनकी दृष्टि धुंधला गयी है। लेकिन जहाँ उन्होंने 'उजाले के उल्लू' जैसी निरुद्देश्य कहानी लिखी है, वहाँ 'ठंडक' भी सृजी है जो अनास्था के मरु में ठंडी हवा के झोंके-सी तन की तपन मिटा जाती है। सचेतन कथाकारों में कौन यादगार कहानियाँ हिन्दी को दे जायेंगे, कौन निरन्तर लिखते रहेंगे, कौन बेहतर-से-बेहतर लिखेंगे यह कहना कठिन है। हो सकता है, इनमें से कोई भी दस साल बाद दिखायी न दे और यह भी हो सकता है कि दिन-प्रति-दिन प्रगति करते हुए कुछ कथाकार हिन्दी के पाठकों और आलोचकों से अपना सिक्का मनवा लें। मैं हिन्दी के कथा-क्षेत्र मे इन नये बिरवो का स्वागत करता हूँ। उनकी बहुत कड़ी आलोचना का अभी समय नही। उसके लिए इनके तनो और डालियो का कुछ मजबूत होना जरूरी है।

अक्टूबर, १९६४

●

सातवाँ दशक : दशा-दिशा

पृष्ठ भूमि

....पिछले दिनो इलाहाबाद में 'विवेचना' की एक गोष्ठी में बाहर से आने वाले मुख्य आलोचक नही आ पाये। चूंकि लोग इकट्ठे हो गये थे, इसलिए संयोजकों ने सुझाव दिया कि इस अवसर का लाभ उठा कर किसी आज के विषय पर उपयोगी बातचीत की जाय। श्री जगदीश गुप्त ने विषय सुझाया—'क्या सचमुच आज पीढ़ियों का कोई संघर्ष है ? और क्या नयी पीढी सचमुच कुछ नया दे रही है ?' तब, पुरानी पीढ़ी के केवल एक लेखक को छोड़ कर, बीच की पीढ़ी के उपस्थित कवियो और लेखकों ने, एक के बाद एक, यह घोषणा की कि नया कुछ महत्त्व का नही आ रहा है और जो कुछ भी हो रहा है, वह पहले से चले आ रहे का विकास-मात्र है....(बोलने वालों में अधिकांश यही कहना चाहते थे कि जब वे साहित्य में आये थे, तब उन्होने कुछ नया अवश्य दिया था। पर आगे आने वाले कुछ नया नही दे रहे है।)

....गत वर्ष दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में कलकत्ता मे कथा-समारोह हुआ। उसमे जो भाषण अथवा वाद-विवाद हुए, उनकी रिपोर्टें 'धर्मयुग' मे छपी। २७ फ़रवरी के अंक में कमलेश्वर ने लिखा....'नयी कहानी इसीलिए विकसित होती आयी है और '६० के बाद के महत्वपूर्ण लेखकों की कहानी भी उसी 'नये' से जुड़ी हुई है।'....याने इन बीच के कथाकारो ने हिन्दी कहानी को जो नयापन दिया था, उसी का विकास सातवें दशक के कथाकार कर रहे है, नया कुछ नही दे रहे।

....रायपुर (मध्य प्रदेश) से निकलने वाली एक छोटी पत्रिका 'संज्ञा' के कहानी अंक में 'प्रश्नों भरा आकाश' शीर्षक के नीचे, श्री राजेन्द्र अवस्थी ने (जो यथार्थ में बीच के कथाकार है, यह और बात है कि १०० कहानियाँ लिख लेने के बावजूद, कमलेश्वर ने घोर सम्पादकीय बददयानती का परिचय देते हुए, उन्हें 'नयी कहानियाँ' के नये हस्ताक्षरो में शामिल कर लिया था।) लिखा—'मैं नहीं समझता कि सन '६० में आ कर कहानी कहीं बदल गयी है। हाँ, कुछ नयी प्रतिभाएँ कहानी के क्षेत्र में सामने आयी हैं। उन्होने यथार्थ को पकड़ने की कोशिश की है, लेकिन उनका यथार्थ वह नहीं है, जो

उन्हें उनके पहले की कहानी से अलग कर सके।....सन '६० के बाद का विकास नयी कहानी का विकास है।' (याने बीच के कथाकारों ने अपने से पहले चली आने वाली 'नयी कहानी' का विकास नहीं किया, एकदम नये युग का सूत्रपात किया, जिस पर सातवें दशक के कथाकार चल रहे हैं)—राजेन्द्र अवस्थी की आवाज प्रकट ही 'हिज़-मास्टर्स वायस' है।

०

एक सशक्त नयी पीढ़ी को सामने खड़ी देख कर बीच के इन कथाकारों को लगता है कि उनके झूठ का मुलम्मा उतर रहा है। ज़मीन उन्हे अपने नीचे से बेतरह खिसकती दिखायी देती है, और पुराने पड जाने के एहसास से वे बेतरह संत्रस्त है। उनका यह संत्रास और बौखलाहट देख कर मुझे प्रायः हँसी आती है—क्योंकि चन्द ही वर्ष पहले इन लोगों ने कुछ अजीब-सी तर्कातीत धाँधली से यह शोर मचाया था कि वे एकदम नये हैं, पुरानी परम्पराओं से कट गये है और 'नया भाव-बोध,' 'नये आयाम,' 'नयी सम्प्रेषणीयता,' और न जाने किस-किस 'नये' का झण्डा बुलन्द करते हुए, उन्होने अपने आप को हिन्दी-कहानी के नये युग-प्रवर्त्तको के रूप में प्रतिष्ठित करने का निहायत भोडा प्रयास किया था। तब मैंने 'लहर, के एक विशेषाक में विस्तार से बताया था कि उनके यहाँ कितना कम नया है, और कितना ज़्यादा परम्पराओ से जुडा हुआ है।

मेरे उस लेख का आज तक किसी ने तर्कपूर्ण उत्तर नही दिया और वे लोग निरन्तर अपने 'नये' होने का शोर मचाते रहे। मुझे इसी बात पर हँसी आती है कि झूठ का यह भ्रमजाल इतनी जल्दी टूट गया। और पुरानो को 'चुका हुआ' घोषित करने वाले स्वयं अपने को 'चुक गया' महसूस कर रहे हैं। मै गत चालीस वर्षों से कहानी लिखता आ रहा हूँ और मैंने कहानी के सब दौर देखे है और मेरा यह निश्चित मत है (जिसका उल्लेख मै अपने दो-एक लेखों में कर भी चुका हूँ) कि हिन्दी-उर्दू कहानी में एक नया युग १९३०-३६ के बीच शुरू हुआ था, जिसका प्रसार लगभग बीस-पचीस वर्ष रहा। और दूसरा १९६० के चार-छै वर्ष पहले शुरू हो कर अब ज़ोरों पर आया है। बीच के ज़माने मे नयी प्रतिभाएँ आयीं, उन्होने यथार्थ को पकड़ने का प्रयास भी किया, पर राजेन्द्र अवस्थी से शब्द उधार लूं तो कहूँ कि उनका यथार्थ वह नही था, जो उन्हे पहले के कथाकारों से अलग करे। यथार्थ ही की बात नही, भाषा, शिल्प और दृष्टि में भी (उन चन्द प्रयोगो के बावजूद जो इस काल मे कुछ

बीच के कथाकारों ने किये) उन्होंने हिन्दी कहानी को कुछ ऐसा 'नया' नही दिया, जिसका सूत्रपात पुरानो ने न किया हो—कुछ ऐसा नया, जो इन बीच के कथाकारों को अपने उन समकालीन पूर्ववर्तियो से स्पष्टत: अलग कर सके, जिन्होने अपने को प्रेमचन्द-युग की आदर्शवादी धारा से मुक्त किया था और आज भी निरन्तर लिख रहे हैं।

१९३० में लखनऊ से उर्दू-कहानियो का एक संग्रह छपा था जिसने उस समय तक बडे इत्मीनान से चली आने वाली प्रेमचन्द और सुदर्शन की कहानी-धारा को जबरदस्त धक्का पहुँचाया था। उस संग्रह का नाम था 'अंगारे'। उसमें पाँच कहानियाँ सज्जाद ज़हीर की, दो अहमद अली की, दो डॉ० रशीदा जहाँ की और एक महमूदुलज़फर की थी। ये कहानियाँ एकदम बेबाक थी, यथार्थवादी थी, मनोवैज्ञानिक थी और सेक्स का चित्रण परम निस्संकोचता से करती थी। इनमे सज्जाद ज़हीर की कहानी 'नीद नही आती' पर बहुत शोर मचा था। उसी जमाने में छपने वाली अहमदअली की प्रसिद्ध कहानी 'हमारी गली' का प्रभाव भी इतना ज़्यादा रहा कि आज कृष्ण बलदेव वैद की 'बदबूदार गली' तक साफ चला आया है। इन्ही लेखको ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' की नीव १९३५ में लन्दन मे डाली और फिर वापस आ कर १९३६ में संघ का पहला अधिवेशन भारत मे किया। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र ने प्रमुख रूप से उस अधिवेशन में भाग लिया।

इन कहानियों और इनके द्वारा आप-से-आप चल पड़ने वाली नयी यथार्थवादी धारा के अन्तर्गत ऐसी कहानियाँ लिखी जाने लगीं, जैसी न प्रेमचन्द लिखते थे न उनके समकालीन—वे चाहे सुदर्शन हो, कौशिक हों, जिज्जा हो, राजेश्वर प्रसाद सिह हों, राजा राधिकारमणप्रसाद सिह हो अथवा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (जो अपने समकालीनो मे विद्रोही समझे जाते थे।) इन कहानियों का प्रभाव एक ओर उर्दू के कथाकारो पर पडा, दूसरी ओर हिन्दी-कथाकारो पर। बात चूंकि हिन्दी-कथा साहित्य की हो रही है, इसलिए कहा जाय कि जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय—सब पर उस धारा का प्रभाव पड़ा। जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय की यदि पहले की कहानियाँ पढी जायँ और फिर बाद की, तो इस प्रभाव का तत्काल पता चल जायगा। जैसे जैनेन्द्र के कथा-संग्रह 'फाँसी' की कहानियों मे यथार्थता और मनोवैज्ञानिकता की कमी है, लेकिन उनकी 'राजीव और उसकी भाभी' तथा 'ग्रामोफ़ोन रेकार्ड' में ये दोनों तत्व आप-से-आप आ गये है। यह जरूरी नही कि इन लोगों ने 'अंगारे' की कहानियाँ पढ़ी

ही हों। केवल उन लेखको के साथ बैठ-उठ कर, नयी धारा के सम्बन्ध मे चर्चा सुन कर भी धारा का प्रभाव पड़ता है। जैनेन्द्र ने उसी धारा के प्रभाव मे भाषा को तोड़ा और अपनी कहानियों मे मनोवैज्ञानिकता और सेक्स का पुट दिया। यशपाल ने अपनी कहानियों को मार्क्सवादी विचारधारा का वाहन बनाते हुए यथार्थवादी कहानियाँ लिखी। अज्ञेय की भाषा प्रसाद जैसी ही क्लिष्ट और संस्कृत-निष्ठ रही, पर नितान्त व्यक्तिवादी कहानियो के स्थान पर उन्होंने कुछ दिन यथार्थवादी समाजपरक कहानियाँ लिखीं—'रोज' और 'जीवनी शक्ति' उसी ज़माने की याद है, उसी धारा मे, बाद में लिखी जाने वाली, 'शरणार्थी' की चारों कहानियाँ आती हैं। मैं स्वयं १९३६ से पहले लगभग दस वर्ष तक प्रेमचन्द और सुदर्शन, फिर 'मोपासाँ' और ओ'हेनरी के रंग मे कहानियाँ लिखता रहा था। इस नयी यथार्थवादी धारा के अन्तर्गत मैंने 'डाची,' 'अंकुर,' 'पिंजरा,' 'चट्टान,' 'बैगन का पौधा,' 'काकड़ाँ का तेली' और 'उबाल' जैसी नयी कहानियाँ लिखी। और-तो-और, स्वयं प्रेमचन्द पर भी उस धारा का प्रभाव पड़ा। 'कफ़न' और 'मनोवृत्तियाँ' उसी ज़माने की याद है।

उस युग से पहले और बाद की कहानियो मे एक स्पष्ट विभाजन-रेखा निष्पक्ष आलोचक को दिखायी दे जायगी—शिल्प में, भाषा में, सम्वेदना में, दृष्टि में।

मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या बीच के कथाकारों के यहाँ १९३६ से चली आने वाली इन कहानियों से अलग कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा है ?

उस युग की कहानियाँ, वे जैनेन्द्र की हो (और अज्ञेय जैनेन्द्र मे शामिल हैं) यशपाल की या अश्क की, शिल्प, शैली, भाषा और आधारभूत विचारो की दृष्टि से प्रेमचन्द युग से नितान्त भिन्न है। **क्या वैसी स्पष्ट भिन्नता अपनी कहानियों के माध्यम से बीच के कथाकार दिखा सकते हैं ?** यादव हो या कमलेश्वर, सुविधा के लिए, जैनेन्द्र को ले कर भिन्नता दिखाते है, लेकिन जैनेन्द्र उस नये यथार्थवादी आन्दोलन के, जो १९३६ से १९५६ तक पूरे जोरो पर रहा, एक कोण है। उन्होने तब तक चली आने वाली भाषा को तोड़ा, उसे बोलचाल की भाषा के कुछ नज़दीक लाये और अवचेतन में झाँकने का प्रयास किया। यथार्थता का वैसा आग्रह उनके यहाँ नही था, प्रगतिशील दृष्टिकोण भी ('अपना पराया' और 'पाज़ेब' जैसी दो-चार कहानियो को छोड़ कर) उनके यहाँ नही था। लेकिन मनोवैज्ञानिकता विशेषकर सेक्सगत स्थितियो को ले कर—उनके यहाँ थी। और उसी नयी

यथार्थवादी धारा के प्रभावस्वरूप थी। यशपाल के यहाँ काफी प्रगतिशीलता थी, यथार्थता भी थी, लेकिन उनकी कहानियो का एक सेट फ़ार्मूला था। वे मार्क्सवादी विचारधारा से उद्भूत कई समस्या अथवा सूत्र लेते, कल्पना अथवा जीवन से पात्र गढते या उठाते और कहानी बनाते, जिसके माध्यम से वे उस सूत्र अथवा समस्या को पाठकों के लिए सुगम और स्पष्ट बना देते। मेरे यहाँ मार्क्सवादी विचारधारा और मनोवैज्ञानिकता—दोनों का समावेश था। मैं ज़िन्दगी से घटनाएँ और यथार्थ पात्र उठाता और उनके चित्रण से समस्याओं और सूत्रों का संकेत देता। आज की भाषा मे कहूँ तो, १९३६ के बाद मैंने बिना 'भोगे' अथवा 'झेले'—दूसरे शब्दों में बिना फ़र्स्ट हैण्ड अनुभव प्राप्त किये कम ही कोई कहानी लिखी।—यथार्थता, मनोवैज्ञानिकता, सीधी सरल भाषा, प्रगतिशीलता, लेकिन उसके बावजूद सत्य के प्रति एक जबरदस्त आग्रह—यथार्थ स्थितियो की ऐसी आलोचना कि पाठक चाहें तो यथार्थ स्थिति को जान कर उसका निराकरण करें, चाहें आदर्श बनायें या तोड़ें—अपनी बात कहने को मैंने यही सिद्धान्त बनाये और बडे ही सूक्ष्म व्यंग्य को साधा और माँजा।

और इन तीनों कोणो की समग्रता से ही उस नये युग का पूरा मूल्यांकन किया जा सकता है। कोई बीच का कथाकार जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल अथवा अश्क में से किसी एक की कहानी को सामने रख कर अपने नयेपन का सबूत दे सकता है, लेकिन चारों को सामने रख कर शायद ही कोई ऐसा कर सके।

कमलेश्वर ने 'नई धारा' के समकालीन-कहानी-विशेषांक मे शरच्चन्द्र के 'दीदीवाद' तथा जैनेन्द्र के 'भाभीवाद' पर व्यंग्य किया है। मै उन्हे पहले यह बताना चाहता हूँ कि उनके दोस्त श्री राजेन्द्र यादव आज भी दादा और दीदी-वाद से बेतरह आक्रान्त हैं—उनके 'उखड़े हुए लोग,' 'शह और मात' और 'अनदेखे अनजान पुल' में यह शरच्चन्द्रीय दीदी-दादावाद कही खुले और कही छद्म रूप में मिल जायगा। फिर मैं उन्हें यह बताना चाहता हूँ कि जैनेन्द्र की 'राजीव और उसकी भाभी' (जिससे कि भाभीवाद की धारा चली) अपने में क्रान्तिकारी कहानी थी, जो उस जमाने के दमित सेक्स को वाणी देती थी। और बीच के कथाकारो ने शोर चाहे जितना मचाया हो, एक भी ऐसी कहानी नही लिखी, जो कोई नयी धारा चला दे अथवा कहानी साहित्य को नया मोड़ दे दे। उन क्रान्तिकारी कदमों का, जो उस युग मे उठाये गये, बीच के तमाम कथाकारो पर कितना प्रभाव है, इसे वे अपनी कहानियो का निरपेक्ष विश्लेषण

कर के जान सकते है। बीच के कथाकारों को तो यह भी मालूम नहीं कि उनका सारा चिन्तन, उनकी शैली, उनकी भाषा, उनकी दृष्टि, उन्हीं पूर्व-वर्ती, पर समकालीन कथाकारों का विकास भर है। दूसरो की वात छोड़ दें तो जैनेन्द्र के कई प्रयोग, शब्द और वाक्य-विन्यास वाद मे आने वाले कथाकारों ने अपना लिये और उन्हे यह भी मालूम नही कि वे जैनेन्द्र की देन हैं।

इस वस्तुस्थिति का कारण साफ है। बीच के कथाकारों ने अपनी तमाम अनुभूतियाँ उसी युग में अर्जित कीं, अपना वचपन और किशोरावस्था उसी युग में विताये। स्वतंत्रता के कुछ वर्ष बाद तक तो आजादी का नशा रहा—आशा रही कि सपने सच होंगे, लेकिन बाद में भयानक विघटन हुआ, चूंकि वह बीच के इन कथाकारों के वचपन और किशोरावस्था में नही घटा (जब कि प्रभाव गहरे और अमिट होते हैं) इसलिए उनके विचारो का अंग चाहे बना हो, उनकी अनुभूति का अंग नही वन पाया। यही कारण है कि 'संकेत' की सारी कहानियाँ (जिनमे से अधिकांश का उल्लेख नामवर ने अपनी पुस्तक 'कहानी : नयी कहानी' तथा कमलेश्वर ने अपने 'नयी धारा' के 'समकालीन कहानी विशेषाक' के अग्रलेख में किया है) मैं ने ही चुनी और छापी थी और उनमें से एक भी मुझे अपने युग से कटी हुई नही लगी थी। उसी वर्ष मैंने 'पत्थर-अल-पत्थर' (वर्फ का दर्द) लिखी थी। (वह भी संकेत ही के लिए लिखी गयी थी, पर ज्यादा रचनाएँ आ जाने से मैंने उसे रोक लिया।) कमलेश्वर ज़रा उसे उन सब के साथ रख कर पढ़ें तो उन्हे मालूम होगा कि शायद वह उन सब से एक कदम आगे ही थी, पीछे नही।

०

आज की पीढ़ी के जो लेखक सामने आये है, उनका विद्रोह उनकी आरम्भिक रचनाओ अथवा वहस-मुवाहिसों में आज से दस वर्ष पहले शुरू हो गया था। विजय चौहान तथा प्रवोध कुमार की कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं मे छपने लगी थी, श्रीकान्त वर्मा और दूधनाथ सिंह के भिन्न स्वर सुनायी देने लगे थे। यही कारण है कि धर्मयुग' के सम्पादक ने श्री विजय चौहान को वीच के दशक में शामिल कर लिया। उन दिनो जव राकेश, यादव, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय आदि के संग्रह छप चुके थे, विजय चौहान, दूधनाथ सिंह, कालिया, प्रवोध कुमार आदि विश्वविद्यालयों में पढ़ते थे। तब बीच के कुछ कथाकारों ने परम अवसरवादिता का परिचय देते हुए कुछ 'नयी तरह की' कहानियाँ लिखने का नितान्त असफल प्रयास किया और अपने असफल प्रयासों के पक्ष में झूठमूठ अपने बाद की पीढ़ी

से शब्दावली उधार ले कर चतुराई और चाबुकदस्ती से अपना प्रचार करना शुरू कर दिया। राकेश हो, यादव हो, कमलेश्वर हो, शिवप्रसाद सिंह हो, उनके लिए विजय चौहान, दूधनाथ, ज्ञानरंजन, कालिया तथा उनके साथियों की तरह होना—कम-से-कम उतनी जल्दी—असम्भव था, क्योंकि वे एक ओर प्रगतिशीलता और दूसरी ओर कथा-शिल्प के उरूज की देन थे और अपने आप को एकदम बदल पाना उनके लिए मुश्किल था, पर अपने बाद आने वाले कथाकारों की शब्दावली छीन कर, अपने आप को एकदम नया और परम्परा से कटा और अकेला और केवल अपने तईं प्रतिबद्ध घोषित करने में क्या खर्च आता था, सो इन 'हमदमों' ने यही किया। बिना इस बात का खयाल किये कि वह शब्दावली इनकी रचनाओं पर फ़िट भी बैठती है या नहीं, ये सब 'नये-नये' का शोर मचाने लगे।

किसी ज़माने में डॉ० रामबिलास शर्मा की विचार-धारा का समर्थन करते हुए परम प्रगतिशील कहाने वाले श्री राजेन्द्र यादव इस प्रयास में कहाँ पहुँचे हैं, इसे उनके द्वारा सम्पादित संकलन 'एक दुनिया समानान्तर' की भूमिका पढ़ कर ही जाना जा सकता है....'नहीं, मानवता, राष्ट्रीयता, सत्य, नैतिकता, धर्म—इन छलावों के प्रति आस्थावान होना गलत है!' नये कथाकारों की शब्दावली चुरा कर राजेन्द्र यादव घोषणा करते हैं...'ये शब्द अव्यावहारिक हैं, अवैज्ञानिक हैं, रूढ़ियाँ हैं...हर बाहरी सिद्धान्त, सन्देश और आदर्श झूठा है...लेखक की आस्था और कमिटमेण्ट इनमें से किसी को नहीं मिलनी चाहिए। वह किसी के प्रति प्रतिबद्ध नहीं होगा—होगा—तो सिर्फ़ अपने प्रति...वास्तविकता को पूरी प्रामाणिकता के साथ, पूरी सच्चाई के साथ उभरने दो।...नया लेखक बनायेगा नहीं, यथार्थ को रू-ब-रू देखेगा...कहानी न 'मैं' की व्यक्तिगत डायरी है और न परिस्थिति की निर्वैयक्तिक रिपोर्टिंग...।' अपनी इस भूमिका में राजेन्द्र यादव ने सातवें दशक के कथाकारों की सारी शब्दावली अपनी पीढ़ी के लिए अपना ली है (क्योंकि संकलन में पुरानों अथवा नयों की एक भी कहानी नहीं।)। उन्होंने अपनी जो बाईस कहानियाँ इस भूमिका में गिनायी हैं, उनमें अधिकांश उनके दावों पर पूरी नहीं उतरतीं। यादव ने कुछ छिट-पुट प्रयोग जरूर किये, पर चूँकि वे फ़ैशन के कारण थे, उनकी अनुभूति का अंग नहीं थे, इसलिए वे अपना टैम्पो बरकरार नहीं रख पाये ('अभिमन्यु की आत्म-हत्या' जैसी दूसरी कहानी उनके यहाँ नहीं मिलती। जाने कहाँ से शैली उड़ा कर वह

उन्होंने घर घसीटी थी ?) और आज वे अपने तमाम दावो के बावजूद फिर पुरानी लीक पर चलते दिखायी देते है !

अभी पिछले महीने दिल्ली से निकलने वाले 'विग्रह' के पहले अंक में यादव की एक धारावाहिक लम्बी कहानी शुरू हुई है—'मन्त्रविद्ध ।' ज़रा अपने-आप को 'नया' मानने वाले इस कथाकार की कहानी के शुरू का वाक्य देखिए :

'नथुनों की उस तरह की बनावट और उनके फड़कने को देख कर अकसर लोगों को कछुए का ध्यान आता है, लेकिन मुझे जाने क्यों, साँप का ध्यान आया ।'

कोई पूछे कि किस भकुए को किसी के नथुनों को फड़कते देख कर कछुए का ध्यान आता है ? और चाहे यादव को नही मालूम, पर मै उन्हें बताता हूँ कि तारक दा (और कमलेश्वर कहते हैं कि नया कथाकार दीदी दादावाद से आगे निकल आया है ।) के नथुनो को फड़कते देख कर क्यो उन्हे साँप का ध्यान आया ?

इसलिए कि उन्हें 'मन्त्रविद्ध' कहानी लिखनी थी ! 'मन्त्रविद्ध' इसलिए कि जगदीश गुप्त के काव्य-संग्रह का नाम 'हिमविद्ध' उन्हे बहुत अच्छा लगा था । उस नाम पर सोचते हुए उनके दिमाग में उसी के वज़न का नाम कौंधा 'मन्त्रविद्ध' और चूँकि इस विश्वास के बारे मे उन्होंने सुन रखा है कि साँप को मन्त्र से बाँधा जा सकता है, इसलिए उन्होने समाचार-पत्र की एक खबर से क्यू ले कर एक नायक को गढा, जिसके नथुनो की फडकन देख कर कहानी कहने वाले को साँप का ध्यान आ जाय ! (सचमुच किसी के नथुनो की फड़कन देख क़र किसी को मेढक, कछुए अथवा साँप का ध्यान आता है, इससे गरज नही । पर यादव को आता है । साँप मन्त्र से बस में न होगा तो कहानी का शीर्षक 'मन्त्रविद्ध' कैसे होगा !)[1] ....और ऐसे बने हुए शीर्षक, ऐसी बनी हुई कहानी, फूहडता से गढ़े हुए अविश्वसनीय, असफल पात्र ले कर, आज ये बीच के नितान्त

---

१. इस पुस्तक के प्रेस में जाते-न-जाते मैने विग्रह में छपने वाली उस कहानी की सभी किस्तें पढ़ ली हैं । अंत उसका वैसा ही हुआ जिसकी सम्भावना थी और जिसकी ओर मैने उपर्युक्त पंक्तियों में संकेत किया है । तारक दा मन्त्र से बँधा गाड़ी में बैठा दिया गया है । लगता है कि बरबस बैठा दिया गया है ताकि कहानी का नाम चरितार्थ हो जाय !...और कहानी खत्म करके मुझे इस पैरे की शेष पंक्तियों को बदलने की जरा भी जरूरत महसूस नहीं हुई । अ०

कन्फ़्यूज़्ड, फ़ैशनपरस्त कथाकार—हमदम राजेन्द्र यादव समझते हैं कि वे 'भोगी' अथवा 'झेली' हुई कहानी लिख रहे हैं।

लेकिन ऐसी झूठी कहानी को जमाने के लिए यह कथाकार (जो 'सारिका' के अपने वक्तव्य के अनुसार गुट बनाना निहायत ज़रूरी समझता है जबकि हर जेनुइन लेखक जानता है कि उसका कोई गुट नही हो सकता, क्योकि हर गुटबाज़ झूठा भी होता हैं, समय-साधक भी और कायर भी।) 'विग्रह' के दूसरे ही अंक में कितना बड़ा झूठ बोलता है! कहानी के नाम को जमाने के लिए पत्रिका का आधा पृष्ठ बेकार कर (जिसमें कि जासूसी उपन्यास की टेकनिक से निकल पाने मे नितान्त असफल यह लेखक अ-उपन्यास तथा अ-कहानी तक का झंडा भी बुलन्द करता है!) यादव, टॉमस मान का भारी-भरकम नाम पाठकों पर थोपते और कुछ अजीब-सी झूठी प्रसव-पीड़ा से कराहते हुए कहता है: '**कहानी-भाषा की तलाश मेरा दूसरा चिन्ता-केन्द्र रहा है। अपने को उन विशेषज्ञों के बीच पाने का अभिशाप हम सब ढो रहे हैं, जो भाषा की दरबारी नक्काशी से ऊपर नहीं उठ पाते, जिनके साहित्य-संस्कार छायावाद युग के हैं। आज भी वही ख़ुमारी (हैंग-ओवर) उनकी निगाह धुँधलाये हुए है। जड़ाऊ शब्दों वाली पन्त-प्रसाद-महादेवी की सरल भाषा में पगी शरच्चन्द्रीय कहानियाँ जिनके भाव-बोध को अधिक छूती है।**'

इतनी प्रसव-पीड़ा और आत्म-मन्थन के बाद यादव ने जो नयी भाषा 'ईजाद' की है, उसका जिक्र करने से पहले मै उनसे यह पूछना चाहता हूँ कि कृपया यह तो बताइए—कौन कथाकार हैं, जो (पन्त-प्रसाद-महादेवी नहीं) प्रसाद-पन्त-महादेवी की तरह भाषा लिखते हैं—क्या भगवती बाबू? क्या अमृत-लाल नागर? क्या यशपाल? और क्या अश्क?—कहानी मे वह भाषा तो कभी चली ही नही—अज्ञेय ने ज़रूर चलाने का प्रयास किया और उनकी नकल में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नरेश मेहता आदि ने, पर वे स्वयं कहानी की मुख्य धारा से कट गये।

कोई इन महानुभाव से यह पूछे कि उनकी भाषा यशपाल या अश्क की भाषा से कहाँ भिन्न है—सिवा इसके कि उन्होने (जान कर नही, अनजाने) भाषा के गलत प्रयोग किये हैं और फैशन में अंग्रेजी लिखी है तो गलत लिखी हैं। विग्रह के पृष्ठ ३६ पर दो बार उन्होने लिखा है—'तारक दिसिज लिमिट ...दिसिज लिमिट।' एक ही बार होता तो समझते कि 'द' आर्टिकल प्रेस की

गलती से उड़ गया है। पर दोबारा वही गलती हमदम यादव की जानकारी का भरम ऐन चौराहे में खोल देती है।

लेकिन चूँकि सातवें दशक का कथाकार भाषा के मामले में आगे बढ़ा है, यादव कैसे पीछे रह सकते है ? बिना यह जाने-समझे कि नये कथाकार ने भाषा के मामले में कहाँ परिवर्तन किया है, वे कोठे पर चढ़ कर चिल्लाने लगे हैं कि मैं भी नयी भाषा को जन्म देने की प्रसव-पीड़ा झेल रहा हूँ।

'नयी' कहानी के दूसरे (ज़बरदस्ती के) अलमबरदार कमलेश्वर हैं। इधर मैंने उनके तीन कथा-संग्रह एक साथ पढ़े हैं और इतना झूठा (फेक) कथाकार उनके साथियों मे शायद दूसरा नही। उनके यहाँ प्रभाव-ही-प्रभाव हैं, निज का कुछ नहीं। उनके पास अनुभूतियाँ न हो, ऐसी वात नहीं। खासे संघर्ष और दन्द-फन्द की ज़िन्दगी उनकी रही है, लेकिन अपनी सच्ची अनुभूतियों को बेबाकी से अभिव्यक्त करना उनके लिए असम्भव है। क्योकि तब लेखक को सच बोलना पड़ता है और सच बोलना उन्ही के हमदम राजेन्द्र यादव के कथनानुसार कमलेश्वर के लिए मुश्किल है। **'कमलेश्वर साला सच बोल ही नहीं सकता,'** दुष्यन्त के हवाले से राजेन्द्र यादव 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' में लिखते है, **'ज़रा-ज़रा-सी बातो में और बिला वजह झूठ बोलता है।'** ...तब ऐसा झूठा व्यक्ति अपने 'भोगे' और 'झेले' हुए को निर्भीकता से कैसे व्यक्त कर सकता है ? सो कमलेश्वर के यहाँ अपना 'भोगा' या 'झेला' ज़्यादा नही। महज़ प्रभाव हैं। कभी बहुत पहले मैंने 'गिरती दीवारें' का एक परिच्छेद 'चेतन की माँ' के नाम से 'हंस' में छपवाया था। कमलेश्वर ने उन्हीं दिनों झट 'देवा की माँ' घसीट डाली। कृष्णा सोबती ने १९५६ में कमलेश्वर की उपस्थिति मे इलाहाबाद की एक गोष्ठी में ही 'कहीं नही, कोई नही' कुछ ऐसे ही शीर्षक की बड़ी अच्छी कहानी सुनायी थी। उनकी कहानी तो किसी संग्रह में छपी नही, कमलेश्वर ने झट 'कुछ नही, कोई नही' घसीट कर छपवा दी।

कमलेश्वर की 'एक थी विमला' का पहला खण्ड दास्तयोवस्की के एक लघु उपन्यास के पहले खण्ड से प्रभावित है। मैंने 'एक थी विमला' पढ़ी तो मुझे लगा कि शुरू का हिस्सा मैंने कही पहले पढ़ रखा है। बाद में मालूम हुआ कि दास्त-योवस्की के लघु-उपन्यास में पढा था। जाने कहाँ-कहाँ से प्रभाव ग्रहण कर कमलेश्वर सर्र से कहानी घसीट डालते हैं। उनकी एक कहानी की शैली दूसरी से नितान्त भिन्न दिखायी देती है। 'राजा निरबंसिया,' 'नीली झील,' 'खोयी हुई दिशाएँ,' 'दु:खो के रास्ते' और 'जो लिखा नही जाता'—इन कहानियो का

लेखक एक नही लगता। इसीलिए दिल्ली मे किसी ने यह रिमार्क कसा था कि कमलेश्वर और कमल जोशी मे कोई अंतर नही है।....और ये छायाजीवी, उपजीवी लेखक, जो भाषा गलत लिखते है, विचार निहायत कनफ्यूज़्ड देते है, अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग गलत करते है, राजेन्द्र अवस्थी-जैसे 'न तीतर न बटेर' किस्म के चार यारो को साथ मिला कर शोर मचाते है कि वे हिन्दी कहानी में नया युग ले आये है।

बीच के कथाकारों में अच्छे लेखक न हो, ऐसी बात नही, और उन्होंने हिन्दी को कुछ भी 'अपना' न दिया हो, ऐसी बात भी नही—रेणु, राकेश, अमरकान्त, धर्मवीर भारती, कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद, रामकुमार, उषा प्रियम्वदा, निर्मल वर्मा, परसाई, मन्नू भंडारी—कुछ ऐसे नाम है, जो बीच की पीढ़ी में सदा याद रखे जायेंगे कि कितनी भी कम क्यों न हो, उनकी अपनी देन है, अपनी शैली है और वे सचमुच हिन्दी-कहानी को विकसित करते है। लेकिन १९३६ से शुरू होने वाले उस नये युग से (जिसका जोर बीस-पच्चीस वर्ष रहा) उनके यहाँ स्पष्ट विभाजन-रेखा है, मै ऐसा नही मानता। (निर्मल वर्मा तक के यहाँ भी नही, जिनके बारे मे लोग कहते है कि नयी शैली में लिखते है।) वास्तव में ये बीच के लेखक सातवें दशक के कथाकारों के बारे में जो बात कहते है, वह स्वयं उन पर ज़्यादा लागू होती है। उन्होंने प्रेमचन्द-युग की कारा तोड़ने वाली 'नयी कहानी' को जहाँ से लिया है, उसे आगे विकसित किया है। ऐसी स्पष्ट विभाजन-रेखा पुरानों में और उनमें नहीं है, जो सातवें दशक के कथाकारों और बीच के कथाकारों के दरमियान है।

विभाजन-रेखाएँ

सातवें दशक के कथाकारो मे कौन-से ऐसे तत्त्व है, जो उन्हे अपने पूर्ववर्तियो से अलग करते है, यह जानने वाले को ढेरों दूसरे, तीसरे, चौथे दर्जे की कहानियाँ पढनी पड़ेंगी, जो आये दिन पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती है और उनमे वे कहानियाँ ढूंढनी होगी जो नये युग की आमद-आमद का स्पष्ट संकेत करती है। पुराने आलोचक इस संदर्भ मे पाठक की सहायता नहीं करते। नामवर बीच की पीढ़ी के आलोचक है और वे उस पीढी के साथ ही थक गये दीखते है और इस संदर्भ मे उनसे किसी तरह के मार्ग-दर्शन की आशा नही होती। उनमें इसकी

प्रतिभा न हो, ऐसी बात नही । वहुत प्रतिभा है, लेकिन अपनी ,इस प्रतिभा का उपयोग उन्होंने झूठ को सच से और पानी को दूध से अलग कर दिखाने में नहीं किया । मैंने नामवर के प्रायः सभी लेख पढ़े है । उनमे से अधिकांश न केवल गलत, विरोधाभासपूर्ण और गुमराह करने वाले है, वरन साठ के बाद आने वाले कथाकारों को समझने में किसी तरह की सहायता नही करते । उनके मुकाबिले में रायपुर से निकलने वाली 'संज्ञा' के उपर्युक्त कहानी अंक मे छपा जमशेदपुर के किसी (शायद) नितान्त युवा आलोचक वीरभारत तलवार का लेख कही बेहतर मार्ग-दर्शन करता है—'नयी कहानियाँ' और 'नयी धारा' के अंको मे दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, गंगाप्रसाद विमल, सुदर्शन चोपड़ा आदि सातवें दशक के कथाकारो ने जो वक्तव्य दिये है, उनसे भी क़द्रे ज़्यादा! कथाकारो के वक्तव्य मसलहतो से पुर है और इसीलिए कही-कहीं झूठे है, जबकि तलवार ने निहायत सफाई और दयानतदारी से सातवें दशक के कथा-कारो की खूवियो-खामियो की ओर संकेत किया है । यह आलोचक अगर नेता-गिरी के चक्कर में न पड़ा और निष्पक्षता से (प्रशंसाओं और निन्दाओ की परवा किये बिना) मित्र-शत्रुओ की रचनाओं का जायजा लेता रहा तो आलोचना के नये मान-दण्ड स्थापित करेगा ।

मैंने यह अनुभव किया है कि आज सत्य, दयानतदारी, निष्पक्षता—इन सब का साहित्य में कोई मोल नही रह गया है । जो युवक विश्वविद्यालयो मे समय-साधक और अज्ञ गुरुओं के चरण चूम कर आगे बढते है, और बाद में लेखक या आलोचक बन जाते है, वे साहित्य में भी उसी खुशामद, समय-साधकता, दन्द-फन्द, बददयानती और झूठ से काम ले कर आगे बढ़ना चाहते है । कोई लेखक, जो सच्चाई अथवा निर्भीकता को अतिरिक्त मूल्य देता हो, दयानत-दारी से किसी मित्र की निन्दा अथवा शत्रु की प्रशंसा कर सकता है, यह वात उनकी समझ में नही आ सकती—वे हर प्रशंसा और निन्दा के पीछे किसी-न-किसी वदनियती को खोज निकालते है । मित्र की किसी कमज़ोर रचना की निन्दा करो तो समझेंगे कि ईर्ष्या-वश ऐसा किया जा रहा है, शत्रु की प्रशंसा करो तो समझेंगे कि अपने गुट में मिलाना चाहते है । इसीलिए नये आलोचको को अपना दिल काफी मजबूत कर के आलोचना के क्षेत्र में उतरना पड़ेगा । यह चेतावनी मै उन्हें अभी से देता हूँ कि उनके इन्ही समकालीनो में से कोई उनकी नेकनियती का विश्वास नही करेगा ।

०

गत पाँच छः वर्षो मे जितनी नयी कहानियाँ और लेख छपे है, उनमें से अधिकाश मैंने पढे है। मुझे लगता है सातवें दशक के लेखकों में चार तरह के कथाकार है :

१—वे, जो वास्तव में बीच की पीढ़ी के हैं, पर पीछे न पड़ जायँ, इस भय से नयी तरह की कहानियाँ लिखने का प्रयास कर रहे है। नही भी लिख पाते तो अपने 'नये' होने का शोर मचाते रहते हैं।

२—वे, जिन्होने कथा-लेखन का प्रारम्भ इसी युग में किया है, लेकिन जिनके संस्कार, भाव-बोध, सम्वेदना, शिल्प अथवा दृष्टि पुराने जमाने की है।

३—वे, जो सातवें दशक के है और धड़ाधड़ कहानियाँ भी लिख रहे है, पर जो लेखक नही हैं। याने रचनाकार नही है। पैसे के लिए लिखते है अथवा फैशन में लिखते है और जो नारे हवा मे उछलते है, अन्धाधुन्ध उन्हे अपना लेते हैं। अपने 'भोगे' और 'झेले' को पचा कर उसे कला का स्वरूप देने के बदले, तत्काल उसका बमन कर देते है, और जब उनकी रचनाओ की चर्चा नही होती तो नाम न लेने वालो अथवा आलोचना करने वालों को गालियाँ देते है।

४—वे, जो इस नये युग के अगुवा है—जिनकी रचनाओ में इस नये युग का एक-न-एक ऐसा संकेत मिलता है, जो उन्हें अपने पूर्व-वर्तियों से अलग करता है।

मेरे इस लेख का विषय पहली, दूसरी और तीसरी तरह के लेखक नही है। केवल चौथी तरह के लेखक है। याने वे लेखक, जिन्हें मै नये शिल्प, नयी भापा, नयी सम्वेदना और नयो दृष्टि का वाहक समझता हूँ, और चूंकि मेरे पास अध्यापकीय शब्दावली नही है, इसलिए ढेरो कहानियाँ पढ़ने के बाद, जिन कहानियो के माध्यम से मुझे नये युग की आमद का संस्पर्श मिला है, उनका उल्लेख कर, मै उन विभाजन-रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा, जो नये युग के कथाकारो को बीच की:पीढ़ी अथवा पुरानी पीढ़ी से एकदम अलग कर देती है।

शिल्प

सबसे पहले जो बात इन कहानियों में अनायास दृष्टि को आकर्षित करती है, वह उनमे से कुछ लेखकों की कहानियो के कलेवर की लघुता है। १९३० से '६० तक हिन्दी-कहानी धीरे-धीरे स्तर-दर-स्तर पेचीदा और गहरी होती गयी

है। मेरी लगभग एक ही थीम पर लिखी' हुई कहानियाँ—'उबाल,' 'बेबसी' और 'झाग और 'मुस्कान' को पढ़ें तो इस अंतर का पता चल जाता है। राकेश के 'इंसान के खंडहर' और 'एक और ज़िन्दगी' की कहानियों में, निर्मल वर्मा की 'दहलीज़' और 'परिन्दे' मे, यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' के पहले और बाद की कहानियों में यह अंतर बखूवी देखा जा सकता है। कारणों की खोज बाद में को जा सकती है, लेकिन सातवें दशक में सहसा कहानी सरल और संक्षिप्त हो गयी है—यह और बात है कि जहाँ ऐसा नही हुआ, वहाँ भी दृष्टि बदल गयी है। लेकिन दसियों कहानियाँ मेरे दिमाग में घूमती है, जो सरल, सीधी और कलेवर में छोटी हैं—विजय चौहान की 'बेसमेंट' प्रयाग शुक्ल की लगभग सभी कहानियाँ, रवीन्द्र कालिया की 'वड़े शहर का आदमी,' ज्ञानरंजन की 'फेंस के इधर और उधर,' अनीता औलक को 'लाल परादा,' महेन्द्र भल्ला की 'वोहनी,' प्रवोधकुमार की 'आखेट,' गिरिराजकिशोर की 'अलग-अलग कद के दो आदमी' और भीमसेन त्यागी की 'शमशेर।' अभी कुछ ही दिन पहले छपे 'उत्कर्ष' के अंक में प्रदीप पत की कहानी 'महान सिद्धान्तो का बड़ा युद्ध' भी ऐसी ही चुस्त और संक्षिप्त कहानी है। आलोक शर्मा और अतुल भारद्वाज की कहानियाँ कैसी भी दुरूह क्यो न हो, कलेवर मे छोटी है।

लघु कलेवर के अलावा इन कहानियो में नायक का (और कही तो पात्रों तक का) नाम और अता-पता लुप्त हो गया है। अब अधिकांश कहानियों का नायक महज़ 'वह' है। कहानियों के कलेवर की तरह वाक्यो का कलेवर भी छोटा हो गया है। छोटे-छोटे चुस्त (प्राय: व्यंग्य भरे) वाक्य ! नपी-तुली, चुस्त, संक्षिप्त कहानियाँ—कभी एलिगरी-सी, फैंटेसी-सी, कभी चुटकुले, कभी स्केच-ऐसी, कभी किसी घटना के इकहरे चित्रण-सी, कभी किसी छोटी-सी गहरी थीम की संक्षिप्त अभिव्यक्ति-सी।—और यह पहली विभाजन-रेखा है जो पाठक का ध्यान अपनी ओर खीचती है।

भाषा

सातवें दशक की कहानियों मे भाषा काफी बदल गयी है। यो तो भाषा का यह परिवर्तन काफी पहले से शुरू हो गया था, तो भी एक परिष्कृत भाषा का आग्रह हर अच्छा लेखक करता था और वीच के लेखको ने भी ऐसा किया। लेकिन सातवें दशक के कथाकार, ऐसा लगता है, जैसे जान-बूझ कर भाषा को

रूखड और ऊबड-खाबड बना रहे हैं—सद्य-स्नातः 'प्रातः स्मरणीय,' 'अनिमेष-दृगो से,' 'निर्निमेष देखता रहा,' और ऐसे ही बेगिनती शब्द और वाक्य-खण्ड उन्होने अपनी भाषा से निकाल दिये है। प्रकृति-चित्रण मे भी रोमानी शब्दावली को उन्होने हटा दिया है। और यदि यह अजाने किया होता तो शायद दोष होता, लेकिन जैसा कि मैंने कहा, जान-बूझ कर एक खास तरह का प्रभाव पैदा करने के लिए उन्होने ऐसा किया है। उर्दू शब्दो का प्रयोग प्रेमचन्द भी करते थे, मैंने भी किया है, बाद के लोग भी करते रहे। लेकिन हम लोगो ने सदा इस बात का खयाल रखा कि भाषा का प्रवाह कायम रहे और क्लिष्ट हिन्दी शब्दो के साथ क्लिष्ट उर्दू शब्द यथासम्भव न आयें और जहाँ हिन्दी शब्द से काम चले, वहाँ उर्दू शब्द न रखे जायँ। लेकिन सातवें दशक के कथाकार इस बात का खयाल नही करते। एक खास तरह की रूखड़ अभिव्यक्ति उन्हें अभीष्ट है और इसके लिए वे रूखड शब्द इस्तेमाल करते है। उदाहरण के लिए—'वह मुझसे प्रेम करती है,' ऐसा कहना सातवें दशक के कथाकार को पसन्द नही, वह यह कहेगा, 'वह मुझसे फँसी है'। 'प्रसन्नता आरम्भ हो गयी थी' की जगह वह 'प्रसन्नता शुरू हो गयी थी' लिखेगा (हालाँकि यह वाक्य पुराना कथाकार लिख ही नही सकता) और 'आश्चर्य और संदेह' की जगह 'आश्चर्य और शुबहा'। मै नीचे ज्ञानरंजन और काशीनाथ की कहानियो से यो ही सामने पड़ जाने वाले उद्धरण दे कर अपनी बात स्पष्ट करूँगा :

'मै अनुभव कर रहा हूँ कि मेरी संजीदगी बहुत हास्यापद होती जा रही है और कोई तीव्र प्रतिक्रिया ही मेरी रक्षा कर सकती है। मुझे मालूम है कि यह गम्भीरता बहुत घटिया और बर्दाश्त के बाहर की चीज़ है। मुझे खुद ही इससे खूंख्वार घुटन होने लगती है।'

(—सम्बन्ध, ज्ञानरंजन)

('अनुभव' और 'हास्यास्पद' के बीच 'संजीदगी' नही 'गम्भीरता' होना चाहिए और 'बर्दाश्त के बाहर' की जगह केवल 'असह्य' से काम चल सकता है।)

एक और उद्धरण देखिए :

'ठीकै, ठीकै, मगर साब से कै दे तो ?'
'वो नहीं कै सकती, मैं जान्ता हूँ।
'मान लो, कै दे।'
'कै दे अपनी बला से, मेरे को क्या ?'

मेरे इस उत्तर की उसे उम्मीद न थी। मैने अपने को और साफ़ किया, 'तुम जानते हो, साब मेरा कुछ नहीं उखाड़ सकता। वह जितना मुझे जानता है, उसे मैं उससे ज्यादा जानता हूँ।'

(अपने लोग, काशीनाथ)

और ऐसे पचासो उद्धरण नयी कहानियो में मैं दे सकता हूँ। आंचलिक अथवा अंग्रेज़ी शब्दो का इतना बाहुल्य भाषा मे पहले कभी दिखायी नही दिया। यह सब अच्छे के लिए हो रहा है या बुरे के लिए, इस बात से बहस नही। हो रहा है और यह नयी कहानी को पुरानी से स्पष्टतया विभाजित करता है।

सम्वेदना

सबसे ज़्यादा अन्तर मुझे पुरानी और नयी कहानियो की सम्वेदना में दिखायी पडता है—कभी-कभी तो यह लगता है कि नये कथाकारों की सम्वेदना चुक गयी है। पुराने रिश्ते उनके निकट महत्व के नही रहे। पुराने आदर्श और पुरानी नैतिकता उनके लिए पोच हो गयी है। यह ज़बरदस्त विघटन, जो आज़ादी के बाद हमारे देश के धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे हुआ है, उसका प्रतिबिम्ब सातवें दशक के इन कथाकारो की रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित होता है। एक अजीब-सा हाइब्रिड (दोगला) कल्चर इनमें रूप धरता दिखायी देता है—कुछ अजीब-सा सिनिसिज़्म, अनास्था, अनैतिकता, क्रूरता, दिखावा, सारी पुरानी मान्यताओ को तोड देने का एमेच्योर हठ, अँधेरे में टामकटोये मारने वाले आदमी के असोचे प्रयास, अपनी धुरी से अलग हो कर हवा में घूमने वाले ग्रह की-सी उद्देश्यहीनता—यह सब नये कहानीकारो के यहाँ दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि मैने अपने लेख के शुरू में कहा था, पुराने आदर्शों और आस्थाओ को इन्होने अपने बचपन और किशोरावस्था में नही देखा। इन्होने महात्मा गाँधी के संकेत पर बडे-बडे जमे हुए अफसरों, वकीलों, जजो, धनपतियो को अपना सब-कुछ न्योछावर करते नहीं देखा। एक आदर्श के पीछे खुदीराम बोस और भगतसिंह जैसे नौजवानो को हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ते नही देखा। इन्होने देखा—खादी के कपड़े पहनने वाले नेताओं को झूठ बोलते; रिश्वत लेते-देते और अपने बच्चो को पब्लिक स्कूलो में और विलायत की यूनिवर्सिटियो में भेजते; हकदारों का हक मार कर अपने भाई-

भतीजों को नौकरियाँ देते; आम जनता के किसी साधारण व्यक्ति को किसी बड़े धनपति के मुकाबिले खड़ा करने और चुनावों में जिताने की हिम्मत खो कर, धनपतियो के इशारो पर नाचते; आम नौजवानों को खुशामद करते और मात्र समय-साधकता और अवसरवादिता से काम लेते हुए अपने कैरियर की सीढ़ियाँ चढते—और इस दुश्चक्र में अपनी मेधा, अपने प्यार, अपने आदर्शों को खो कर कुंठित होते—और चूँकि गीता और उपनिषदों के जीवनोपयोगी सिद्धान्तों से उनका परिचय नही, अथवा है तो वे उनकी सोच का अंग नही बने, इसलिए वह निरपेक्षता उनके यहाँ नही है। अपने 'भोगे' अथवा 'झेले' और (चाहे पश्चिम से उधार लिये गये सही) 'सोचे' को कागज़ पर उँडेल देने की दुर्दमनीय व्यग्रता उनके यहाँ हैं। और इन सभी कारणों से उनकी सम्वेदना पुराने सभी कथाकारों से कुछ अजीब-से विकुंचित रूप में भिन्न हो गयी है। मै अपनी बात के प्रमाण में दसियो मिसालें दे सकता हूँ, पर लेख बहुत लम्बा हो जायगा, इसलिए केवल एक मिसाल दे कर ही आगे बढ़ जाऊँगा।

तीन-चार साल पहले मैंने विजय चौहान की एक कहानी पढ़ी थी—'मुक्ति!' मुझे उसका हल्का-सा आभास है। उसमें नायक अपनी माँ के प्रति एक वितृष्णा-भरी उदासीनता को अपने अन्दर पालने लगता है और मन मे सोचता है कि अगर उसका अन्त हो जाय तो अच्छा है। यह बात उसकी सोच में आ जाती है तो वह एक दिन उसकी हत्या कर देता है।....किसी पुराने अथवा बीच के लेखक के लिए सम्वेदना का यह रूप भयंकर और बीभत्स हो सकता है, और मैं नहीं सोचता कि मेरा परिचित कोई भी पुराना या बीच का लेखक ऐसी कहानी लिख सकता था। लेकिन इस वक्त संसार भर में कोई ऐसा महान व्यक्ति नही है जो नौजवानों की श्रद्धा जगाये। साम्यवादी देशों में आपस के गाली-गलौज ने संसार भर के आदर्शवादियों की आस्था को काफी चोट पहुँचायी है। साम्राज्यवादी देशो के ताजिरों ने अपने स्वार्थों के लिए उस सब को बढ़ावा दे रखा है जो मानव की कुप्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखता है। अमरीका में हर वर्ष सबसे ज़्यादा बिकने वाली पुस्तकें प्रेम और सेक्स और उसकी विकृतियों (एब्रेशन्ज) के फ़ार्मूलों से भरी रहती हैं। एटम बम और युद्ध के आसन्न संकट ने क्षण-भोगी सिद्धान्तों को बेतरह प्रश्रय दिया है। इधर देश के स्वार्थों और टुच्चे नेताओं तथा भ्रष्ट अध्यापको में विश्वास उठ जाने से आम बुजुर्गों के प्रति भी नौजवानो की आस्था डगमगा गयी है। इस सब का प्रभाव माता-पिता के प्रति आदर पर भी पड़ा है और उनके प्रति यह वितृष्णा (चाहे सोच में ही क्यों न हो) और

उसका प्रतिबिम्ब सातवें दशक के कथाकारों में मिलता है। केवल विजय चौहान ही मे नही, इसका एक तार अन्य कहानीकारो में भी स्पष्ट दिखायी देता है। ज्ञानरंजन की कहानी 'सम्बन्ध' की यह पंक्तियाँ देखिए :

'आप यह भी देखिए कि समय मानवीय सम्बन्धों के सिलसिले में किस तरह से काम करता है। एक लम्बे समय तक जो मेरे लिए केवल माँ थी, अब कभी-कभी ही माँ लगती है या माँ का भ्रम ! बल्कि कभी-कभी अब ऐसा हो जाता है, न चाहते हुए भी जबड़े दब गये हैं और अन्दर से एक-दो शब्द हिचकिचाती हुई खामोशी के साथ निकल जाते हैं, 'यू वूमैन' ! (ध्वनि : गेट आउट फ्राम माई लाइफ ।')

दूधनाथ की 'रक्तपात' मे यद्यपि माँ के प्रति इस तरह की वितृष्णा तो नही है, लेकिन माँ जैसी नारी की हत्या का सन्दर्भ (कारण कुछ भी क्यो न हो) ऐसा ही है। (ज़िन्दगी में नौजवान बेटे अपनी माँओ की हत्या न करते हो, ऐसी बात नही है। देहात मे प्रायः ज़मीन-ज़ायदाद को ले कर भाइयो-भाइयों में झगड़ा होता है तो एक अथवा दूसरे भाई का पक्ष लेने के कारण माता अथवा पिता क्रोध का शिकार हो जाते हैं : शहरी जिन्दगी में ऐसा कम होता है। लेकिन अभी पिछले ही दिनो दिल्ली में म्युनिसिपल कमेटी मे काम करने वाले दो क्लर्क भाइयो ने अपनी माँ, बहन, बहनोई तथा उनके बच्चो की हत्या कर दी— वैसा क्रोध और सम्वेदना का ज्वार नये लेखको मे नही है। **माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों के प्रति यह वितृष्णा बौद्धिक है और अधिकांशतः सोच के स्तर पर है,** भले ही 'मुक्ति' जैसी कहानी में उस सोच को कामू के कैलीगुला की तरह नायक अमली जामा भी पहना दे।

ज़िन्दगी के प्रति विष्तृष्णा, ऊब, उसे एकदम निरर्थक मानने का हठ, एक-के-बाद एक नयी कहानियो में परिलक्षित होता है। अज्ञेय की 'जीवनी-शक्ति' हो अथवा अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोक' दोनो में दुर्दम जिजीविषा का प्रदर्शन है। आप अज्ञेय की 'जीवनी-शक्ति का नाम 'ज़िन्दगी और जोक' रख सकते हैं और अमरकान्त की 'ज़िन्दगी और जोक' का नाम 'जीवनी-शक्ति'। जिजीविषा के प्रति वितृष्णा भी सातवें दशक के कथाकारों की सम्वेदना में प्रकट होती है।....बहुत पहले मैंने विजय चौहान की एक कहानी पढी थी। कही उसका उल्लेख भी किया था। उसमें नायक अपने कमरे में बैठा सिगरेट पी रहा है और उसकी खिड़की के सामने दूसरे मकानो की बत्तियाँ हैं और वह सोचता है कि उन सबमें अपनी-अपनी तरह की खुशी है। फिर वह सोचता है कि क्या

इनमे से वह भी किसी तरह की खुशी का अंग हो सकता है ? तभी वह छत पर एक तिलचिट्टे को देखता है । दूसरे क्षण वह गुबरैला फर्श पर पीठ के बल गिर पड़ता है और विवश हवा मे हाथ-पाँव मारता है । नायक को लगता है कि उसकी स्थिति तिलचिट्टे जैसी है । वह बाहर की खुशियों से कट गया है । और वह छत से लटक जाता है । (हो सकता है कि यह इम्प्रेशन विजय चौहान की एक नही, दो कहानियों से मिल कर मेरे दिमाग में बना हो, पर है उन्ही की कहानियो का ।) जिन्दगी और उसकी खुशियो की व्यर्थता के प्रति यह भाव और आत्म-हत्या को एक सहज स्थिति मान लेना, उसके प्रति किसी तरह के पाप या आश्चर्य या क्रोध को भावना का न होना भी नये कथाकारो की सम्वेदना का एक अंग है । रवीन्द्र कालिया की कहानी 'बड़े शहर का आदमी' के अंत मे एक मित्र दूसरे से कहता है, 'देखो आत्म-हत्या करना हो तो मेरे कमरे मे न करना ।' (याने वह आत्म-हत्या करना चाहता है तो शौक से कर ले, पर उसके कमरे में न करे ।) ज्ञानरंजन की 'सम्बन्ध' का नायक अपने सगे भाई की आत्म-हत्या के बारे में बड़ी निरपेक्षता से सोचता है और उसकी प्रतीक्षा करता है, 'हे ईश्वर, यदि वह मर गया,' वह सोचता है, 'तो सब कुछ कितना सुखद और ढीला हो जायगा ।'

सातवें दशक के कथाकारो की सम्वेदना में यदि अनुभूति के स्तर पर उतना नही तो सोच के स्तर पर महान अंतर आया है (क्योकि वे सचमुच अपने माता-पिता, बहन-भाइयो से इतनी नफरत करते हो, ऐसी बात नही) सुरेश सिन्हा ने अपनी कहानी 'मृत्यु और' में पिता के मरने के बाद रोने लगने तथा क्रिया-कर्म के बारे मे जो वितृष्णा प्रकट की है—वह बौद्धिक स्तर पर ही है, लेकिन कौन जानता है कि यह अंतर कुछ लेखको की अनुभूतियो मे भी नही आ रहा, या नही आयेगा । हमारी राजनीतिक और सामाजिक जिन्दगी जैसी भ्रष्ट है, इस परिवर्तन को रोका नही जा सकता ।

सम्वेदना की यह भिन्नता तीसरी विभाजन-रेखा है, जो सातवें दशक के कथाकारो को अपने पूर्ववर्तियो से भिन्न करती है ।

दृष्टि

इस दशक के कथाकारो की सम्वेदना मे ही नही, दृष्टि में भी एक स्पष्ट अंतर दिखायी देता है। प्राचीन काल के रचनाकारो की दृष्टि सत्य, शिव और सुन्दर की ओर रही है। इसी एक दृष्टि के दो कोण प्रेमचन्द और प्रसाद के समय से हिन्दी के कथा-क्षेत्र में दिखायी देते रहे हैं—एक सुन्दर का और दूसरा शिव का। प्रेमचन्द कला की सोद्देश्यता और समाजपरकता में ज्यादा विश्वास रखते थे, जबकि प्रसाद कला के आदर्शमय सौंदर्य मे। सत्य के प्रति दोनो की दष्टि इसीलिए (इन्ही दो कारणो से) धुंधली थी। फिर जब १६३६ में 'नयी कहानी' का पहला आन्दोलन शुरू हुआ तो सत्य की कटुता और यथार्थता की वात भी सामने आयी और काफी वेवाकी से आयी—ऐसी कहानियाँ लिखी गयी, जिन्हें लिखने की वात प्रेमचन्द्र या प्रसाद सोच भी नही सकते थे (जैनेन्द्र की 'एक रात,' 'ग्रामोफोन का रिकार्ड,' मंटो की 'खुशिया,' 'हतक,' 'काली शलवार' और 'धुआँ,' इस्मत की 'लिहाफ' आदि)। लेकिन जल्द ही आज़ादी की लड़ाई और उसके दौरान प्रगतिशील आन्दोलन ने उस दृष्टि को फिर धुंधला दिया और यथार्थता पर सामाजिकता और सोद्देश्यता का पानी चढ गया। तभी यथार्थता के समाजपरक पहलू अथवा सामाजिक यथार्थ की वात वडे ज़ोरों से कही जाने लगी और बेगिनती सोद्देश्य कहानियाँ लिखी गयी। यथार्थता पर सोद्देश्यता यानी शिव का रंग चढा और कई बार कला की कीमत पर ऐसा हुआ। (नंगा यथार्थ किस हद तक ग्राह्य है, किस सीमा तक लेखक की दृष्टि के दायरे मे आता है या आना चाहिए और उसकी क्या उपयोगिता है? इन महत्वपूर्ण प्रश्नो में न जा कर, जो हुआ है, मैं उसी की बात ही करूंगा।) १६५६ तक इस सोद्देश्य धारा का लगभग एकछत्र साम्राज्य रहा। अज्ञेय, सर्वेश्वर, रघुवीरसहाय, अथवा नरेश मेहता के माध्यम से यदि व्यक्तिवादी कलावादी भिन्न स्वर कुछ मुखर भी हुए तो उनका कोई विशेष प्रभाव मुख्य कहानी धारा पर नही पड़ा—राकेश, यादव, अमरकान्त, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, वैद, भीष्म साहनी, रेणु, भारती, कृष्णा सोवती, ऊषा प्रियम्वदा, मन्नू भण्डारी, इन सब की दृष्टि, कही खुले तौर पर, कहीं कनखियों से, सोद्देश्यता पर लगी रही।

सत्य को देखने की ये दोनो दृष्टियाँ सातवें दशक के कथाकारो के यहाँ भिन्न हो गयी है। इस दशक के कथाकार की दृष्टि न शिव पर उतनी है, न

सुन्दर पर। वह प्रमुखतः सत्य पर है। बे-धुँधलाये, कटु, क्रूर और निर्मम सत्य पर! यह ठीक है कि यहाँ भी अच्छे कथाकार उस सत्य को कला के माध्यम से ही व्यक्त करना चाहते हैं, पर उनकी निर्ममता कहीं ज्यादा क्रूर और दुर्वार है। दृष्टि की यह निर्ममता और विभिन्नता जितनी आपसी सम्बन्धों के चित्रण मे व्यक्त हुई है, उतनी राजनीतिक और सामाजिक सम्बन्धों के चित्रण मे नही। इस वस्तुस्थिति के कारण एक ओर रोज़ी-रोटी की समस्या तथा दूसरी ओर राजनीति, साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में 'एस्टेब्लिशमेंट' के—यानेज़बर्दस्त गुटवंदियों के—भय से जुडे है, लेकिन मै उन कारणों मे अभी नही जाऊँगा, क्योकि यह खोजबीन, कानूनी शब्दावली का सहारा लूँ तो कहूँ, कि मेरी 'टर्म्स आफ रेफ़्रेंस' से बाहर है। मेरे लिए इस बात का संकेत करना ही यथेष्ट है कि सातवें दशक के लेखको की दृष्टि सत्य की ओर उतनी 'टिल्ट' करगयी है—झुक गयी है—जितनी पहले कभी नहीं की। व्यक्तिगत और घरेलू सम्बन्धों में सत्य को उसकी तमाम मिलावटहीन (अन-एडल्टरेटेड) भयावहता के साथ, क्रूरता की पहुँची हुई निरपेक्षता के साथ, जिस तरह सातवें दशक के कथाकार सामने ला रहे है, वैसे पहले के कथाकार नही ला सके। उनमें साहस नही था, ऐसा मै नहीं कहूँगा। उनके पास वह दृष्टि नही थी। यह सब देख कर भी वे अनदेखा कर जाते थे। सातवें दशक का कथाकार वैसा नही कर पाता। वह अनुभव को किसी मिलावट के बिना पाठकों के सामने प्रस्तुत करना चाहता है। विजय चौहान की कहानी 'मुक्ति' मे ये पंक्तियाँ देखिए :

'प्रकाश बिस्तर पर पड़ा आँखें फाड़े छत की ओर देखता रहा। नही, माँ के मरने के बाद यह सब याद नहीं आयेगा। उसके पहले जितनी भी मीठी यादें हैं वे मर जायेंगी। इस बूढ़ी स्त्री से मेरी माँ का कोई सम्बन्ध नही। यह उन स्मृतियों की हत्या कर के मरेगी।'

काशीनाथ सिंह की कहानी 'आखिरी रात' में पति-पत्नी के बीच प्रेम-प्रसंग जब यथार्थ के झटके से टूटता है तो पति सोचता है :

'यदि यह प्रश्न अभी कुछ समय के लिए टल गया होता (मेरे भीतर जाने कब से यह बात उठ रही है) और मैं पत्नी को पूरी तरह प्यार कर सका होता ...कुछ क्षण पहले की तरह और बीत गये होते...

'किन्तु नये सिरे से सोचता हूँ तो लगता है कि हमारी रात का अंत जब हुआ होता—जैसे भी होता—वह कुछ इसी तरह का रहा होता। बल्कि इससे बेहतर तो शायद नहीं ही होता।'

और सम्बन्धो के इस सत्य पर दृष्टि की यह निर्मम टार्च-लाइट महेन्द्र भल्ला की 'एक पति के नोट्स' तथा 'सही बटा' में, गंगाप्रसाद विमल की 'उसका मरना' में, गिरिराजकिशोर की 'रिश्ता' और 'चूहे' मे, रवीन्द्र कालिया की 'वडे शहर का आदमी' और 'नौ वर्ष छोटी पत्नी' मे, ज्ञानरंजन की 'पिता' 'शेष होते हुए' तथा 'सम्बन्ध' में, भीमसेन त्यागी की 'एक और विदाई' मे तथा दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात' और 'आईसवर्ग' में स्पष्टत. दिखायी दे जायगी ।

इस सन्दर्भ मे दूधनाथ सिंह की कहानी 'रीछ' को मै विशेष रूप से डिस्कस करना चाहूँगा । दूधनाथ को, और फिर उनकी कहानी 'रीछ' को, इसलिए कि मेरे खयाल मे सातवें दशक के कथाकारों में दूधनाथ पुरानों के अधिकांश गुण अपनी रचनाओ में समो देते हैं । 'रीछ' की भाषा वडी परिष्कृत है । एक-एक शब्द और एक-एक वाक्य पर लगता है कि श्रम किया गया है । कहानी पेचीदा भी है और गहरी भी । उसमें स्तर-दर-स्तर परतें और गहराइयाँ है । फिर प्रतीक भी पुरानों को ही तरह कहानी में बुना गया है और पच्चीकारी और विनावट का ढंग ऐसा है जिसे क्लासिक कहा जा सके । तब कोई पूछ सकता है कि ऐसा लेखक पुरानों से भिन्न कहाँ है ? मेरा निवेदन है कि 'दृष्टि' में—सत्य के प्रति इसी निर्मम आग्रह में । 'रीछ' इस दृष्टि से ज्ञानरजन के 'सम्बन्ध' की तरह इस दशक की महत्वपूर्ण (सिगनीफ़िकेंट) रचना है ।

मुझे इस कहानी को पढ़ते हुए इसकी पच्चीकारी के कारण राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' का ध्यान आया । 'प्रतीक्षा' भी बड़ी चतुराई और चाबुकदस्ती से विनी हुई कहानी है । लेकिन दुर्भाग्य से वह बनी हुई होने के कारण कही भी मन को नही छूती । कहूँ कि हाड़-माँस की नही लगती । उसके तमाम समलैंगिक यौनाचार के वावजूद उसे दोवारा पढ़ने की कभी इच्छा नहीं हुई । उसे पढ़ कर लगा कि लेखक ने इसे लिख कर समकालीनो को वताना चाहा है—'मै भी ऐसी कहानी लिख सकता हूँ ।' जव कि दूधनाथ सिंह की कहानी, यह लेख लिखते समय, जब मैंने दोवारा पढ़ी तो मुझे पहले से अच्छी लगी । एक पति अपने पहले प्यार (यौन सम्बन्ध) का किस्सा अपनी पत्नी को वता कर अपनी पुरानी स्मृतियो से मुक्त हो नार्मल हो जाना चाहता है । लेकिन पत्नी ऐसा नही होने देती । और पुरानी स्मृति की यंत्रणा, जिसे दूधनाथ ने 'रीछ' के प्रतीक से उजागार किया है, आखिरकार उसे स्वयं रीछ (पशु) वना देती है—थीम तो इस कहानी की इतनी ही है और इसमें कोई नयापन नही । और जैसा कि मैंने

कहा, नयापन इसकी भाषा या पच्चीकारी या बिनावट मे भी नही, नयापन और कहूँ कि स्पष्ट विभाजन-रेखा पति-पत्नी के सम्बन्धो के सत्य की भयावहता को एकदम नंगा कर के रख देने में है। यह विचार कि विवाह के कुछ अर्से बाद हर पति पशु हो जाता है, सत्य होते हुए भी कँपा देता है। मेरे सामने 'नयी कहानियाँ' का मई, १९६६ का अंक है और उसमे कई हिस्से हैं, जो उस सम्बन्ध के भयानक सत्य को अत्यन्त निर्ममता से स्पष्ट कर देते है :'

'तब वह चिड़चिड़ा कर उठता और जल्दी ख़त्म कर देता। ख़त्म होने के बाद तुरन्त ही लगता कि वह एक मरी हुई चीज़ के पास लेटा है।'

(पृष्ठ ६)

'कि उसे (रीछ को) इस तरह बार-बार लौटा लाने में उसी का (पत्नी का) हाथ है। कि वह असल में क्या कर रही है ? कि वह किस तरह स्वयं ही अपने हाथों से उसे खो रही है ? दूसरी शक्ल में गढ़ रही है। कि वह स्वयं ही उसे उठा कर दूर फेंक रही है।'

(पृष्ठ १२)

और कैसी 'क्रूडिटी' से (फूहडता से) वह ऐसा करती है, इसका अत्यन्त कलापूर्ण, लेकिन भयानक चित्रण, दूधनाथ सिंह ने किया है। पैरा लम्बा है, लेकिन चूंकि यही पैरा है जो इसे तमाम पुरानी कहानियों से भिन्न कर देता है, इसलिए मैं इसमें से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ :

'वह उसे तरह-तरह से छेड़ती, टीज़ करती और खोद-खोद कर, प्राचीन-तम टूटी-फूटी धड़ वाली, बदरूप मूर्तियाँ और छिपे शिला-लेख बाहर निकालना चाहती। कुछ न मिलता तो वह मिट्टी ही उठा लेती या टूटी ईंट या कोई घिसा हुआ पत्थर...और उसी को पढ़ने का प्रयास करती। या अपने ढंग से उसकी व्याख्या करती और कहानियाँ गढ़ती या अपने निर्णयों से उसे लगातार टुकड़े-टुकड़े कर के चलती...'अगर मैंने जान लिया कि ऐसा कुछ भी तुमने किया था तो मै तुम्हें दिखा दूँगी। तुम कल्पना भी नहीं कर सकते।... हाँ ! कि मैं क्या कर सकती हूँ। मैं एक क्षण में तुम्हारी वह पवित्रता-अपवित्रता की रट तोड़ दूँगी। मै किसी फूहड़, नाकारा आदमी के साथ...तुम जल कर राख हो जाओगे। मै तुम्हारी मूर्ति वह अन्दर की मूर्ति—पलट कर चूर-चूर कर दूँगी...कुछ नहीं, मै समझ गयी, तुम्हें क्या पसन्द है...भारी-भारी नितम्ब...कितने गन्दे होते हो तुम लोग...हमेशा पीछे ही से पसन्द करते हो। 'हाँ, चेहरा तो ठीक-ठाक है, पर पीछे से बेकार है।'

क्या पीछे से खाओगे ? हाँ, तुम लोग खाते ही हो। तो क्यों नही ढूँढ़ ली कोई विकट-नितम्बा...'

'वह उसे चूमने का प्रयास करता। उसके बाद उसके बोलने का लहजा बदल जाता।—'क्या कभी तुम्हें इतना सुख मिला है ? क्या तुम इस तरह किसी के साथ...ठीक इसी तरह...? 'छि':...हाँ, हाँ, मेरे तो छोटे-छोटे हैं... उसके कितने बड़े थे ? बीच में जगह थी या दोनों मिल गये थे ? इसीलिए तुम यहाँ नही चूमते...'

'थोड़ी देर बाद वह 'शुरू' कर देता। वह इस तरह मान जाती जैसे कुछ भी न हुआ हो। लेकिन वह हर क्षण दहशत से भरा रहता। न जाने कब...अगले किसी क्षण टोक दे...उसकी उँगलियाँ काँपने लगतीं। वह सम्वादों की कल्पना करने लगता...जैसे वह अभी पूछेगी, उसकी जाँघें कैसी थीं ? एकदम चिकनी। तभी तो...वह अपनी थरथराती उँगलियाँ रोक लेता। लगता, उसकी जाँघों में हज़ारों सुनहरे तीर अँखुआ रहे है...'

लेकिन यह कहानी का एक पक्ष है। इसका दूसरा और भी भयानक पक्ष वह जब नायक अपनी उस दूसरी प्रेमिका के साथ किये जाने वाले सहवास की याद करता है। उसे याद आते है प्रेमिका के ये शब्द :

'जानते हो, उनके साथ कैसा लगता है ? जैसे कोई रीछ मेरे ऊपर झूम रहा हो...साँस बदबू करती है। ना, पायरिया नहीं। पहले गोमती में दिन-दिन भर तैरा करते थे। हर वक्त जुकाम बना रहता था। पीला-पीला कफ़ निकलता है...हज़रतगंज में कोई औरत देखी, पीछे-पीछे घूमते हुए दो-चार चक्कर लगाये। लौट कर दो-चार कपड़े लिये और स्टेशन भागे...ग्यारह बजे उतरे और आते ही नोचना शुरू...'

और कहानी का नायक जब स्वयं अपने आप को अपनी प्रेयसी के पति की तरह रीछ बनते देखता है—रीछ—पशु (जो कि अधिकांश पति शादी के कुछ वर्ष बाद बन जाते है) तो कहानी का भयानक सत्य पाठक को (यदि वह कहानी समझ पाता है तो) बेतरह झकझोर देता है। दृष्टि की यह 'टिल्टिंग,' चौथी विभाजन-रेखा है, जो सातवें दशक के लेखको को पुरानो से भिन्न करती है।

कहानियाँ

सातवें दशक के लिए समर्पित 'अणिमा' के इस विशेपांक के लिए आयी हुई तेइस कहानियो की फ़ाइल मेरे सामने है। मै सब कहानियाँ देख भी गया हूँ। कुछ को मैंने यह लेख लिखते समय दोवारा पढा है और कुछ, वावजूद कोशिश के मै पढ़ नही पाया। इन कहानियो को देख कर मेरे मन में वही खयाल आता है, जो 'धर्मयुग' के 'कथा-दशक' के अन्तर्गत छपी कहानियो को पढ़ कर आया था—यही कि ऐसे आयोजन कुछ कथाकारो की कब्रें सावित होते है। 'धर्मयुग' के उस आयोजन के साथ ही कई बीच के कथाकार खत्म हो गए। यहाँ भी अधिकाश कथाकारों ने अपनी वेहतरीन रचनाएँ नही भेजी। इसमें न उनका दोप है, न सम्पादक-अणिमा का। कथाकार के नाते अपनी गत चालीस वर्ष की ज़िन्दगी में मुझे याद नही आता कि दो-तीन वार को छोड़ कर मैंने किसी विशेपांक के लिए कोई कहानी भेजी हो। होता यह है कि जव कोई वहुत अच्छी कहानी लिखी जाती है तो कोई विशेषांक नही निकल रहा होता, और जव कोई विशेपाक निकल रहा होता तो अच्छी कहानी पास में नही होती। इसी कारण व्यक्तिगत रूप से मै विशेपांक के लिए लिखने का क़ायल नही हूँ। विशेषांकों के लिए तभी लिखना चाहिए जव मन मे किसी कहानी का खयाल पूरी तरह पका हो और कहानी जल्दी में लिखी जा सके। खयाल पका न हो तो केवल विशेपाक में छपने की उत्कण्ठा से, मन पर ज़ोर दे कर, कभी कहानी न लिखनी चाहिए।

लेकिन नये लेखको के लिए विशेपाक में छपना महत्व भी रखता है और विशेपाक में छपने का मोह सम्वरण करना उनके लिए कठिन भी होता है। इस स्थिति में उन्हें चाहिए कि जव कोई अच्छी कहानी लिखी जाय तो उसे तत्काल छपने न भेजें। सहेज कर रख लें, और दो-चार महीने वाद जव कोई विशेपाक छपे तो एक वार उसे फिर देख कर, उसकी त्रुटियाँ दूर कर के (जो कहानी लिखते समय तत्काल दिखायी नही देती) उसमें उसे भेज दें। कहानी जम जायगी और लेखक को लाभ होगा। विशेपांक ही में क्यों न हों, वे-मन की लिखी कहानी लेखक को कोई लाभ नही पहुँचाती, वल्कि उसकी अक्षमता का भण्डा ऐन चौराहे मे फोड़ती है।....अपने में विश्वास रखने वाला लेखक इस वात की कभी परवा नही करता कि उसकी कहानी किसी विशेपांक में छपती है या नही। प्रस्तुत विशेपाक की कहानियो में से मुझे अधिकाश उच्च

कोटि की नही लगी, तो भी इस दशक के प्रमुख लेखकों मे से अधिकांश की कहानियाँ साधारणतया अच्छी है और उनका अपना रंग उनमें झलकता है। कुछ की अच्छी है और दो-एक बहुत अच्छी। मैंने ऊपर जिन विभाजन-रेखाओ का उल्लेख किया है, वे भी इन कहानियों में स्पष्टतः दिखायी देती है।

विजय चौहान, महेन्द्र भल्ला, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह, गिरिराज-किशोर, भीमसेन त्यागी, अनीता औलक, आलोक शर्मा और से० रा० यात्री की कहानियाँ मुझे अपेक्षाकृत अच्छी लगी हैं। प्रबोधकुमार, ज्ञानरंजन और कालिया की कहानियाँ यद्यपि उनकी शैली के गुण अपने मे लिये हुए है, पर वे उतनी अच्छी नही, जितनी अच्छी कहानियो की उनसे अपेक्षा थी। शेष मे कुछ कहानियों के आधारभूत विचार अच्छे है, लेकिन लेखक उन्हे सफलता से निभा नहीं पाये और बाकी कहानियाँ भरती की है। उनकी जगह बेहतर होता कि दूसरे लेखको की रचनाएँ ली जाती, जिनका अभाव विशेषाक में खटकता है। पिछले दिनो मैंने किसी नयी लेखिका कुंकुम जोशी की कहानी 'सुअर' धर्मयुग में पढ़ी[1]। वह कहानी बहुत अच्छी थी। सोमा वीरा की भी कई अच्छी कहानियाँ पढ़ी है। हिमाशु जोशी, मेहरुन्निसा परवेज़, नरेन्द्र कोहली सुरेश सिन्हा की भी कुछ कहानियाँ मैंने पढ़ी है, जो प्रस्तुत विशेषाक की कुछ भरतो की कहानियों से बेहतर है। सचेतनो का प्रतिनिधित्व करना ज़रूरी था तो वह काम मनहर की अपेक्षा महीप सिंह और सुखबीर मेरे ख़याल में बेहतर कर सकते थे, पर कौन कह सकता है कि विशेषांक में लिखते वक्त ये सब लोग अपनी कमज़ोर कहानी न भेज देते !

यद्यपि लेख लम्बा हो गया है, तो भी चूँकि मेरे पास ये कहानियाँ भेजी गयी है, मैंने उन्हें ध्यान से पढ़ा है, इसलिए मै इनके बारे में विस्तार से अपनी बात कहूँगा। और इनके बहाने सातवें दशक के इन लेखको का जायज़ा ले लूँगा।

०

विजय चौहान—मेरे ख़याल में सातवें दशक के कथाकारों की पहली खेप के प्रमुख कथाकार है। ऊपर मैंने जो पहली विभाजन-रेखा खींची है, वह उनकी,

---

१. इस लेख के प्रेस में जाते-जाते मैंने एक और नयी लेखिका मंजु सिन्हा की कहानी 'छछुन्दर' भी धर्मयुग में पढ़ी है, जो कुंकुम जोशी ही की तरह एक बच्ची के मनोविज्ञान का बड़ा सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है।

प्रबोधकुमार और प्रयाग शुक्ल की कहानियों से पूरी तरह उजागर होती है। मुझे याद आता है, बहुत वर्ष पहले मैंने उनकी कहानी पढी थी और नामवर के उत्तर मे लिखे गये एक लेख में उसका उल्लेख भी किया था। जहाँ तक मेरी स्मृति काम करती है, १९५५-५६ के करीब वे लिखने लगे। विजय चौहान लम्बी कहानी नही लिखते। छोटे-छोटे चुस्त वाक्य, पत्रिका के तीन-चार पृष्ठों की कहानी, और इतने में ही वे काफ़ी गहरी बात कह जाते हैं। उनकी कई पहले की कहानियों के इम्प्रेशन मेरे दिमाग में सुरक्षित हैं, यद्यपि सब के नाम याद नही। '६१-६२ की 'कहानी' (इलाहाबाद) मे उनकी दो कहानियाँ 'घोड़ा' और 'माँ' छपी थी। इनमें 'घोडा' बहुत अच्छी कहानी थी और उसमे विजय ने निहायत नाजुक थीम को उतनी ही नज़ाकत से प्रस्तुत किया था। पहले उनकी कहानियो के पात्र और वातावरण भारतीय होते थे, पर जब से वे विलायत हो आये है, प्रायः उनकी कहानियाँ पश्चिमी वातावरण और वही की थीम्ज को ले कर लिखी जा रही हैं। 'अणिमा' के किसी पिछले अंक मे छपी 'गवाह' और इस अंक की 'रिहाई' मेरी बात का प्रमाण है। दोनो कहानियाँ उच्च कोटि की है। 'रिहाई' में उन्होंने बताना चाहा है कि एक कातिल की भी प्राइवेसी होती है। और कई बार भीड़ मे—ऐसे लोगो में, जो नितान्त सामान्य है, या जो कुछ भी नही है—घिर जाने से उसके लिए जेल जाना मुक्ति के वरावर हो जाता है। बात हमेशा चौहान संकेत मे कहते हैं और अब भी उन्होने ऐसा ही किया है। विजय चौहान भोगी या झेली हुई मिलावटहीन बात नहीं कहते, सोची हुई बात निर्भीक रूप से रखते हैं।

प्रबोधकुमार—भी विजय के साथ ही लिखने वालो में है। मैंने उनकी ज़्यादा कहानियाँ नही पढी, यद्यपि जो पढ़ी है, उनमें से 'आखेट' उनकी कला का प्रतिनिधित्व करती है। उनके साथ लिखने वाले गुणेन्द्र सिंह कम्पानी (जिनकी कहानी 'छाया') और अक्षोमयेश्वरी प्रताप (जिनकी कहानी 'सीलन' मुझे अच्छी लगी थी) न जाने कहाँ खो गये, क्योकि इधर वहुत दिनो से उनकी कोई कहानी पढने को नही मिली।

प्रयाग शुक्ल—ने रोजमर्रा जिन्दगी की छोटी-छोटी घटनाओ पर वहुत-सी कहानियाँ लिखी है। प्रस्तुत विशेपाक में संकलित 'पड़ाव' एक अच्छी स्टडी

है, लेकिन मैंने महसूस किया है कि इधर उनकी कहानियाँ काफी एकरस होती जा रही है....उन्हें अपनी शैली को बदलना चाहिए।

महेन्द्र भल्ला—मुझे बहुत ही 'टिकल' करने वाले (गुदगुदाने वाले) लेखक लगते है। मन्नू भंडारी की कहानियो की तरह उनकी कहानी भी पढ़ जाओ; अच्छी लगती है, फिर भूल जाती है; फिर पढ़ो, फिर अच्छी लगती है, लेकिन फिर भूल जाती है। तो भी उनकी कहानी 'कुत्तेगोरी' की मुझे आज भी याद है, जो शायद 'नयी कहानियाँ' के फरवरी-मार्च अंक मे छपी थी।....महेन्द्र भल्ला 'माइल्ड फ़्लर्टेशन' के कथाकार है, और उनकी कहानियों में कुछ अजीब-सी लोलुपता है, इतना भर इम्प्रेशन उनका मन पर रह जाता है। इस सिलसिले मे 'कहानी' (इलाहाबाद) के अगस्त '६२ के अंक मे छपी उनकी कहानी 'डुबकी' का मै खास तौर से उल्लेख करूँगा। हो सकता है कि जैसा वे भोग रहे हो, वैसा ही वे लिख रहे हो, लेकिन अपने भोगे हुए को यथावत लिख देना किसी अच्छे कलाकार के लिए कोई बहुत अच्छी बात नहीं। ऊँचा कलाकार अपने भोगे हुए को जिस दृष्टि से अभिव्यक्त करता है, और उस अभिव्यक्ति के माध्यम से वह जो कहना चाहता है, यदि वह महत्व का नही होता तो कहानी यादगार कहानी नही बनती। इधर 'नयी कहानियाँ' के नवम्बर अंक मे उनकी जो कहानी 'धातु' छपी है, वह उस माइल्ड फ्लर्टेशन और लोलुपता के बावजूद किंचित गहरी बात कहती है। इस पर भी मुझे यह कहने में संकोच नही कि महेन्द्र भल्ला सशक्त कथाकार है, उन्हें अपनी भाषा और अभिव्यक्ति पर अधिकार है। उनके यहाँ गहराई की किंचित कमी है, लेकिन आशा है कि वह भी उनके यहाँ आ जायगी। 'सही बटा' में उनकी कला के सारे गुण मौजूद है, और दोष भी। इतनी-सी बात मुझे गलत लगती है कि एक ब्लैक-मारकेटियर की पढ़ी-लिखी बीवी, एक बच्ची की माँ बन जाने के बावजूद, इतनी भोली है कि 'काले पैसे' का मतलब नही समझती और भरी पार्टी मे (अपने पति के खिलाफ उसके क्रोध का कारण कुछ भी क्यो न हो) यह प्रश्न पूछती है कि काला पैसा क्या बला है... कॉलेज में उसका 'निक-नेम' आदर्शवती था, केवल इस सूचना से यह प्रश्न सम्भाव्य (प्रोबेबल) नही बन जाता। इस एक बात के अलावा शेष सारी कहानी मुझे अच्छी लगी—जितनी कि महेन्द्र भल्ला की अन्य कहानियाँ मुझे अच्छी लगी है।

काशीनाथ सिंह—की बहुत कहानियाँ मैंने नही पढ़ी। 'अपने लोग' मुझे अच्छी लगी। यदि इसमे एक दोष न होता तो मैं निःसंकोच कहता कि कहानी बहुत अच्छी है। चपरासी भाषा तो अपनी बोलता है, लेकिन बात अपनी नही कहता, लेखक की कहता है। याने इन्टेलेक्चुअल! और इतनी-सी बात उसके चरित्र को किंचित असम्भाव्य बना देती है। लेकिन यह कुछ वैसा ही दोष है जैसा मंटो की प्रसिद्ध कहानी 'खुशिया' मे। तो भी बात कहने का ढंग काशीनाथ का अपना है और उन्होने बारीक बात कही है और जोरदार ढंग से कही है। इस विशेषाक की कहानियों में 'अपने लोग' महत्वपूर्ण रचना है। भाषा में कुछ 'अनगढ' प्रयोग उनके यहाँ है—कुछ ऐसे देहाती शब्द, जिनके अर्थ मेरे खयाल में, फुटनोट मे होने चाहिए थे। काशीनाथ यदि हिन्दी-कथा-साहित्य पर अपना कुछ प्रभाव छोड़ना चाहते है तो उन्हें अपनी भाषा को माँजना होगा। रूखड वे उसे शौक से बनायें, तो भी उसे माँजें और सँवारें और इस बात का खयाल रखें कि हिन्दी उत्तर प्रदेश मे ही नही, आन्ध्र, केरल, बंगाल, तामिलनाड और महाराष्ट्र-गुजरात में भी पढी जाती है।

गिरिराज किशोर—को मैं सातवें दशक के कथाकारो मे महत्वपूर्ण मानता हूँ। वे नये कितने है और पुराने कितने? इस बहस मे नहीं पड़ूँगा। उन्होने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी है, जिनमें 'पेपर वेट,' 'नया चश्मा,' 'निमंत्रण,' 'चूहे,' 'गाउन' (जो इसी महीने की 'नयी कहानियाँ' में छपी है।) मुझे अच्छी लगी है। इन पाँचो मे भी पहली तीन मुझे इसलिए बहुत अच्छी लगती हैं कि उस क्षेत्र की यथार्थता को पकड़ने और उसका उद्घाटन करने वाले सातवें दशक के कथाकारो मे गिरिराज अकेले है। इन कहानियों के मुकाबिले में 'रिश्ता' मुझे किंचित कमजोर दिखायी देती है। मेरे खयाल में सेक्स गिरिराज का क्षेत्र नही, उनका क्षेत्र राजनीति है। राजनीति से मेरा यह मतलब नही कि वे स्वयं राजनीति मे भाग लेते हैं, बल्कि यह कि उनका बचपन और उनकी किशोरावस्था राजनीतिज्ञों में गुज़री है और उस ज़िन्दगी को वे पूरी सफलता से अपनी रचनाओ मे चित्रित कर सकते हैं—इस तरह कि उनका कोई समकालीन नही कर सकता। 'पेपर वेट' और 'नया चश्मा' मेरी बात का प्रमाण हैं। इसी दृष्टि से उनका पहला उपन्यास 'लोग' अपनी चन्द-एक खामियो के बावजूद, एक महत्वपूर्ण रचना है।

भीमसेन त्यागी—सातवें दशक के ऐसे कथाकार हैं, जो नयी सम्वेदना और दृष्टिकोण के वावजूद पुरानों के निकट हैं। इधर मैंने उनकी कई कहानियाँ पढ़ी हैं, जो मुझे वहुत अच्छी लगी हैं। 'एक और विदाई' (यदि मैं नाम नही भूल रहा) 'शमशेर' और 'शहर में एक और शहर' उनमें उल्लेखनीय है। यथार्थ पर भीमसेन त्यागी की ज़बरदस्त पकड़ है। फिर, जैसे रेणु आंचलिक भाषा का प्रयोग लाभकर ढंग से करते हैं, इसी तरह त्यागी मेरठ, मुजफ़्फ़रनगर के आसपास की वोल-चाल की भापा का प्रयोग वडी सफलता से करते हैं। 'एक और विदाई' मुझे केवल पिता की भाषा और सम्वादो के कारण याद रह गयी। 'शमशेर' में ऐसे युवक का अत्यन्त सुन्दर चित्रण है जो हर काम करते हुए अपने मित्र के साथ तुलना करता रहता है कि वह इसे कैसे करता।—दूसरे शव्दो में, जिसे मित्र की हर वात से ईर्ष्या है। 'शहर में एक और शहर' में निम्न-मध्यवर्ग के एक टुच्चे व्यापारी और उसकी पत्नी के मनोविज्ञान का वहुत ही सुन्दर चित्र है, जो निहायत सँकरी और गन्दी जगह रहने के वाद जव नयी कॉलोनी में वँगला वनवाते है तो वहाँ अपने को फिट नही कर पाते और वापस उसी गन्दी जगह जाने के लिए छटपटाते हैं। ऐसी थीम पर वेदी ने तीस वर्ष पहले 'लारवे' लिखी थी। 'लारवे' बिम्ब-प्रधान होने से जल्दी समझ मे नही आती, जब कि त्यागी की कहानी सहज, वोधगम्य और मन पर प्रभाव छोडने वाली है।

'पेंशनर,' मुझे अफसोस है, उतनी अच्छी कहानी नही है। तो भी त्यागी का व्यंग्य अपनी जगह मौजूद है और दो हज़ार की पेंशन पाने वाले पिता के ज़रा-से जुकाम के लिए उसके असफल और अयोग्य वेटे कैसे चिन्तित हैं, इस पर वड़े सूक्ष्म ढंग से त्यागी ने व्यंग्य किया है।

अनीता औलक—ने वहुत नही लिखा। मेरी नजर से उनकी केवल चार-पाँच कहानियाँ ही गुज़री है, जिनमे तीन —'चरागाहों के वाद' (धर्मयुग) 'लाल-परांदा' (नयी कहानियाँ) 'वेगज़ल' (कल्पना)—मुझे वहुत अच्छी लगी है। 'चरागाहों के वाद' में यद्यपि वस्तु वहुत अच्छी है, लेकिन अभिव्यक्ति में भावुकता के अतिरेक ने प्रभाव को कम कर दिया है। उसके मुकाविले में 'वेगज़ल' और 'लाल परांदा' कही अधिक सफल रचनाएँ है। 'वेगज़ल' मे एक वड़ी दुकान पर काम करने वाले एक दुवले-पतले, वदसूरत, फुलहरी मारे, कुरूप, सादालौह, सच्चे और ईमानदार, लेकिन असफल शायर (खुदीराम) का चरित्र-

चित्रण अनीता ने इतना अच्छा किया है कि अनायास दाद देने को जी चाहता है। उसमे कही कोई दोष अपनी छिद्रान्वेषी दृष्टि के बावजूद मुझे दिखायी नही दिया। लेकिन जो कहानी अनीता को सातवें दशक के कथाकारों मे महत्वपूर्ण स्थान देती है, वह है 'लाल परादा'। ये पंक्तियाँ लिखते समय मैने उसे फिर से पढा है और मुझे दोबारा पढ़ने पर भी उतनी ही अच्छी लगी है। अपने ऊपर निर्भर रहने को विवश दो जवान कुँवारी बहनों—करतारो और सूरजो—की यह कहानी अनीता ने नयी सम्वेदना और दृष्टि से लिखी है। कोई पुराना कथाकार इसे लिखता तो इसका अन्त यों न करता जैसे अनीता ने किया है। इस बात का पता चलने पर कि सूरजो बुलाकी से विवाह करना चाहती है, बड़ी बहन अपनी कुण्ठाओ को भूल कर उसे बुलाकी को सौंप देती और अकेली रह जाती। पर कहानी का अन्त वैसे नही हुआ और अन्तिम पैरे में करतारो का यह कहना, 'मै वह तेरे लिए ले आयी थी....तेरे लिए से मतलब दोनों के लिए ही है....वह जो तुमने कहा था....तीन लच्छी का!' कहानी को एक नये धरातल पर, नये यथार्थ और नयी सम्वेदना का वाहक बना देता है। यह अन्त किसी भावुक पाठक को कितना भी बुरा क्यों न लगे, सच भी है और करुण भी। ...प्रस्तुत विशेषांक मे अनीता की कहानी 'उसका अपना आप,' 'बेगज़ल' और 'लाल परादा' जैसी ऊँची रचना तो नही है, लेकिन यह इस विशेषांक की चन्द सफल और सच्ची रचनाओं में से एक है।

इसराईल—की एक कहानी मैने '६२ की 'कहानी' (इलाहाबाद) में पड़ी थी। यद्यपि उसका नाम याद नही, एक हल्का-सा इम्प्रेशन ही मेरे दिमाग पर है। इसराईल प्रगतिशील लेखक है और उनकी कहानियों में सातवें दशक के सभी गुणो के साथ-साथ प्रगतिशीलता का भी गुण है। कारखानों में काम करने वाले मजदूरो की मानसिक उलझनों का बहुत अच्छा चित्रण इसराईल करते है और उनकी कहानियो का यह गुण 'टूटा हुआ' में भी है। इस कहानी की चार पंक्तियाँ देखिए :

'क्योंकि जिन्होंने उसे मरवाया है, वे बहुत बड़े लोग हैं और वही चाहते हैं कि किसी एक की फाँसी होनी है तो मेरी ही हो जाय।'

'इन्साफ़ है और वह यह है कि अब मेरी भी जरूरत उन्हें नहीं है। मुझसे भी बड़े उस्ताद उनको मिल गये हैं।'

और ऐसी बहुत-सी बातें इसराईल ने कहानी के माध्यम से कह दी है।

दूधनाथ सिंह—की 'स्वर्गवासी' मुझे इस अंक की कहानियों में सर्वाधिक पसन्द आयी। निहायत जम कर लिखी हुई और गहरी। यद्यपि वह नयी है, यह कहने में मुझे संकोच होता है। वह उतनी ही पुरानी है, जितनी संस्मरण शैली में लिखी प्रसिद्ध चरित्र-प्रधान कहानियाँ। मैं नही जानता कि मेरी बात से कोई सहमत है या नही, पर दूधनाथ नये हो या न हो, बहुत अच्छे कथाकार है। और मुझे हैरत नही होगी यदि दुनिया-जहान की नारेबाज़ी और फैशनपरस्ती के बावजूद, वे अच्छी और गहरी कहानियाँ लिखते चले जायँ और एक दिन घोषणा कर दें कि कहानी में नया-पुराना कुछ नही होता। 'स्वर्गवासी' मे अपने बहनोई के घर आ कर डट जाने वाले और हज़ारों अपमानों को सह कर खाने-पीने में जुटे रहने वाले एक ऐसे आदमी का अत्यन्त सफल चित्रण उन्होने किया है, जो अन्दर से कब का मर चुका है और केवल अपनी लाश ढो रहा है। कहानी का ट्रीटमेंट दूधनाथ की नयी दृष्टि का द्योतक है और वही पुराने और नये चरित्र-चित्रण में विभाजन-रेखा खीचता है।

आलोक शर्मा—ने कुछ सफल-असफल अकथाएँ लिखी है। उनकी यह कहानी 'अण्डरस्टैंडिंग का एक क्षण' मुझे उनसे बेहतर लगी। इसमें वैवाहिक सम्बन्धों के उसी सत्य का चित्रण करने का प्रयास आलोक ने किया है, जिसकी झलक दूधनाथ की 'रीछ' मे भी मिलती है, जब पत्नी पति के दोषो पर उसे डाँटने के बावजूद शारीरिक तौर पर उसे 'अण्डरस्टैंड' करती है।

से० रा० यात्री—की 'त्रास' उनकी कहानियो में काफी अच्छी है। उनकी पहले की कहानियो में 'गर्द-गुबार' और 'खण्डित संदर्भ' मुझे आज भी याद है। 'त्रास' में बडे भाई की 'बरसी' पर एक ऐसे छोटे भाई के मनोभावों का चित्रण है, जिसे वह सब ढोंग लगता है और जो समय पर वहाँ पहुँचने के बदले अपने साढ़ू के साथ शराब पीने लगता है, और जब वहाँ पहुँचता है तो रुकता नहीं, शाम ही को वापस चल पडता है। कहानी की सम्वेदना सातवें दशक की है। क्योकि दिखावे के सम्बधो के प्रति वितृष्णा उसकी थीम में गुँथी है। भाषा भी यात्री ने इस कहानी की सरल और बोल-चाल की भाषा के करीब रखी हैं। नायक के साढ़ू बंसल का चरित्र कहानी मे खूब उभरा है। यात्री से अपेक्षा है कि वे अपनी भाषा को और माँजें, उसे और प्रवहमान बनायें, व्यंग्य की धार पैनी करें और पात्रो के मनोविज्ञान में और गहरे डूबें। उनसे और अच्छी कहानियो की अपेक्षा है।

अतुल भारद्वाज—की कहानी अच्छी है, लेकिन लगता नहीं कि किसी भारतीय अनुभूति पर लिखी हुई है। मैंने उसे दो बार पढा है....और मुझे यह बात खटकी है। इसका हॉरर यहाँ का हॉरर अभी नही है। दूसरे महायुद्ध में किसी कस्बे के किसी भयभीत व्यक्ति का हॉरर है, जो ब्लैकआउट-जदा कस्बे के बाहर, सड़क के किनारे छिपा, शत्रु-सेना को आते देखता है। थकी-हारी, नाक की सीध में चलती सेना जब गुज़र जाती है तो वह पाता है कि एक सैनिक मरा हुआ सडक पर पडा है। इस डर से कि वे उसे लेने ही वापस न आ जायँ और कस्बे को तहस-नहस न कर दें, वह उस शव को कन्धों पर उठा कर शार्ट-कट से फिर आगे सड़क पर रख देता है और पेड के नीचे छिप जाता है। सेना आती है, वह उसे देखने के लिए आँख भी नही झुकाती और उसे कुचलते हुए गुज़र जाती है। अनुभूति भयानक है, लेकिन यहाँ की नही। फिर कहानी का बाइसवाँ पैरा यूँ शुरू होता है :

'उस रात वह छत पर अकेला बैठा रात को बीतते हुए देखता रहा।' लेकिन दो बार पढने पर भी मेरी समझ में नही आया कि यह किस रात का जिक्र है। सडक के किनारे आ कर छिपने से पहले छत पर तो शाम थी। रात तो उसे (यदि हुई तो) सड़क के किनारे आ कर हुई। फिर यह समझ में नही आता कि यदि रात हो गयी थी तो उसे सड़क पर मुर्दा कैसे नजर आ गया ? क्योकि ब्लैकआउट था।....

ज्ञानरंजन—की 'हास्यरस' में उनकी शैली के सभी गुण है, लेकिन जिस पाठक ने उनकी कहानियाँ 'पिता,' 'शेष होते हुए,' 'फेंस के इधर और उधर' तथा 'सम्बन्ध' पढ रखी है, उन्हें यह कहानी काफी कमज़ोर दिखायी देगी। ज्ञान इस पीढी के अत्यन्त सशक्त कथाकार हैं, जिन्होने इस दशक की सम्वेदनाओ और दृष्टिकोणो को बड़ी ही सफाई से आत्मसात कर, अपनी कहानियो के माध्यम से व्यक्त किया है। अच्छा होता यदि कोई उत्कृष्ट रचना वे 'अणिमा' के इस विशेषांक में देते।

रवीन्द्र कालिया—व्यंग्य का उपयोग दोधारी तलवार की तरह करते हैं—ज़िन्दगी की एब्सर्डिटी को दिखाते और उसमें जीने के सूत्र खोजते हुए। मेरे खयाल में इस युग का कथाकार ठीक ही यह सोचता है कि समाज को जैसी भी वाहियात व्यवस्था है और ज़िन्दगी जैसी भी भ्रष्ट और एब्सर्ड है, उस पर

केवल व्यंग्य से हँसा ही जा सकता है। और अपने समकालीनों में महेन्द्र भल्ला और ज्ञानरंजन के साथ-साथ कालिया बड़ी सफलता से ऐसा करते हैं। इधर उन्होंने अपनी कहानियों की शैली किंचित बदल दी है। जिन लोगो ने उनकी 'बड़े शहर का आदमी,' 'नौ साल छोटी पत्नी,' 'कोज़ी कॉर्नर' पढी है, उन्हे 'धक्का' थोड़ा निराश ही करेगी।

कालिया शायद इसमें कुछ गहरी बात कहना चाहते है। शायद कहना चाहते है कि आदमी मशीनों को बना कर भी उनसे प्रति अनभिज्ञ है अथवा उन पर अधिकार खो बैठा है—'दरअसल इस घर का हमे बहुत कम ज्ञान है।' यदि इस वाक्य का यह मतलब नही और यह किसी दोस्त ही का घर है, जिसमें पति-पत्नी सोते है और बिजली के खराब हो जाने से पति धक्का खा जाता है और डर जाता है और मेन स्विच नही खोज पाता और पत्नी उठती नही अथवा जान-बूझ कर नखरे करती है और कहानी सिर्फ इतना ही बताने को लिखी गयी है तो यह बहुत हल्की है। कालिया मेरी बात मानेंगे नही, लेकिन अच्छा होता कि वे वैसी कुछ और कहानियाँ लिखते जैसी कि लिखते रहे है।

गगाप्रसाद विमल—की 'अपना' मरना' बडी दिलचस्प कहानी है। जैसे राजेन्द्र यादव कभी-कभी अपने दोस्तो का चैलेंज स्वीकार कर उनसे एक कदम आगे की कहानियाँ लिखने का प्रयास करते है, वैसे ही डॉ० गंगाप्रसाद विमल ने दूधनाथ सिंह की कहानी 'रीछ' को मात देने के लिए उनसे एक कदम आगे जा कर यह कहानी लिखी है। दूधनाथ सिंह ने 'रीछ' का सिम्बल लिया है तो विमल ने 'बकरी' का। मेरा सिर्फ यह कहना है कि विमल को जैसी मेहनत ऐसी कठिन थीम और इतने मुश्किल सिम्बल पर करनी चाहिए थी, उतनी उन्होने नही की। दूधनाथ ने 'रीछ' कई महीनो में लिखी। इस बीच न जाने कितने 'वर्शन' उन्होने उसके तैयार किये। मुझे नही लगता कि विमल ने यह कहानी दोबारा पढी भी है, क्योकि इसमें शिल्पगत त्रुटियाँ है। मेरी समझ मे यह बात नही आयी कि पति यदि लौडे के साथ आता है, तो उस वक्त जब घर में दूसरा कमरा है और वहाँ सोने की वह बात भी करता है, वह अपनी पत्नी के कमरे में क्यो सो जाता है? सोता है तो ज़मीन पर क्यो सोता है और पत्नी, जो प्रकट ही प्रतिव्रता है, उसे जमीन पर कैसे सोने देती है और स्वयं पलँग पर कैसे सो जाती है? और यदि वह माडर्न है तो इस सब के बाद उसके घर में रह कैसे सकती है? मुझे न कहानी की थीम से शिकायत है, न सिम्बल से। इसी थीम पर पच्चीस-तीस

वर्ष पहले मुहम्मद हसन अस्करी ने 'फिसलन' और इस्मत चगताई ने 'लिहाफ' जैसी बहुत अच्छी और बहुचर्चित कहानियाँ लिखी है। मुझे शिकायत केवल यह है कि कहानी पर मेहनत नही की गयी। न बाग़ का सिम्बल जम पाया है, न बकरी का। न पत्नी विश्वसनीय लगती है, न पति। मुझे। मुझे विमल की कुछ कहानियाँ अच्छी भी लगी हैं। 'प्रश्नचिह्न' की याद मुझे अब भी है। लेकिन उनकी इस कहानी को पढ कर यह भी नही लगता कि यह किसी हिन्दुस्तानी की कहानी है। विजय चौहान की तरह वे विलायत हो आये होते तो भी कोई बात थी। यदि उन्हें अच्छा लेखक बनना है—प्रतिभा और भाषा उनके पास है—तो उन्हे महज चौंकाने के लिए अथवा मित्रों को मात देने के लिए अथवा फ़ैशन के लिए कहानियाँ लिखने की बजाय अपनी अनुभूतियो को ही कहानियो में रखना होगा।

ममता कालिया—की कई कहानियाँ पढ़ी है। नाम मै भूल रहा हूँ। लेकिन दो कहानियो के इम्प्रेशन मेरे दिमाग में स्पष्ट है। एक कहानी में दो आधुनिक अध्यापिकाओं का चित्रण उन्होंने किया है, जिनमें कोई रुकाव-दबाव नही और जो 'इमैंसिपेटेड' है, और दूसरी मे एक लड़का (कदाचित शरद) है, जो बस मे जाता है और जिसके साथ एक बस्टी-थर्स्टी लड़की आ बैठती है। (यह शब्द उसी कहानी का है जो मुझे याद रह गया है) हल्की-फुल्की किंचित बोल्ड कहानियाँ—चंचल, चपल, हवा मे सरसराते दुपट्टे-सी हल्की-फुल्की शैली—ममता की कहानियो का यही प्रभाव मेरे मन पर है। लेकिन इधर लगता है कि कालिया की देखा-देखी उन्होने भी अपनी शैली बदल दी है। मै कालिया से भी सहमत नही, और ममता से भी। 'बीतते हुए' जैसी कहानी हर रोज़ लिखी जा सकती है और पति अपनी पत्नी पर और पत्नी अपने पति पर लगभग ऐसी कहानियाँ हर दिन लिख सकते है।

सुधा अरोडा—की कहानी 'खलनायक' एक थोथे इन्टेलेक्चुअल प्रेम की बचकानी कथा है। इस कहानी में एक अधपके इन्टेलेक्चुअल प्रेमी का चित्रण है। इसमें कृष्ण बलदेव वैद की कहानी 'मेरा दुश्मन' और दूधनाथ की 'रीछ' की शैली के अनुकरण में कहानी के नायक के दूसरे रूप (खलनायक) की कल्पना है, जो यथेष्ट असफलता से चित्रित की गयी है। साथ ही ज्ञानरंजन के 'सम्बन्ध' में दूसरे की आत्महत्या के बारे में सहज भाव से सोचने का जो उल्लेख है,

उसका भी आभास इस कहानी में है। निम्नलिखित पंक्तियाँ इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है :

'कई बार उसकी मनःस्थितियाँ, उसकी उदासी, उसकी आत्महत्या करने की बातें इतनी बनावटी लगी हैं कि मैंने चाहा है कि न हो कुछ वह आत्महत्या ही कर ले। उन क्षणों को जी लेने की बात कई बार मन मे आयी है, जब वह पूर्णतया नहीं रहेगी।'

'तो फिर जी कर भी क्या होगा? कॉलिज नही जा कर और खाना नहीं खा कर और मुझसे नहीं मिल कर तुम अपने माँ और बाप पर एहसान कर रही होगी, पर जी कर किसी पर एहसान नहीं कर रही हो, फिर जीने की भी क्या ज़रूरत है? समझी?'

ज्ञानरंजन की 'सम्बन्ध' में भयानक होते हुए भी अपने छोटे भाई की 'आत्म-हत्या' के बारे में सोचना जितना विश्वसनीय लगता, उतना अपनी प्रेमिका के बारे में 'खलनायक' के नायक का यह सोचना विश्वसनीय नही लगता। यह फ़ैशन के लिए बौद्धिकता का मुखौटा ओढ कर सोचने वाले के शब्द तो लगते हैं, किसी की अनुभूति से जनित नही।

मनहर चौहान—की दस-पन्द्रह कहानियाँ मैंने इधर पढ़ी हैं। उनमे सातवें दशक के कथाकार की कोई सम्वेदना और दृष्टि नही। मुझे उनकी एक भी कहानी उच्चकोटि की नही लगी। न 'बीस-सुबहो के बाद,' न 'विपरीतिकरण,' न 'घर घुसरा,' न 'सीढ़ियाँ,' न 'हीरो' और न कोई अन्य। 'बीस सुबहो के बाद' बनी हुई कहानी लगती है—ऐसे जैसे किसी ज़माने में ओ'हेनरी लिखते थे। 'विपरीतिकरण' अच्छी हो सकती थी, लेकिन विस्तार मे गडबड़ा गयी। 'घर-घुसरा' किसी नये लेखक की पहली कहानी के तौर पर पसन्द की जा सकती है, की भी गयी, लेकिन इतने वर्ष बाद भी वह उन्हें पसन्द है तो लगता है कि वे ज़रा भी तरक्की नही कर पाये और वर्तमान विशेषांक की 'उपस्थिति' मेरे इस कथन की साची है। इस कहानी को पढ़ कर यदि कोई चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के संग्रह 'अमावस' में उनकी कहानी 'कामकाज' का तीसरा खण्ड पढे तो यह स्पष्ट लगेगा कि आज से तीस वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त ने इस स्थिति को बेहतर ढंग से लिखा है। मनहर बहुत मेहनती हैं। बाकायदा लिखते हैं। पुराने और बीच के लेखको से प्रचार के सारे हथकण्डे उन्होने सीख लिये है। एक ही बात उन्होने नही सीखी कि अच्छी कहानी कैसे लिखी जाती है, और बिना इसके उनका सारा श्रम

बेकार जाता दिखायी देता है। यदि 'उपस्थिति' जैसी वे एक हज़ार कहानियाँ भी लिख लें तो साहित्य के सागर मे एक छोटी-सी लहर भी वे नहीं उठा पायेंगे —प्रचार के सारे हथकण्डों के बावजूद—ऐसा मेरा निश्चित मत है। अफ़सोस होता है कि इतना मेहनती आदमी कही एकदम गलत हो गया है।

/

अवधनारायण सिंह—की कहानी 'अनिश्चय' पढ़ कर मुझे दु:ख हुआ। मै अवध-नारायण का पुराना प्रशंसक रहा हूँ। उनके पास अपना देने को बहुत-कुछ रहा है, लेकिन लगता है, इधर फ़ैशन के चक्कर में वे भी अपनी डगर छोड बैठे है। 'अकथा ही नये युग की अभिव्यक्ति करेगी'—ऐसा कोई लेख भी मैंने उनका कही पढा है। यों तो इन सभी कथाकारो मे भाषा की फूहड़ गलतियाँ है और उन्होंने उर्दू शब्दों के काफी गलत प्रयोग किये है, और किसी ने कोशिश नहीं की कि उन शब्दों के प्रयोग से पहले ज़रा शब्दकोश देख लें अथवा किसी जान-कार से पूछ ले। लेकिन अवधनारायण के यहाँ मुझे यह बहुत खला है। एक जगह उन्होंने लिखा है—**पटरियों पर चलने वालों की अदद काफ़ी कम हो चली थी।** ('अदद' पुल्लिग शब्द है और इसका प्रयोग इस तरह नहीं होता। एक अदद, दो अदद, तीन अदद—ऐसा होता है। कहानी में शब्द तादाद होना चाहिए था) फिर एक जगह उन्होंने लिखा है; '**लेकिन वह अपने को जज्ब नहीं कर पाया।** (जब कि शब्द 'ज़ब्त' होना चाहिए।) फिर एक जगह उन्होंने लिखा है, '**बेयरे ने तीन पैग उसके सामने रख दीं।**' (पैग हमेशा पुल्लिग होता है। उन्होंने कभी होटल में जा कर पी नही। लगता है यो ही फैशन में यह सब लिख दिया है।) और भी आगे एक जगह लिखा है, '**उन दोनों ने उसकी बात पर कोई खयाल नहीं किया।**' ('पर' की वजाय 'का' होना चाहिए)। फिर दो लाइन बाद वे लिखते है, '**तीसरे ने दूसरे से कहा कि तुम बहुत स्वार्थी इन्सान हो।**' ('इन्सान' शब्द की इस वाक्य मे क्या ज़रूरत है ?)

भाषा की ऐसी फूहड़ ग़लतियाँ इस दशक के कहानी-लेखको में बहुत हैं। लेकिन अवधनारायण काफ़ी दिनो से लिख रहे है और मै उन्हे गम्भीर लेखक समझता था, इसलिए मुझे काफी दुख हुआ।

इसी सन्दर्भ मे एक बात मै और कहना चाहता हूँ। अन्ततोगत्वा अच्छी कहानी अच्छी भाषा भी चाहेगी और जो लेखक अपनी भाषा के परिष्कार पर ध्यान नही देंगे, वे मार खा जायेंगे।

विजयमोहन सिंह—की कहानी मैंने दो महीने पहले पढी थी, पर अच्छा-बुरा कुछ भी मुझे याद नही रहा।

पानू खोलिया—को जब-जब मैंने पढने का प्रयास किया है, एकाध पृष्ठ से ज्यादा मैं नही पढ़ पाया। पानू खोलिया यदि अपनी रविश नही बदलते तो उनका हश्र शैलेश मटियानी से भिन्न होगा, इसकी आशा नहीं। शैलेश मे तो प्रतिभा है, यद्यपि वे उसका इस्तेमाल उतने ही गलत ढंग से करते हैं। पानू खोलिया में वह प्रतिभा भी नही दिखायी देती।

सुदर्शन चोपड़ा—की कहानी 'क्रिच' उनकी इधर की अधिकांश कहानियो की तरह तथाकथित 'भोगी' और 'झेली,' पर वास्तव मे फैशन के लिए लिखी कहानी है। मै व्यक्तिगत रूप से सातवें दशक के अधिकांश कथाकारो की तरह उन्हें भी नही जानता, पर उनकी कहानियों को पढ़ कर लगता है कि वे बुरी तरह फैशन के मारे है। जिन्दगी मे जो 'भोगा' या 'झेला' है, उसे वे नही लिखते, वरन लिखने के लिए 'भोगते' या झेलते' है। राकेश ने एक बार कही लिखा था कि नये लेखको के पास भावो का ऐसा प्रावल्य है कि शब्दो को माँजने-सँवारने का समय उनके पास नही। जरूरत पड़ती है तो वे अंग्रेज़ी के शब्द लिख देते हैं—इसका प्रभाव सबसे ज्यादा सुदर्शन पर पड़ा है। उनकी कहानियो में बेमतलब अंग्रेज़ी शब्द और वाक्यांश रहते है। किसी नये लेखक ने 'नारी' को इतना जीवन में नही उतारा, जितना सुदर्शन चोपड़ा ने—कम-से-कम उनकी कहानियो को पढ़ कर यही लगता है। 'संज्ञा' के अक्तूबर अंक में उनकी कहानी 'हेंच' के बारे में जो यह लिखा गया है कि वह कलकत्ते के वाहियात यथार्थ की वाहियात अभिव्यक्ति है और उसकी भाषा भद्दी, बचकानी और भ्रष्ट है, उससे मैं पूर्णत: सहमत हूँ। 'क्रिच' 'हेंच' से बेहतर नही। सुदर्शन अच्छी कहानियाँ लिख सकते है (मैने उनका पहला कथा-संग्रह पढ रखा है।) पर वे उन अधकचरे लेखको मे से है, जो जन्मते ही जीनियस बन बैठते है और यो प्रगति की सारी सम्भावनाएँ खो बैठते है।

०

चन्द प्रश्न

प्रस्तुत लेख को सुन कर इलाहाबाद के कुछ नये और पुराने मित्रों ने मुझसे चन्द-एक प्रश्न किये। वैसे ही प्रश्न, हो सकता है, 'अणिमा' के पाठकों के मन मे भी उठें। मै यहाँ वे प्रश्न भी देता हूँ, और उनके उत्तर भी।

०

प्रश्न १—आपने पुराने और सातवें दशक के कथाकारों में जो इतनी विभाजन-रेखाएँ खीची है, उनको देखते हुए लगता है कि नये लेखक ने परम्परा से कुछ भी नही पाया है ?

उत्तर—ज़रूर पाया है और उनकी कहानियों मे ढूँढने पर ऐसे कई तार भी मिल जायेंगे, जो परम्परा से जुडे हुए है। खोज करने पर कई तरह की समानताएँ पुरानी और नयी कहानियो में मिल जायेंगी—विजय चौहान के यहाँ (किसी सूक्ष्म आइडिया पर कहानी बुनने की पद्धति में), दूधनाथ के यहाँ (पच्चीकारी, सिम्वलिज्म और भाषा के परिष्कार में), भीमसेन त्यागी और गिरिराज किशोर के यहाँ (कहानी की बिनावट और समाजपरकता मे), से० रा० यात्री के यहाँ तो प्रेमचन्द के 'कफ़न' का एक वाक्य ही वंसल अपनी भाषा में वोल जाता है। और भी दसियो ऐसी बातें गिनायी जा सकती है।....लेकिन इसके बावजूद, सातवें दशक के कथाकारो की रचनाओ मे कुछ ऐसा आ गया है, जो परम्परा से एकदम कटा हुआ दिखायी देता है।

प्रश्न २—क्या पुराने लेखक के नाते आप इस सारे परिवर्तन से सहमत है ?

उत्तर—शायद नही, और शायद हाँ। परम्परा से विद्रोह और अपने समय को चित्रित करना हर जीवन्त लेखक का धर्म है। हम लोगो ने भी अपने ज़माने में परम्परा से विद्रोह किया था। दूसरो की बात तो मै नही जानता, लेकिन मेरे यहाँ कथनो और करनी मे बहुत अन्तर नही रहा। मै जो बौद्धिक रूप से महसूस करता रहा, मैंने वही अपने जीवन में उतारने की कोशिश की—चाहे मै उसके लिए काफी वदनाम भी हुआ। अपने समाज मे जिन चीजो को मैंने बुरा समझा, उन्हे लगभग छोड़ दिया और जिन कुरीतियो के बारे में लिखा, उनको अपनी ज़िन्दगी में यथासम्भव नही आने दिया। नये कथाकार जिन्दगी की एब्सर्डिटी, निराशा, अनास्था, आत्महत्या, अकेलेपन और अजनबीपन की वात करते है, लेकिन उनकी जिन्दगियो मे ऐसा कुछ नही लगता, जो अकेले और अजनबी

अथवा जिन्दगी को एब्सर्ड और निरर्थक समझने वाले के यहाँ होना चाहिए, और मै देखता हूँ, जिन्दगी में अधिकांश लेखक वही पुराने, रूढि-रीति से ग्रस्त सामन्तवादी अथवा निम्न-मध्यवर्गीय है। हाँ, दिमागी तौर पर उन परम्पराओं से कट गये है। उनके यहाँ परम्परा से विद्रोह बौद्धिक स्तर पर हैं। इसीलिए उनकी रचनाओं में कही-कही अविश्वसनीयता का दोष आ गया है। लगता नही कि वे अपनी बात कर रहे है। इन्हीं कमजोरियों के कारण उनमें से अधिकांश ने समाज के विशाल क्षेत्र को छोड़ कर, सच कहने के लिए, सीमित क्षेत्र को ही चुना है। लेकिन उनके यहाँ जो नयी दृष्टि है, वह मुझे आकर्षित करती है, हाँ उसकी सर्च-लाइट जितने सीमित क्षेत्र पर वे डालते है, उससे मैं सहमत नही हूँ। लेकिन मै यह भी जानता हूँ, हर लेखक के बस का यह काम है भी नही। इन्ही में से कुछ ऐसे भी निकल आयेंगे जो इस नयी दष्टि से काम ले कर नये क्षेत्रों मे इस दष्टि की सर्च-लाइट डालेंगे और जो देखेंगे, उसे निर्भीक रूप से कहानियों के माध्यम से पाठको के सामने रखेंगे। इतना मै ज़रूर कहूँगा कि इन लेखकों के कारण पुरानी कहानी अपनी तमाम ख़ूबसूरती और परिष्कार के बावजूद बोर करने लगी है। पुरानी कहानी अब वैसी-की-वैसी लिखी जा सकती है, इसमे मुझे सन्देह है। जो लिख सकते है या लिख रहे है, उनसे मुझे सहानुभूति है। मै नही लिख सकता। और इसका श्रेय मै नये लेखको को देता हूँ और उनसे उस हद तक सहमत हूँ।

प्रश्न ३—आज के लेखक कलागत निरपेक्षता को छोड़, अपने 'भोगे' और 'झेले' को यथावत रखने पर जो जोर दे रहे है, उससे क्या उच्चकोटि का साहित्य पैदा हो सकता है ?

उत्तर—जैसा कि मै पहले कह चुका है—नही ! सातवें दशक के अच्छे लेखक अपने भोगे और झेले को यथावत् रख भी नही रहे और उनकी अच्छी कहानियाँ बताती है कि वे कला का पूरा समावेश भी करते है। मिलावटहीन सत्य भी बिना कल्पना और कला के साहित्य नही बनता। कच्चा माल रह जाता है।

प्रश्न ४—क्या आप नये लेखको के भविष्य के बारे में आशान्वित है ?

उत्तर—आशान्वित हूँ, यह कहना कठिन है, और नही हूँ, यह कहना मेरी स्वभावगत आशावादिता के विपरीत पड़ता है। बहुत पहले मै लेखको से बडी जल्दी आशा बाँध लेता था, लेकिन मैंने देखा कि मै जिन लेखको के बारे में

समझता था कि वे क्रान्ति उत्पन्न कर देंगे, वे चन्द दिन के शोर-शराबे के बाद अपने-अपने धन्धों में जा लगे। बीच की पीढ़ी के कितने ही लेखक, जिनसे बडी-बडी आशाएँ थी, दस ही वर्ष में थके मालूम होते है। साहित्य की दौड़ वास्तव में बहुत लम्बी (मैराथॉन) दौड़ है। कई दौड़ने वाले जो शुरू मे आगे बढ़ जाते है, दस-पन्द्रह मील बाद ही दम तोड़ देते है, और कई बहुत पीछे मन्थर गति से भागे जाने वाले उन्हें जा ही नही लेते, पीछे भी छोड़ जाते है। वर्तमान दशक के इतने लेखकों मे कौन अगले बीस-तीस वर्ष तक निरन्तर लिखता रहेगा, यह कहना मुश्किल है। हो सकता है, इनमे से कुछ लेखक लिखते रहें और उन आशाओं को पूरा कर दें, जो इस समय उनसे हैं। हो सकता है, इनमें से आज जो प्रमुख है, वे कुछ आगे चल कर बैठ जायँ और आज जो बैठते दिखायी देते है वे शक्ति प्राप्त कर खड़े हो जायँ और तेजी से भागने लगें और आगे जाने वालों को पीछे छोड़ दें। यह भी हो सकता है कि १९३० में प्रेमचन्द-युग को हटा कर 'नयी कहानी' का दौर लाने वालो की तरह ये सब के सब साहित्य को नयी दृष्टि और सम्वेदनाएँ दे कर स्वयं खामोश हो जायँ या दूसरे धन्धो में जा लगें और बाद में आने वाले इनसे लाभ उठा कर नये क्षेत्रो को रौंद डालें। यह भी हो सकता है कि कोई बीच का या पुराना लेखक ही इस 'नये' को अपने मे समो ले और प्रेमचन्द की तरह अपनी कला और दृष्टि का विकास कर ले।....भविष्य के बारे मे कुछ भी कहना औलियाओ का काम है, और मै औलिया नही हूँ।

नवम्बर, १९६६

●

हिन्दी हास्य-व्यंग्य : एक शोभायात्रा

पूर्वाभास

•

अश्क जी प्रस्तुत पुस्तक के सभी लेख लिख चुके थे और यों ही मन लगाने को हास्य-व्यंग्य की नयी आयी पुस्तकें पढ़ने लगे थे। उन्हीं में श्री परसाई के हास्य-व्यंग्य का नया संग्रह 'पगडंडियों का ज़माना' भी था। वे उसे विशेष रूप से पढ़ना चाहते थे, क्योंकि उस पर विस्तृत समालोचना करने का वादा वे एक सम्पादक से कर चुके थे।

जब अश्क जी पुस्तक पढ़ कर अपने इम्प्रेशन लिखने लगे तो सहसा उन्हें ख़याल आया, परसाई की कुछ दूसरी रचनाओं के साथ उनके समकालीनों की कुछ रचनाएँ भी पढ़नी चाहिएँ और उन्होंने परसाई की 'जैसे उनके दिन फिरे,' श्रीलाल शुक्ल की 'अंगद का पाँव,' केशवचन्द्र वर्मा की 'लोमड़ी का माँस' तथा रवीन्द्रनाथ त्यागी की 'भित्ति-चित्र' पढ़ीं और केवल एक पुस्तक की समालोचना के बदले, उनके दिमाग़ में इस लेख की रूप-रेखा तैयार हो गयी। मित्रों की भी यह शिकायत थी कि हिन्दी कहानी का जायज़ा लेने वाली इस पुस्तक में हिन्दी के हास्य-व्यंग्यकारों का उल्लेख न होना खटकता है, क्योंकि आज हास्य-व्यंग्य निबन्ध की कोटि से निकल कर कहानी-विधा का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है।...सो थकन के बावजूद, अश्क जी फिर मेज़ पर जा बैठे और पन्द्रह-बीस दिन तक निरन्तर लेख में जुटे रहे।

प्रस्तुत लेख उसी जिज्ञासा और श्रम का परिणाम है। इस लेख की प्रकृति अन्य लेखों से किंचित भिन्न है, पर हिन्दी हास्य-व्यंग्य की जो शोभा-यात्रा (गद्य के संदर्भ में) अश्क जी ने यहाँ प्रस्तुत की है, वह हिन्दी साहित्य में अपनी तरह की अनोखी है। अश्क जी ने उर्दू के हास्य-व्यंग्यकारों का भी विस्तृत उल्लेख किया है। इसका एक कारण तो यह है कि उर्दू के समस्त महत्वपूर्ण पुराने हास्यकार हिन्दी में आ चुके हैं और हिन्दी हास्यकारों पर उनका स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। फिर इधर उर्दू के अधिकांश आधुनिक व्यंग्यकार पहले हिन्दी में छपते हैं, फिर उर्दू में।

पुस्तक में संकलित होने से पहले प्रस्तुत लेख 'नयी कहानियाँ' के सितम्बर अंक में (कुछ संक्षिप्त हो कर) छपा और प्रगति (इलाहाबाद) की एक गोष्ठी में पढ़ा गया। वहाँ होने वाली प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप अंत मे दो-तीन प्रश्न और उनके उत्तर जुड़ गये हैं। आशा है प्रस्तुत लेख पाठकों का मनोरंजन भी करेगा और उनका पथ-निर्देश भी।

हिन्दी हास्य-व्यंग्य : एक शोभायात्रा

●

जिन लोगों ने महान दुखातकी लिखे हैं, मैं उनमें से अधिकाश के जीवन को नही जानता, लेकिन मेरा यह विश्वास है कि परम सुख-शान्ति और अवकाश में ही महान ट्रेजिडीज़ लिखी जा सकती हैं। ओ'नील ने अपनी सर्वोत्कृष्ट ट्रैजिडी 'लम्बे दिन की यात्रा : रात में' ऐसे ही सुख-शान्ति और अवकाश मे लिखी—उस वक्त जब उसके जीवन का संघर्ष खत्म हो गया था। अतीव सुन्दर और धनो पत्नी ने उसे लिखने की समस्त सुविधाएँ जुटा दी थी और सुख के वातावरण मे वह परम शान्ति से अपने दुख और संघर्ष भरे दिनो को उनके नन्हें-से-नन्हे ब्योरे के साथ चित्रित कर सकता था। ऐसे ही मुझे लगता है कि संघर्ष, दुख अथवा तनाव या फिर काम की बोरियत के पलायन मे हास्य-व्यंग्य का सृजन किया जा सकता है। व्यंग्य, विद्रूप, हास्य, किंचित भँड़ैती और अतीव दारुणता से भरा सर्वेंटीज़ का जगत-प्रसिद्ध उपन्यास 'डॉन-क्विग्ज़ॉट' उसने सीढ़ियो के पास एक छोटी-सी कोठरी मे बैठ कर लिखा था, जबकि धड़धड़ाते हुए बच्चे सारा दिन उतरते-चढ़ते रहते थे। उर्दू के प्रसिद्ध हास्य कथाकार अज़ीमबेग चगताई यक्ष्मा के रोगी थे और उस ज़माने मे यक्ष्मा का कोई इलाज न था। अपने तमाम हास्य रस के अफसाने उन्होने उस मूज़ी मर्ज़ से जूझते हुए लिखे। ए० एस० बुखारी (पतरस) गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर के प्रिंसिपल थे और बंगाल के प्रसिद्ध हास्यकार परशुराम औषधियों की प्रसिद्ध फर्म 'बंगाल केमिकल' के मैनेजर—प्रकट है कि अत्यधिक व्यस्तता के बाद उनका मन हास्य के सृजन में सुख पाता होगा। कवि कोलरिज ने लिखा भी है :

> Laughter oft is an art
> To drown the outcry of the heart.

दूसरो का क्या अनुभव है, यह मैं नही जानता, पर मैंने देखा है कि अतीव तनाव और परेशानी में मैंने सदा हास्यरस की कृतियाँ सृजी है। १६४१--४२ की एक शाम की याद है। कौशल्या से छै महीना-साल पहले शादी हुई थी। किसी बात पर झगड़ा हो गया। अतीव मानसिक तनाव में मैं अन्दर कमरे में जा कर बैठा। नीद आयेगी, अपने स्वभाव को जानते हुए इसकी कोई सम्भावना न थी। मै कागज़-कलम ले कर बैठ गया और दो-ढाई बजे रात तक

मैंने अपना अत्यन्त सफल हास्य-व्यंग भरा एकांकी 'चमत्कार' लिखा। ....अभी कुछ वर्ष पहले जब मै ने यह बंगला खरीदा तो मेरे एंग्लो इंडियन पडोसियो से (जो वर्षों से मुझे परेशान करते थे और अब मेरे किरायेदार हो गये थे) फ़ौजदारी हो गयी। पुलिस आ गयी। सबेरे झगड़ा हुआ था। दो बजे थाने से छुट्टी मिली। आ कर कुर्सी पर बैठा तो लगा, न केवल शेष दिन, वरन् आने वाली रात भी बर्बाद हो जायगी। राकेश उन दिनो 'सारिका' के सम्पादक थे। उन्हे एक कहानी भेजनी थी। मै लिखने लगा और रात के तीन बजे 'फ़ितने' खत्म कर के ही उठा। 'फितने' शुद्ध हास्य की नही तो हास्य-मिले व्यंग की मेरी सफल कहानियो मे से है। ऐसे मे न जाने क्यों किसी करुण कृति का सृजन मेरे लिए असम्भव है। 'जोक,' 'आपस का समझौता,' 'छठा बेटा,' 'तौलिए,' 'अंजो दीदी,' 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ'—मेरे हास्य-व्यंग्य-भरे एकांकी और 'छीटें' की प्रायः सभी हास्य-भरी कहानियाँ मेरे संघर्ष और तनाव-भरे दिनों की याद है। अपने अधिकांश गम्भीर नाटक, कहानियाँ और उपन्यास मैंने उन दिनो लिखे, जब मै साधारणतः रोज़ी-रोटी की चिन्ता से मुक्त था, नौकरी करता था अथवा पहाड़ो पर स्वास्थ्य लाभ करता हुआ परम अवकाश मे लिखता था।

शुरू के मेरे प्रिय हास्यकार

चूंकि मेरी ज़िन्दगी घोर संघर्ष मे बीती है, इसलिए हास्य रस की रचनाएँ मुझे आरम्भ ही से आकर्षित करती रही है। मुझे स्कूल कॉलेज के दिनो की याद हैं, जब **बंकिमचन्द्र चटर्जी** तथा **परशुराम** के हास्य भरे लेख और् कहानियाँ और 'दुबेजी की चिट्ठी' मै ढूंढ-ढूंढ़ कर पढ़ता था। हास्य रस के अपने इन प्रिय लेखकों में बंकिम बाबू के एक स्केच की मुझे आज भी याद है, जिसमे उन्होंने संस्कृत का एक श्लोक :

मातृवत् पर दारेषु, पर द्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्व भूतेषु, यः पश्यति सः पण्डितः॥

नित्य अपने लडके को पढाने वाले एक पण्डित और अपने ढंग से उसका अक्षरशः पालन करने वाले उसके आवारा बेटे का निहायत मनोरंजक और हास्य भरा चित्रण किया है।

परशुराम वंगला के प्रसिद्ध हास्यकार रहे है। आज तो शरत और टैगोर की तरह वे भी पुराने पड गये है, लेकिन १९३१ से '३६ तक मै उनकी कहानियाँ

खूब पढता था। 'विशाल भारत' मे चित्रो के साथ उनकी रचनाएँ छपती थी। मुझे उनकी कहानी 'नयी पौध' उसके चित्रो, उसके नुक्कड़ मामा, नयी पौध के सदस्यों और संस्था के प्राण किसुना और अपनी प्रेयसी के सामने, प्रेम को अलग हटा कर, निरपेक्ष भाव से रखी गयी उसकी तिरियानवे शर्तों की आज भी याद है...परशुराम की कहानियाँ उपन्यास की तरह शुरू होती, वडे इत्मीनान से वढती और भीने हास्य की सृष्टि करती। आज की सुष्ठ-पुष्ठ और संश्लिष्ट कहानियों के मुकाविले मे वे कहानियाँ बड़ी ढीली-ढाली, मन्थर गति से चलने वाली और मधुर हास्य उपजाने वाली थीं।

मासिक 'चाँद' में उन दिनों पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक 'दुवेजी की चिट्ठी' लिखते थे। और जिस प्रकार परसाई 'कल्पना' (हैदरावाद) के अंतिम पृष्ठों में सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक समस्याओ को अपने व्यंग्य का निशाना वनाते रहे है, इसी तरह दुवे जी भी भाँग का गोला चढा कर तत्कालीन समाज के ढोंग का पर्दा फ़ाश करते थे। 'दुवे जी की चिट्ठी' उस ज़माने में वड़ा लोकप्रिय कॉलम था।

उर्दू के हास्यकार

स्कूल के दिनो ही से मैं उर्दू में लिखने लगा था और उर्दू के हास्यरस-लेखकों को वाकायदा पढ़ता था। उन शुरू के लेखकों मे मुल्ला रमूज़ी, सुदर्शन, ख्वाजा हसन निज़ामी, 'नियाज़' फतेहपुरी, सज्जाद हैदर यल्दरम, अज़ीमवेग चगताई, पतरस और वाद में शौकत थानवी, कन्हैयालाल कपूर, डा० शफीकुर्रहमान, फ़िक्र तौंसवी, कृष्णचन्द्र, मंटो और वेदी मेरे प्रिय लेखकों मे रहे है।

यों तो सज्जाद हैदर यल्दरम, नियाज़ फतेहपुरी और ख्वाजा हसन निज़ामी भी व्यंग्य लिखते थे, पर शोर मुल्ला रमूजी और अज़ीमवेग चगताई का वहुत था। आज तो मुझे मुल्ला रमूजी का कुछ भी याद नही, सिवा इसके कि वे गुलावी उर्दू लिखते थे—नयी पढाई, मुसलमानों का पिछड़ापन, मज़हव से नये लोगो की वेरुखी, अंग्रेज़ी का अंधानुकरण और ऐसी ही वातों को अपने मज़ाक का निशाना वनाते थे और इस व्यंग्याभियान में उनकी चारों वीवियो मे से कोई न-कोई अपने शौहर की मदद को आ जाती थी। ...गुलावी उर्दू कुछ इस तरह की होती थी :

'पस जब सिलसिला कलाम हमारे का पहुँचा ऊपर उस जगह के तो

तशरीफ़ लायीं बीवी नम्बर-२ साथ मेहरबानी बहुत के और फ़रमाया कि ऐ शौहर मेरे, ख़ुदा दराज़ करे उम्र और तन्दुरुस्ती आपकी...'

उस वक्त तो यह अच्छी लगती थी और शौक से पढ़ी जाती थी, लेकिन आज तो इसे पढ़ कर वहशत होती है।

मुल्ला रमूज़ी—के मुकाबिले में अज़ीमबेग चगताई लेख नही, ज़िन्दगी से धडकती, भरी-पूरी कहानियाँ लिखते थे। जैसा कि उनकी बहन और उर्दू की प्रसिद्ध कहानी लेखिका इस्मत चगताई ने अपने संस्मरण 'दोजखी' में लिखा है (जिसे मै उर्दू-हिन्दी का एक अद्वितीय संस्मरण मानता हूँ) वे वकील थे, लेकिन उनकी वकालत बहुत चलती न थी। कमजोर और बीमार थे और अपने अहं की तुष्टि के लिए घर-परिवार, पड़ोस और मित्रो को अपनी कहानियो मे मज़ाक का निशाना बनाते थे। बाद में उन्हें टी० बी० हो गयी, लेकिन हँसने-हँसाने और तीव्र व्यंग्य करने की उनकी हिस मे जरा भी कमी नही आयी। इस्मत के शब्दों में सुनिए :

'ग़म और दुख में डूबी हुई मुस्कराने की कोशिश करती हुई आँखें; दुख-भरी काली घटाओं-से मुरझाये हुए चेहरे पर पड़े हुए घने बाल; पीला, नीलाहट लिये हुए ऊँचा माथा; उदास होंट, जिनके अन्दर समय से पहले तोड़े हुए असमतल दाँत और सूखे-सूखे औरतों जैसे नाज़ुक और दवाओं में बसी हुई उँगलियों वाले हाथ—और फिर उन हाथों पर सूजन आ गयी। पतली-पतली खपच्ची जैसी टाँगें, जिनके सिरे पर वरम से सूजे हुए भद्दे पैर। कलेजे पर दसियो कपड़ों और बनियानो की तहें और इस सीने में ऐसा धड़कता हुआ दिल—या अल्लाह! यह आदमी क्योंकि हँसता-हँसाता था।'

लेकिन शायद इसीलिए अज़ीमबेग हँसते-हँसाते, लोगो को छेड़ कर, उनका मज़ाक उडा कर सुख पाते थे कि वे हीन-भाव, बीमारी, दोस्तो और रिश्तेदारों की बेमुरव्वती और घृणा को भूल जाना चाहते थे। अज़ीमबेग चगताई ने हास्य रस की बड़ी सफल कहानियाँ लिखी है—उनका हास्य सीधा, खुला और बुलन्दबाँग है—पढी तो काफी है, पर उनमे से 'अलशज़री,' 'टिटनिस,' (पट्टी) 'इक्का,' 'फकीर' और 'टेलीफोन' की याद आज इतने वर्षो बाद भी मुझे है। अज़ीमबेग चगताई में बेपनाह कल्पना थी और जिन्दगी मे जो कुछ वे नही कर सके, अपनी कहानियों मे करते थे, इसके अलावा जो चित्र उन्होने खीचे है, वे सच्चे, खरे और सीधे जिन्दगी से उतारे गये है। यही वजह है कि उनकी उत्कृष्ट कहानियाँ इतने वर्ष बीत जाने पर भी उतनी ही अच्छी लगती है।

'नियाज़' फ़तेहपुरी—उर्दू के शैलीकार थे। मुश्किल उर्दू लिखते थे। 'निगार' नाम का मासिक निकालते थे। उनकी हास्य रस की ज्यादा रचनाएँ नही पढ़ी, पर उनकी कहानी 'चन्द घण्टे एक मौलवी के साथ' में हास्य-व्यंग्य का अपूर्व मिश्रण है और वह बाहर से पारसा, लेकिन अन्दर से रिन्द एक मौलवी का निहायत दिलचस्प चित्र पेश करती है।

सज्जाद हैदर यल्दरम—के यहाँ बड़ा मँजाव है। 'आज़ाद निगारिस्तान और दादा जान' में उन्होने पार्लियामेंट और उसमे होने वाली मूर्खताओ पर बड़ा सूक्ष्म व्यंग्य किया है और उसका हास्य होंटों पर बार-बार मुस्कान ले आता है। उनकी कहानी 'मुझे मेरे दोस्तों से बचाओ,' भी बेहद दिलचस्प है और किसी व्यस्त आदमी का समय नष्ट करने वालों पर करारा व्यंग्य करती है। विशेषकर उस सूरत में, जब वह व्यक्ति कोई प्रसिद्ध लेखक भी हो और उसके अमीर दोस्त उसे बुला कर 'अजूबा' बना दें।

ख्वाजा हसन निज़ामी—दिल्ली की एक प्रसिद्ध दरगाह के सज्जादानशीन थे। उनके हास्य-व्यंग्य के लेखो का एक संग्रह मेरे पुस्तकालय में है। उनके लेख बंकिम बाबू और सुदर्शन की तरह के है, लेकिन हास्य की अपेक्षा उनमें व्यंग्य ज्यादा है।

पतरस—तभी उर्दू के साहित्याकाश पर पतरस का उदय होता है (याने जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैने इन सब के बाद उन्हे पढ़ा) और सारे रस फीके हो जाते है। मै नही जानता, दुनिया में कितने ऐसे साहित्यकार है, जो इतना कम लिख कर इतनी ख्याति पा गये। पतरस—ए० एस० बुख़ारी—पहले गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर में अंग्रेज़ी के अध्यापक थे, फिर आल इंडिया रेडियो के महानिदेशक हुए और फिर विभाजन के बाद पाकिस्तान के राजदूत हो कर विभिन्न देशो में गये, लेकिन हास्य रस के लेख उनके गवर्नमेंट कॉलेज के दिनों की याद है। एक छोटा-सा संग्रह है—'पतरस के मज़ामीन'—और बस। पहले संस्करण के बाद केवल एक लेख उन्होने और लिखा—'लाहौर का जुग़राफ़िया'—जो दूसरे संस्करण में शामिल हुआ। उसके बाद उन्होने मित्रो को हास्य-व्यंग्य भरे पत्र भले ही लिखे हों, कोई लेख नही लिखा। यद्यपि इसे मेरा पूर्वाग्रह समझा जायगा, लेकिन मेरा यह निश्चित मत है कि हिन्दी-उर्दू के इतने ढेर सारे हास्यकारों में 'पतरस' का कोई जवाब नही। इसका यही कारण है कि पहले तो उनमे घोर प्रतिभा थी, दूसरे वे सारे-के-सारे लोग (उनकी टोली मे इम्तियाज़अली ताज, अब्दुल मजीद 'सालिक' सम्पादक इन्कलाब, सूफी गुलाम मुस्तफा 'तबस्सुम', हरिचन्द अख्तर

ग्रौर हफ़ीज़ जालन्धरी शामिल थे) मिल कर लिखते थे। एक-एक लेख, कविता नाटक या कालम सब को पढ कर सुनाया जाता था ग्रौर मित्रों की राय के साथ उसे वेहतर वनाया जाता था। सभी लोग खाते-पीते थे। एक दूसरे की सराहना करते थे ग्रौर स्वान्त:सुखाय लिखते थे। इसलिए 'पतरस के मज़ामीन' मे एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य ग्रपनी जगह नगीनों की तरह जड़ा है ग्रौर वदला नही जा सकता। उपयुक्त शब्दों ग्रौर वाक्यों के चुनाव से हास्य का ग्रद्भुत सृजन किया गया है। सभी लेखों की तो मुझे याद नही, लेकिन 'कुत्ते,' 'मुरादपुर का पीर,' 'मरहूम की याद में,' 'मैं एक मियाँ हूँ,' 'सवेरे जो कल ग्राँख मेरी खुली,' 'मेवल ग्रौर मैं' ग्रौर 'लाहौर का जुगराफिया' (भूगोल) उनकी हास्य-कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने है ग्रौर दसियो वार पढने पर भी उनका रस पूर्ववत वना रहता है।

इस टोली में 'सालिक' ग्रौर 'ताज' दो ग्रौर सदस्यों ने हास्य-व्यंग्य का सृजन किया। ग्रब्दुल मजीद 'सालिक' इन्कलाव का दैनिक कॉलम 'ग्रफकार-ो-हवादिस' लिखते थे ग्रौर उसमे (दुर्भाग्य है कि साम्प्रदायिक, लेकिन सरकार-परवर दृष्टि से) हिन्दू दैनिकों, हिन्दू महासभा, ग्रार्य स्वराज्य सभा (लाहौर) की सरगर्मियों, 'प्रताप' (लाहौर) के सम्पादक लाला नानकचन्द 'नाज' की कविताग्रो पर व्यंग्य किया करते थे—तेज़, तीखा, सीने में दूर तक उतर जाने वाला व्यंग्य। वाद में 'प्रताप' के एक ग्रन्य सम्पादक सागरचन्द गोरखा ने वही शैली ग्रपनायी। वे सर सिकन्दर हयात खाँ, सर छोटूराम, सम्पादक इन्क़लाव ग्रौर दूसरे टोडियों को ग्रपने मजाक का निशाना वनाते थे ग्रौर जिन्हे उनके हास्य-व्यंग्य-भरे वाण लगते थे, वे भी उनकी दाद देते थे।

इम्तियाज़ ग्रली 'ताज'—यों तो उर्दू में नाटककार के नाम से प्रसिद्ध थे। उन्होने कुछ वहुत ग्रच्छे पश्चिमी एकांकियों का रूपान्तर उर्दू मे प्रस्तुत किया था। लेकिन उनका नाम उनके वडे ऐतिहासिक नाटक 'ग्रनारकली' (जिसे उन्होने दस वारह वर्ष में लिखा ग्रौर जिसका उल्लेख मैंने 'गिरती दीवारें' में किया है) ग्रौर हास्य-रस के छोटे-छोटे स्केचो या कहानियो के संग्रह 'चचा छक्कन' के कारण है। 'चचा छक्कन' का खयाल तो उन्हें जेरोम के० जेरोम के एक प्रसिद्ध चरित्र ग्रंकल सैम से मिला ग्रौर उनकी एक रचना 'ग्रंकल सैम ने तस्वीर टाँगी' का रूपान्तर उन्होने 'चचा छक्कन ने तस्वीर टाँगी' में किया। जव यह रचना वहुत पसन्द की गयी तो उन्होने चचा छक्कन के ग्रौर भी कारनामे लिखे, जिनमें

'चचा छक्कन ने सब के लिए केले खरीदे' अद्वितीय उतरा। मै इस रचना को कई बार पढ़ चुका हूँ, पर इसका रस फीका नही हुआ।

इन हास्यकारों के बाद एक नयी पीढ़ी आ गयी, जिसमें शौकत थानवी, कन्हैयालाल कपूर ने शुद्ध हास्यकार के नाते और कृष्ण, बेदी, मंटो और इस्मत ने कथाकारों के नाते नाम पाया। (यद्यपि मै इन सब से पाँच-सात वर्ष पहले लिखने लगा था और हास्यरस की रचनाएँ तो मैंने और भी पहले लिखीं, लेकिन प्रकट ही मै बुखारी और 'ताज' की पीढी का नही हूँ और मेरा नाम इन्ही के साथ लिया जाता है।) शौकत थानवी और कन्हैयालाल कपूर की तुलना में हम लोग मूलतः कथाकार रहे और कभी-कभी ज़ायका बदलने को हास्य-व्यंग्य लिखते रहे। कृष्ण हम में अपवाद है, जिन्होने हास्य-व्यंग्य के ढेरो निबन्ध और कहानियाँ लिखी।

शौकत थानवी और **कन्हैयालाल कपूर** दोनो ही लोकप्रिय हास्यकार है और दोनों ही ज़ूदनवीस याने जल्द लिखने वाले रहे है। एक बार लिख कर शायद ही कभी उन्होने दोबारा उसे देखा हो। लेकिन दोनो में हास्य उपजाने और व्यंग्य करने की अतुल प्रतिभा है। मैंने **शौकत थानवी** को पढ़ा तो बहुत है, लेकिन उनकी ज्यादा रचनाओ की याद नही। उनकी कहानी 'स्वदेशी रेल' बहुत प्रसिद्ध हुई। यद्यपि वह १६४७ के पहले लिखी गयी थी, पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, यदि उसका मजा फीका नही हुआ, तो इसलिए कि हमारी जिस अक्षमता (इनएफीशेंसी), स्वार्थपरता और गैरजिम्मेदारी को उन्होने मज़ाक का निशाना बनाया था, वह हम में आज भी है और रेलवे विभाग ही नही, शासन के दूसरे विभाग भी उसके शिकार है। दूसरी रचनाओ में 'छलाँग' की मुझे याद है (जो मैंने 'संकेत: उर्दू' में संकलित की है।) उनकी तमाम रचनाओ का स्तर लगभग 'छलाँग' ही का है।

कन्हैयालाल कपूर—की रचनाओ का व्यंग्य शौकत थानवी की बनिस्बत पैना है। हास्य महज़ हास्य के लिए उन्होने कम ही लिखा। उनके दोनो संग्रहो के नाम 'संग-ो-खिश्त' (ईंट-पत्थर) तथा 'शीशा-ओ-तेशा' ही इसका प्रमाण है। उनकी कहानियो में मुझे 'ट्यूटर' की याद है। लेकिन जो लोकप्रियता उनकी 'गालिब जदीद शुअरा (आधुनिक कवियो) की मजलिस में' को प्राप्त हुई, वह किसी को नसीब नही हुई।

उर्दू कथाकारो में जैसा कि मैंने पहले कहा, सभी ने हास्य-व्यंग्य की रचनाएँ लिखी है। मंटो की रचनाओं मे हास्य कम और व्यंग्य ज़्यादा है—तेज़

व्यंग्य। लेकिन उसके निबन्ध 'एक प्रगतिशील कब्रिस्तान,' 'सबेरे जो कल आँख-मेरी खुली' और 'सियाह हाशिए' की छोटी-छोटी तिक्त व्यंग्य-भरी कहानियाँ उनके व्यंग्य के सभी गुण अपने मे समोये है। विभाजन पर शायद ही किसी ने ऐसी व्यंग्यभरी कहानियाँ लिखी हों। 'टोबाटेकसिंह' उनमें अमर है, जिसमें हास्य भी है, व्यंग्य भी, लेकिन ऐसा जो आँखों मे आँसू ले आये।

गुलाम अब्बास—की कुछ कहानियाँ विशेष कर 'नाक काटने वाले,' 'आनन्दी,' और 'वंशवृक्ष' सूक्ष्म हास्य-व्यंग्य की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। 'नाक काटने वाले' यद्यपि हैमिंग्वे से प्रभावित है, लेकिन गुलाम अब्बास ने अपनी कहानी हैमिंग्वे की कहानी से कही बेहतर बना दी है। हैमिंग्वे की कहानी मैं सिर्फ एक बार पढ पाया हूँ, जबकि 'नाक काटने वाले' जब मेरे सामने पड़ी है, मै पढ गया हूँ।

कृष्णचन्द्र—ने हास्य-भरी कहानियाँ भी लिखी है और निबन्ध भी। हल्का, छीलता-सा व्यंग्य, रोमान की तरह उनकी कहानियों का गुण है, लेकिन उन्होंने लीकॉक की तरह कुछ हास्य-भरे निबन्ध भी लिखे है जिनमें 'नहाना,' 'गाना,' 'रद्दी,' 'खलल है दिमाग का' की मुझे याद है। कृष्ण की रोमानी, प्रगतिशील, और हास्य-व्यंग्य-भरी रचनाओ में मुझे उनकी अन्तिम रचनाएँ बहुत अच्छी लगती है।

राजेन्द्र सिंह बेदी—की कहानियों मे प्राय. हास्य-व्यंग्य छिपा रहता है—कुछ अजीव-सा अबोध, सरल हास्य और सहलाता-सहलाता, सह्य व्यंग्य। उनकी कोई भी कहानी लीजिए—वह 'लाजवन्ती' हो, 'दीवाला' हो, 'अपने दुख मुझे दे दो' हो या फिर 'सिर्फ़ एक सिगरेट' अथवा पहले की 'भोला,' 'छोकरी की लूट,' 'ज़ेनुल-आवदीन' या 'लारवे'—वह हास्य-व्यग्य सब जगह है। लेकिन इधर बेदी ने एक कहानी (मेरे कुछ मित्र उसे न समझ पाने के कारण कहानी का नाम देने को तैयार नही) ऐसी लिखी है, जिसमें खिलते हुए हास्य और गहरे पैने व्यग्य का कुछ अजीव मिश्रण है। मैं उस कहानी को, या जो कुछ भी वह है, तीन-चार बार पढ चुका हूँ—पंडित जवाहरलाल से ले कर देश की नित्य-नये-दिन वनती और कभी सिरे न चढ़ती योजनाओं, इलाहावाद के उर्दू-हिन्दी साहित्यकारो, संगम और द्रौपदी घाट, बाजारो और गलियो पर जो हास्य-भरा व्यंग्य उसमे है, उसे बेदी ही लिख सकता था। केशवचन्द्र वर्मा के 'अफलातूनों का नगर इलाहावाद' और 'हज्जाम इलाहावाद के' को साथ-साथ पढिए तभी आप फूहड़ और सूक्ष्म हास्य-व्यंग्य में अन्तर समझ पायँगे।.... केशवचन्द्र वर्मा का लेख भी ज़ोरदार है, कम-से-कम 'सारिका' मे छपने वाले

मनोहर श्याम जोशी के दिल्ली वाले तीन किस्तो[1] के लेख की तुलना मे ! केशवचन्द्र वर्मा के लेख मे हास्य-व्यंग्य ज्यादा है और ताल-मेल कम, जबकि जोशी के लेख में ताल-मेल ही ताल-मेल है और वह हास्य-व्यंग्य नही उभर पाया, जिसका नमूना उनकी फिल्मी आलोचनाओं में मिलता है और जिसकी अपेक्षा 'एक दुर्लभ-व्यक्तित्व' जैसी हास्य-व्यंग्य-भरी कहानी के लेखक से थी। यों उसमें उन्होने अज्ञेय के नमक का हक भरपूर चुका दिया है और राकेश की दोस्ती का (या दवाव का—यह दूर बैठे मालूम नही होता।) बाकी लोगों के बारे में लिखते हुए उन्हें खयाल रहा है कि वे दिल्ली वालो के सम्बन्ध में लिख रहे है, जिनसे कल दो-चार पड़ भी सकती है। लेकिन जोशी के स्वाभाविक व्यंग्य का निशाना केवल एक लेखक बना है—डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल—सरजू-तट का पपीहा—जो इलाहावाद से प्यासा दिल्ली भाग गया और लगता है वहाँ भी प्यासा ही रहा। लेकिन इतने सारे समझौतावादी व्यंग्य मे वह तेज़-तीखा, हँस उठने पर मजबूर करता-सा व्यंग्य डॉ० लाल के प्रति सहानुभूति जगा देता है और जोशी के प्रति भी, जिन्हें शेष के संदर्भ में अपनी कलम पर इतनी रोक लगानी पड़ी। इन दोनों लेखो के साथ बेदी का 'हज्जाम इलाहावाद के' पढ़ना पाठक को व्यंग्य के अजाने क्षेत्रो की सैर करा देगा, जहाँ सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों पर व्यंग्य और उनकी आलोचना के डाँडे दर्शन के सूत्रो से मिल जाते है। थोड़ी अस्पष्टता 'हज्जाम इलाहावाद के' मे है, जो गुण है, दोष नही।

जहाँ तक मेरे हास्य-व्यंग्य का सम्बन्ध है, मेरी शैली इन सब से भिन्न है। शुरू में एकाध लेख ('हमारा पहला त्यागपत्र') मैंने जरूर लिखा, पर मुझे हास्य-भरे लेखो की वजाय हास्य-भरी कहानियाँ लिखना ज्यादा पसन्द रहा।

(अपना नाम मैं अपने इन उर्दू साथियों के साथ इसलिए ले रहा हूँ कि मैंने अपनी अधिकांश हास्यरस की कहानियाँ १९३५ से '४७ तक लिखीं—याने कि जव तक मै प्रायः अपना पहला मसौदा उर्दू मे तैयार करता रहा। वाद में मैने इलाहावाद आ कर 'तकल्लुफ,' 'लिरेंजाइटिस,' 'चारा काटने की

---

१. यह लेख लिखते समय अश्क जी ने केवल उस लेख की तीन किस्तें ही पढ़ी थीं। यद्यपि उसकी चार किस्तें छपी है और चौथी में 'रहबर' 'माचवे' आदि पर जोशी ने अपनी परिचित शैली में जोरदार व्यंग्य किया है, पर अश्क जी ने यहाँ पहली तीन किस्तो का ही उल्लेख किया है—सं०।

मशीन,' 'खाली डिब्बा,' 'टोपियाँ और डाक्टर' तथा 'कार्टूनों का नायक' आदि कई सूक्ष्म हास्य-व्यंग-भरी कहानियाँ लिखीं, लेकिन इस क्षेत्र में ज्यादातर काम मैं विभाजन से पहले कर चुका था।)

हास्य-व्यंग्य की मेरी कहानियों के तीन दौर हैं। मेरे यहाँ पहले हास्य किंचित सीधा और फूहड़ था, जैसे 'चपत,' 'डांकी,' 'नहूसत' और 'रोवदाव' आदि मे, फिर उत्तरोत्तर व्यंग्य का मिश्रण लिये हुए आने लगा जैसे 'मनुष्य यह,' 'झटके,' 'जब संतराम ने बेलना उठाया' और 'कैप्टन रशीद' आदि में, फिर तीसरे दौर में वह उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता गया। इस संदर्भ में 'ज्ञानी' और 'चारा काटने की मशीन,' 'खाली डिब्बा' और 'कार्टूनों का नायक' उल्लेखनीय है।...**व्यक्तिगत रूप से मैं उस कहानी को बेहतरीन मानता हूँ, जिसमें हास्य-व्यंग्य के साथ पात्र के लिए मन में सहानुभूति अथवा करुणा भी उपज जाय। लेकिन ऐसी कहानियाँ रोज नहीं लिखी जा सकतीं।** मंटो की 'टोवाटेक सिह' और वेदी की 'सिर्फ़ एक सिगरेट' इसके प्रमाण हैं। मेरे यहाँ शायद दो-तीन ही कहानियाँ ऐसी हैं—'कैप्टन रशीद,' 'मि० घटपाण्डेय' तथा 'चारा काटने की मशीन'। इनमें 'कैप्टन रशीद' मेरी अच्छी कहानियो में से एक है। 'घट-पाण्डेय' का अंत करुण है। उसमे हास्य-व्यंग्य भी है और त्रासदी भी और पाठकों और आलोचकों को उसी त्रासदी के कारण उसे हास्य-व्यंग्य की कहानियो में गिनना स्वीकार नही। लेकिन जब कोई व्यक्ति अपनी ही मूर्खता से गिरता है और चोट खा जाता है तो पहले उसकी मूर्खता पर दिल-ही-दिल मे हँसी आती है, बाद में भले ही उसका करुण अंत दर्द उपजा दे। 'चारा काटने की मशीन' और भी गहरी कहानी है, विभाजन के दिनो अपने मित्रो, पड़ोसियो को चारा काटने वाली मशीन की-सी बेहिसी से कत्ल करने वालो पर गहरा व्यंग्य करती है। सरदार लहनासिंह की स्थिति हास्य भी उपजाती है और करुणा भी। यदि मुझे केवल एक कहानी चुननी हो तो शायद मैं 'चारा काटने की मशीन' ही को चुनूं।

हास्य लिखने वाले तो और भी है, लेकिन दो नाम इस संदर्भ में और सामने आते है, डॉ० शफीकुर्रहमान और फिक्र तौसवी।...**शफ़ीकुर्रहमान**—ने ज़्यादा हास्य नही लिखा (यह भी हो सकता है कि मैंने ही उनकी कम रचनाएँ पढ़ी हो) उनके हास्य में कुछ अजीब चुलबुलापन है। मैंने उनकी एक रचना 'रिव्यू' 'संकेत : उर्दू' में छापी थी, जिसमे उन्होने बड़े ही, लगभग कन्हैयालाल

कपूरियन अन्दाज़ में नयी कविता और उसके समालोचको को मजाक का निशाना बनाया है।

फ़िक्र तौंसवी—का उल्लेख मैं इसलिए यहाँ कर रहा हूँ कि वे उर्दू के बडे ऊँचे पाये के शायर रहे है और यदि विभाजनोपरान्त ज़िन्दगी का संघर्ष उन्हे उर्दू-हिन्दी 'मिलाप' का कॉलमनिस्ट न बना देता तो शायद उनका हास्यकार उभर कर सामने न आता। वे दैनिक 'मिलाप' मे 'प्याज़ के छिलके' नामक कॉलम लिखते है, जो हर रोज़ या हर सप्ताह छपता रहा है। उनमें और परसाई के कालमो में कुछ अजीब-सी समानता है। शायद इसलिए कि दोनों विचारों के लिहाज़ से प्रगतिशील है और देश के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक ढोंग का पर्दा बड़ी निर्ममता से फाश करते है। मैने फ़िक्र को उर्दू लेखकों में केवल इसलिए लिया है कि वे उर्दू के लेखक रहे हैं, हालाँकि उनकी सभी रचनाएँ मैने हिन्दी के माध्यम से हिन्दी 'मिलाप' के साप्ताहिक संस्करणों, 'कादम्बिनी,' 'नयी कहानियाँ,' 'नयी सदी' आदि पत्र-पत्रिकाओ में पढ़ी हैं। फ़िक्र ने कॉलमों के अलावा स्वतंत्र रचनाएँ भी लिखी है, जिनमें 'संकेत : उर्दू' में छपी—'आह स्वर्गीय फिक्र तौंसवी,' 'अपने जन्म दिन पर,' और हाल ही में 'बीसवी सदी' में प्रकाशित 'खत लिखेंगे गरचे...' उल्लेखनीय है और फ़िक्र के व्यंग्य की शक्तिमत्ता का प्रतिनिधित्व करती हैं। रचनाएँ तो उनकी और भी पढी है, पर उनके शीर्षक याद नहीं रहे।

लिखने को उर्दू में ए० हमीद, इब्राहीम जलीस ने भी हास्य-व्यंग्य के लेख लिखे है, पर वे पहले के हास्य-व्यंग्य की छाया-मात्र है।

हिन्दी के पुराने हास्यकार

मैं यह पहले ही स्वीकार कर लूँ कि निरन्तर कई वर्षों तक उर्दू के मँजे हुए हास्यकारों की रचनाएँ पढ़ने के बाद हिन्दी के पुराने हास्यकार मुझे बहुत अच्छे नही लगे। बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, शिवपूजन सहाय—इन सब की रचनाएँ मुझे उर्दू के आरम्भिक दौर के हास्यकारो-ऐसी लगी—सर सैयद अहमद खाँ, डिप्टी नज़ीर अहमद, ख्वाजा हसन निज़ामी वगैरह जैसी। इसीलिए उन्हे पढ़ने में वैसी रुचि नही हुई। जैसा कि मै लिख चुका हूँ, आरम्भिक दौर के उर्दू-हिन्दी व्यंग्यकारों में अंग्रेज शासकों के प्रति आम शिकायत पाई जाती है, लेकिन उनमे वह पैना व्यंग्य अथवा हास्य का पहलू नही, जो बाद के लेखकों की विशेषता है।

मेरे कॉलेज के दिनों मे हिन्दो मे **श्री जी० पी० श्रीवास्तव** का बड़ा नाम था। 'लतखोरीलाल,' 'भेड़ियाधसान' वगैरह उनकी कुछ रचनाएँ पढ़ी, पर जमी नही।

पुरानो मे अन्नपूर्णानन्द वर्मा, बेढब बनारसी, बाबू गुलाबराय और सुदर्शन मुझे फिर भी अच्छे लगे। १९३५ के विशाल भारत के फरवरी और मई के अंको मे **श्री अन्नपूर्णानन्द वर्मा** की दो रचनाएँ 'प्रकाशक पंचदशी' और 'शृंगार रस' छपी थी, जो मुझे अच्छी लगी थी। पहली में उन्होने लेखको की यश-लिप्सा और तत्कालीन प्रकाशको के चपरकनातीपन और 'शृंगार रस' मे कुछ कवियो का खूब मज़ाक उड़ाया था और साथ में उन सुधारकों का भी, जो काव्य में शृंगार-रस के विरोधी हैं। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है 'अकबरी लोटा' भी उन्ही की रचना है, जो हमारे पाठ्यक्रम मे थी। उस हास्य-भरी कहानी को याद आज भी है।

बेढब बनारसी—की रचनाएँ नज़र से गुज़री है, पर उनका हास्य फूहड़ है, उसमें सूक्ष्म व्यंग्य नही। यों लिखा उन्होने बहुत है, दो-चार चीज़ें जो पढ़ी, उन्होने मन पर कोई प्रभाव नही डाला। यह भी सम्भव है कि उनकी बहुत अच्छी रचनाएँ मैंने पढ़ी ही नही।

सुदर्शन—के बारे में मै पहले कह चुका हूँ, उन्होंने ज्यादातर बंकिम बाबू की तर्ज़ में लिखा है—'मच्छर' पर लिखे हास्य रस के उनके एक छोटे-से लेख भर की याद है।

बाबू गुलाबराय—में अनुभूतिजन्य सूक्ष्म हास्य है। उनकी एक पुस्तक 'मेरी असफलताएँ' मेरी नज़र से गुज़री है। उसमें उन्होने अपनी और दूसरो की मूर्खताओ पर बड़े प्यारे ढंग से व्यंग्य किया है। उनकी रचना 'मेरा मकान' उनकी कला का प्रतिनिधित्व करती है।

इसी संदर्भ मे मुझे १९३४-'३५ के आस पास 'विशाल भारत' में छपने वाले हास्य-व्यंग्य कॉलम 'चौबे जी की चाय' अथवा 'चाय चक्रम' की याद आती है। चाँद में यदि दुबे जी अपनी चिट्ठी में, जैसा कि मै पहले उल्लेख कर चुका हूँ, देश के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक अनाचारों पर व्यंग्य करते थे तो 'चौबे जी की चाय' के लेखक साहित्यिक अनाचारों की खबर लेते थे। मुझे अच्छी तरह याद है, १९३५ के जिस अंक मे मैंने परशुराम की 'नयी पौध' (सचित्र) पढ़ी थी, उसी मे 'चौबे जी की चाय' के अन्तर्गत एक चित्र छपा था, उसमें दवाइयो की शीशियों से भरी अलमारियों से घिरे और बादाम पाक

के घड़े पर बैठे आचार्य चतुरसेन शास्त्री अपने चेहरे पर बर्नर्ड शा का मुखौटा लगाते हुए शीशा हाथ में लिये हुए थे और काऊंटर के पीछे से उन्हें आश्चर्य मिले क्रोध से देखते हुए बर्नर्ड शा चित्रित थे। 'चाय चक्रम' की जिस रिपोर्ट में यह चित्र छपा था, उसमें चक्रम के सदस्यों द्वारा अत्यन्त हास्य-व्यंग्य-भरे ढंग से रेनालड्स के 'लन्दन दरबार के रहस्य' नामक उपन्यास से की गयी शास्त्री जी की चोरियो का पर्दा फाश किया गया था। 'विशाल भारत' के किसी दूसरे अंक में दुलारे दोहावली का मज़ाक उड़ाते हुए कवि विशारख दत्त की 'चाय सप्तपदी' छपी थी, जो एक तरह से दुलारे दोहावली की पैरोडी थी और जिसका कवि दुलारेलाल भार्गव ही की तरह उसे महाकाव्य कहता था। चक्रम के एक सदस्य ने उसे श्री निराला के पास भेजने की सिफारिश की थी कि वे उसके एक-एक दोहे के दस-दस अर्थ निकालें। बहरहाल, इस ढंग से दुलारे दोहावली के रचयिता और उसके व्याख्याता कवि निराला पर भरपूर व्यंग्य किये गये थे। मुझे उस चाय सप्तपदी के दो दोहे याद हैं :

कामरूप की कामिनी, श्याम सुरंजित गात।
नेहपली लिपटन लली, जग जन जीय जुड़ात ।।
ज्यों मधुहित ललकै मधुप, घन पै मोर लुभाय।
चाहे चन्द्र चकोर ज्यों, त्यों चौबे चित चाय ।।

श्री वनारसीदास चतुर्वेदी गुटबन्द सम्पादक थे। वे अपने गुटवालों को उभारते थे और जिन्हें वे पसन्द नही करते थे, उनके विरुद्ध आन्दोलन चलाते थे और उनका मज़ाक 'चाय चक्रम' में उड़ाते थे, लेकिन उनमे कुछ अजीब साहस और दवंगई और सम्पादकीय दयानतदारी थी कि वे विरोधियो के उत्तर (वे कितने भी उनके खिलाफ क्यों न हों) छापते थे, भले ही वे उनके उत्तर भी उसी दवंगई से देते थे। फ़रवरी १६३५ के 'विशाल भारत' मे जहाँ तक मुझे याद है, पडित वनारसीदास चतुर्वेदी ने चिट्ठी-पत्री के अंतर्गत, दुलारेलाल भार्गव के पक्ष मे और अपने विपक्ष में लिखा गया, श्री उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' का आक्रोश-भरा लेख 'वनारसीदास का अनुचित व्यवहार' अविकल छापा था और शायद मार्च के अंक में फिर उनका मजाक उड़ाया था। 'धर्मयुग,' 'सारिका' अथवा 'दिनमान' के वर्तमान सम्पादको की-सी कायरता, वददयानती और साहसहीनता उनमें नहीं थी कि वे जिनका मज़ाक उड़ायें, उनके उत्तरो को एकदम दवा जायँ या वहुत देर वाद छापें जव कि उनकी सामयिकता ही खत्म हो जाय। (मुझे इन तीनों सम्पादकों का अनुभव है, इसीलिए मैंने यह वात लिखी है।) हास्य-

हूँ और मुझे कभी-कभी खेद होता है कि उन्होंने इन दो विधाओं को अपना अधिकांश समय क्यों नही दिया और क्यों कुण्ठित हुए। उनके कवि और व्यंग्य-कार मे किसी से कम प्रतिभा नही, कमी है तो केवल एकाग्रता की।

राधाकृष्ण—हिन्दी साहित्य की नयी पौध राधाकृष्ण का नाम भी भूल गयी है, लेकिन एक जमाने में राधाकृष्ण न केवल उत्कृष्ट कहानियाँ लिखते थे (बिहार की महामारी पर लिखी हुई उनकी कहानी 'एक लाख सत्तानवे हज़ार आठ सौ अस्सी' की याद भुलाये नहीं भूलती) वरन 'घोस, वोस, बनर्जी, चटर्जी' के नाम से हास्य-व्यंग्य-भरी सफल कहानियाँ भी लिखते थे। उनको कहानी 'प्रोफेसर भीम भंटराव' आज भी मुझे याद है।

इसी संदर्भ मे दो और ऐसे पुराने लेखको का जिक्र करना चाहता हूँ, जिनका अधिकांश समय शिक्षा-सम्बन्धी सरगर्मियो में लगा, पर जिन्होंने शौकिया हास्य-व्यंग्य भी लिखा। **पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी**—अपनी ज़िन्दगी के अधि-काश वर्ष शिक्षा विभाग से सम्बन्धित रहे। इधर वे कई वर्ष से 'सरस्वती' का सम्पादन कर रहे है। उनके हास्य-व्यंग्य भरे निबन्धो-संस्मरणों का संग्रह 'राज-भवन की सिगरेटदानो' छपा है, पुरानी शैली के बावजूद पुस्तक काफ़ी रस दे दे जाती है। दूसरे लेखक है—**पं० सीताराम चतुर्वेदी**। किसी कॉलेज के प्रिंसिपल है। मैंने उनके ओजपूर्ण भाषण तो दो-एक बार सुने, पर वे कहानियाँ भी लिखते है, यह नही मालूम था। फिर न जाने किस पत्रिका में—किसी प्रसिद्ध पत्रिका में नही—मैंने उनकी कहानी 'माननीय शिक्षामंत्री लेले' पढ़ी और फिर कुछ अरसा बाद 'प्यादा से फरजी भयो' और अपनी क्लिष्ट संस्कृतनिष्ठ भाषा, पुरानी उपमाओ भरी शैली के बावजूद मुझे दोनो कहानियाँ अच्छी लगी। दोनो कहानियाँ मंत्रियो के घटियापन और मूर्खता पर उनके पुराने सहपाठियों की ओर से लिखी गयी है और कही-कही बेतरह हँसा जाती है। यह दुर्भाग्य है कि पंडित सीताराम चतुर्वेदी की कहानियों का कोई संग्रह नही छपा।

अमृतराय—ने भी हास्य-व्यंग्य भरे निबन्ध और कुछ कहानियाँ लिखी है। उनके हास्य-व्यंग्य की यह विशेषता है कि उन्हें पढ़ कर आदमी संजीदा हो जाता है। मै समझता हूँ ऐसा संजीदा हास्य लिखने वाले वे अकेले है। यो तो 'वंश दीप उर्फ़ घोड़े हँसते है,' 'लाट साहब की आमद,' 'किस्सा अलिफ़ लैला' आदि उनकी बहुत-सी ऐसी कहानियाँ हैं जो ऐसा संजीदा हास्य प्रस्तुत करती है, पर इस संदर्भ में उनकी कहानी 'काली मोटर' और उनका निबन्ध 'संगीत सम्मेलन' उल्लेखनीय है। इनमें भी 'संगीत सम्मेलन' मुझे बहुत अच्छा लगा कि उसमें लगातार

हास्य-व्यंग्य के छींटे हैं, जो मन-ही-मन हँसाते और संजीदा बनाते हैं।

श्री केशवचन्द्र वर्मा ने अपने संग्रह 'आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य' में कुट्टि चातन का एक निबन्ध संकलित किया है। मैंने कुट्टि चातन के व्यंग्य लेखों को कई बार पढने का प्रयास किया है। मैं समझता हूँ कि यदि उनके नीचे ब्रैकेट में यह लिखा रहे कि 'इस निबन्ध को पढ कर आप बोर होने के लिए तैयार रहें' तो शायद वे निबन्ध इसी कारण पढ़े जा सकें। कुट्टि चातन के नाम से जो लेखक लिखता है, वह दूसरों की मूर्खता पर चाहे हँस सकता है (वह भी शायद मन-ही-मन) लेकिन अपनी मूर्खताओं पर भी हँस सकते है, इसमें मुझे संदेह है। और जो अपनी मूर्खताओ पर नही हँस सकते, दूसरों की मूर्खताओं पर भी नही हँस सकते। हास्य उत्पन्न करने के उनके प्रयास प्रायः हास्यास्पद हो जाते हैं।....इन लेखको में ऐसे भी होते हैं जिनकी हास्य-प्रस्तुति पर रोना आने लगता है। लेखक पर भी और अपने आप पर भी। हिन्दी साहित्य मे हास्य प्रस्तुत करने के ऐसे प्रयास शुरू से होते रहे है, पर उनका उल्लेख करके मै अपना और पाठको का ज़ायका नही बिगाड़ना चाहता।

नये हास्यकार

पुरानी पीढ़ी के बाद जो बीच की पीढ़ी आयी, उसने हास्य-व्यंग्य को निश्चित ही वहुत आगे वढ़ाया है। यह कहना तो शायद मुश्किल है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'परतस' ऐसा एक भी हास्यकार पैदा हुआ है, (यद्यपि उनका प्रभाव कुछ के यहाँ स्पष्ट परिलक्षित हैं) लेकिन सभी हास्यकारो का मिला-जुला प्रभाव उर्दू के हास्य-रस के मिले-जुले प्रभाव से कही ज्यादा है। यो कभी-कभी इस वात का अफसोस होता है कि हमारे नये हास्यकार, हमारे वहुत से नये कथाकारो की तरह, अपनी रचनाओं पर श्रम नही करते। प्रतिभा उनमे है और लिख भी देते हैं और हँसा भी देते हैं, पर उनकी रचनाएँ स्थायी रूप से मन पर प्रभाव नही छोड़ती और वे ज्यादा-से-ज्यादा कन्हैयालाल कपूर अथवा शौकत थानवी तक पहुँच पाते है।

लेकिन कथाकारो ने अज़ीम वेग चगताई से कहीं वेहतर हास्यरस की कहानियाँ लिखी है—इसमें कोई सन्देह नही।

केशवचन्द्र वर्मा—नये हास्यकारो में सवसे पहले केशवचन्द्र वर्मा का नाम जेहन में आता है। जव मैं इलाहावाद में आया तो वे युनिवर्सिटी ही में पढ़ते थे और अवधी में हास्यरस की कविताएँ लिखते थे। मुझे उन कविताओं का खुला

व्यंग्य के संदर्भ में 'चाय चक्रम' की रपोर्ट पठनीय और उल्लेखनीय है।

हिन्दी कथाकारों के यहाँ हास्य

इससे पहले कि मैं हिन्दी कथाकारो के हास्य-व्यंग्य को लूँ, मैं महाकवि निराला के लघु उपन्यास 'बिल्लेसुर बकरिहा' का उल्लेख करना चाहूँगा। निराला कवि के ही नही, महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं, लेकिन उन्होने कुछ बडे तीखे व्यंग्य-भरे लेख, कहानियाँ और एक लघु-उपन्यास भी लिखा है। मुझे उनके 'चाबुक' और 'प्रबन्ध प्रतिमा' में संकलित निबन्धों की याद आती है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' मै दो बार पढ़ चुका हूँ और मैं उसे हिन्दी के लघु उपन्यासो मे चन्द उत्कृष्ट रचनाओं में से एक गिनता हूँ। उसमें कुछ अजीब शुष्क हास्य (dry humour) और तीखा व्यंग्य, अपूर्व विद्रोह और जिजीविषा है, जो निराला के व्यक्तित्व के अनुरूप ही है।

लेकिन हास्य-लेखकों की अपेक्षा हिन्दी के कथाकारों के यहाँ बेहतर हास्य मिलता है।—इस संदर्भ में सब से पहले **प्रेमचन्द** की हास्य-भरी कहानियों की याद आती है, जिनमें मोटे राम शास्त्री' और उसी सीरीज़ की 'सत्याग्रह' का स्मरण सब से पहले आता है। 'मोटे राम शास्त्री' जब छपी थी तो खूब शोर मचा था। उसमे व्यंग्य की अपेक्षा हास्य का पुट ज़्यादा था और जब पढी थी तो मारे हँसी के पेट में बल पड़-पड़ गये थे। लेकिन उसकी उपेक्षा मुझे 'बड़े भाई साहब,' 'मनोवृत्तियाँ' और 'नशा' ज़्यादा पसन्द है, जिनके हास्य मे व्यंग्य का झीना-सा पुट है। फिर 'कफ़न' जिसके हास्य मे करुणा और दारुणता है।

भगवतीचरण वर्मा—की कहानी 'दो बाँके' अपनी तरह की खूब कहानी है और लखनऊ के बाँको पर सटीक व्यंग्य करती है। नाम तो उनकी कहानी 'मुगलो ने सल्तनत बख्श दी' का भी बहुत है, पर उसमें वह बात नही। कम-से-कम मुझे नही लगी। उनके संग्रह 'इन्स्टालमेंट' की कहानियो में भी हास्य-मिला व्यंग्य है। मुझे कहानी का नाम भूल गया है, शायद 'प्रेज़ेंट्स,' जिसमें एक आदमी एक युवती के ड्राइंग रूम में जाता है, उसके आने की प्रतीक्षा मे वह ड्राइंग रूम की बहार देखता है; जो चीज़ उठाता है उसके नीचे किसी की प्रेमपूर्ण भेंट की चिट लगी है। उस कहानी का हास्य-व्यंग्य बड़ा सूक्ष्म है।

यशपाल—की ढेरो कहानियों में ऐसा व्यंग्य है, जो मन पर असर डालता है, लेकिन हास्य मिले व्यंग्य के संदर्भ में उनकी कहानियाँ 'धर्म युद्ध,' 'असी बटा

सौ' तथा उनका संस्मरण 'मैने मिश्र-बन्धुओ को कहानी सुनायी' मुझे बहुत अच्छा लगा। जब-जब मैंने इन रचनाओ को पढ़ा, मजा दे गयी।

इसी सिलसिले में **अमृतलाल नागर** की याद आती हैं। डा० रामबिलास शर्मा तो उन्हे अव्वल-आखिर हास्यकार मानते हैं। हालाँकि मैं उनसे सहमत नही। उनके उपन्यास इस बात का प्रमाण है कि वे महज हास्य-व्यंग्य के लेखक नही, गम्भीर साहित्यकार है। हाँ, हास्य-व्यंग्य उनकी शैली का एक बड़ा गुण है जिससे वे अपने कथ्य की गम्भीरता उभार देते हैं। नागर जी की शैली में अजीब चुलबुलापन है। बहुत पहले लिखी उनकी रचनाओ—'सेठ बाँकेमल' और 'नवाबी मसनद' में उनके आरम्भिक हास्य के नमूने मिलते है। 'डाग्डर मोगाराम' के माध्यम से (जो सेठ बाँकेमल-सीरीज ही की रचना है।) उन्होने लालाओ की हिन्दी और उनकी लनतरानियो का खूब नक्शा खीचा है। कुछ वर्ष पहले उनकी एक कहानी 'लंगूरा' पढी थी, जो हास्य-व्यंग्य के लिहाज से मन पर अमिट छाप छोड़ गयी। नागर जी का व्यंग्य पैना, अचूक सहसा हँसा देने वाला और दृष्टि प्रगतिशील है। खड़ी बोली के बोलचाल के रूपों पर उनकी पकड़ पोढ़ी है और इसके प्रयोग से वे ऐसा असर पैदा करते हैं, जो मन को बाँध लेता है।

प्रभाकर माचवे—पुराने हास्य-व्यंग्य लेखको मे यद्यपि प्रभाकर माचवे का नाम कभी नही लिया गया, पर मैंने जब-जब उनके हास्य-व्यंग्य लेखों का संग्रह 'खरगोश के सीग' पढ़ा है, मुझे उसमें 'एक कुत्ते की डायरी,' 'गाली,' 'नम्बर ८ का जादू,' 'छाता,' 'ऑटोग्राफ बटोरक, 'मकान,' 'खुशामद,' 'पं० महासंस्कृतानन्द शास्त्री' हमेशा रस दे गये है। माचवे जी को इस बात की शिकायत है कि उनकी प्रतिभा को हिन्दी वालो ने नही पहचाना और उन्हें उनका उचित दाय नही दिया। मेरे सामने जब-जब उनका नाम आया है, मुझे हमेशा लगा है कि अपने सबसे बड़े शत्रु वे स्वयं आप है। यदि 'खरगोश के सीग' ऐसे पाँच-दस संग्रह उन्होंने लिखे होते (और प्रकट है कि उनका हास्य-व्यंग्य उत्तरोत्तर मँजता) और साथ-साथ अपने काव्य की साधना एकाग्र हो कर की होती तो जिन लोगो से आज उन्हे ईर्ष्या है, उन्हे स्वयं माचवे जी से ईर्ष्या होती। पर दुर्भाग्य से उन्होने अपनी प्रतिभा को दसो दिशाओ मे बिखर जाने दिया। जो भी विषय सामने आया, उस पर कुछ-न-कुछ घर घसीटा। इससे उनके साहित्यकार का कोई प्रभाव नही पड़ता। किसी ने कहा कि माचवे जी का दावा है कि उन्होने हिन्दी साहित्य को बायें हाथ से लिखा है। मेरा निवेदन है कि इसीलिए हिन्दी साहित्य ने उन्हें बाये हाथ पर धरा है। मैं उनके हास्य-व्यंग्यकार और कवि का प्रशंसक

हूँ और मुझे कभी-कभी खेद होता है कि उन्होंने इन दो विधाओ को अपना अधिकांश समय क्यों नही दिया और क्यों कुण्ठित हुए। उनके कवि और व्यंग्य-कार में किसी से कम प्रतिभा नहीं, कमी है तो केवल एकाग्रता की।

राधाकृष्ण—हिन्दी साहित्य की नयी पौध राधाकृष्ण का नाम भी भूल गयी है, लेकिन एक जमाने मे राधाकृष्ण न केवल उत्कृष्ट कहानियाँ लिखते थे (बिहार की महामारी पर लिखी हुई उनकी कहानी 'एक लाख सत्तानबे हज़ार आठ सौ अस्सी' की याद भुलाये नही भूलती) वरन 'घोस, बोस, बनर्जी, चटर्जी' के नाम से हास्य-व्यंग्य-भरी सफल कहानियाँ भी लिखते थे। उनकी कहानी 'प्रोफेसर भीम भंटराव' आज भी मुझे याद है।

इसी संदर्भ में दो और ऐसे पुराने लेखको का जिक्र करना चाहता हूँ, जिनका अधिकांश समय शिक्षा-सम्बन्धी सरगर्मियो में लगा, पर जिन्होने शौकिया हास्य-व्यंग्य भी लिखा। **पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी**—अपनी ज़िन्दगी के अधि-कांश वर्ष शिक्षा विभाग से सम्बन्धित रहे। इधर वे कई वर्ष से 'सरस्वती' का सम्पादन कर रहे है। उनके हास्य-व्यंग्य भरे निबन्धो-संस्मरणो का संग्रह 'राज-भवन की सिगरेटदानी' छपा है, पुरानी शैली के बावजूद पुस्तक काफ़ी रस दे दे जाती है। दूसरे लेखक है—**पं० सीताराम चतुर्वेदी**। किसी कॉलेज के प्रिंसिपल है। मैंने उनके ओजपूर्ण भाषण तो दो-एक बार सुने, पर वे कहानियाँ भी लिखते है, यह नहीं मालूम था। फिर न जाने किस पत्रिका मे—किसी प्रसिद्ध पत्रिका में नही—मैंने उनकी कहानी 'माननीय शिक्षामंत्री लेले' पढ़ी और फिर कुछ अरसा बाद 'प्यादा से फरजी भयो' और अपनी क्लिष्ट संस्कृतनिष्ठ भाषा, पुरानी उपमाओ भरी शैली के बावजूद मुझे दोनो कहानियाँ अच्छी लगी। दोनो कहानियाँ मंत्रियों के घटियापन और मूर्खता पर उनके पुराने सहपाठियो की ओर से लिखी गयी है और कही-कहीं बेतरह हँसा जाती है। यह दुर्भाग्य है कि पंडित सीताराम चतुर्वेदी की कहानियों का कोई संग्रह नही छपा।

अमृतराय—ने भी हास्य-व्यंग्य भरे निबन्ध और कुछ कहानियाँ लिखी है। उनके हास्य-व्यंग्य की यह विशेषता है कि उन्हें पढ़ कर आदमी संजीदा हो जाता है। मै समझता हूँ ऐसा संजीदा हास्य लिखने वाले वे अकेले हैं। यों तो 'वंश दीप उर्फ घोड़े हँसते है,' 'लाट साहब की आमद,' 'किस्सा अलिफ़ लैला' आदि उनकी बहुत-सी ऐसी कहानियाँ हैं जो ऐसा संजीदा हास्य प्रस्तुत करती है, पर इस संदर्भ में उनकी कहानी 'काली मोटर' और उनका निबन्ध 'संगीत सम्मेलन' उल्लेखनीय हैं। इनमें भी 'संगीत सम्मेलन' मुझे बहुत अच्छा लगा कि उसमें लगातार

हास्य-व्यंग्य के छीटे है, जो मन-ही-मन हँसाते और संजीदा बनाते है ।

श्री केशवचन्द्र वर्मा ने अपने संग्रह 'आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य' में कुट्टि चातन का एक निबन्ध संकलित किया है । मैंने कुट्टि चातन के व्यंग्य लेखो को कई वार पढने का प्रयास किया है । मै समझता हूँ कि यदि उनके नीचे ब्रैकेट में यह लिखा रहे कि 'इस निवन्ध को पढ़ कर आप बोर होने के लिए तैयार रहें' तो शायद वे निबन्ध इसी कारण पढ़े जा सकें । कुट्टि चातन के नाम से जो लेखक लिखता है, वह दूसरो की मूर्खता पर चाहे हँस सकता है (वह भी शायद मन-ही-मन) लेकिन अपनी मूर्खताओं पर भी हँस सकते है, इसमे मुझे संदेह है । और जो अपनी मूर्खताओं पर नही हँस सकते, दूसरों की मूर्खताओ पर भी नही हँस सकते । हास्य उत्पन्न करने के उनके प्रयास प्रायः हास्यास्पद हो जाते है ।....इन लेखको में ऐसे भी होते है जिनकी हास्य-प्रस्तुति पर रोना आने लगता है । लेखक पर भी और अपने आप पर भी । हिन्दी साहित्य में हास्य प्रस्तुत करने के ऐसे प्रयास शुरू से होते रहे है, पर उनका उल्लेख करके मै अपना और पाठको का ज़ायका नहीं विगाडना चाहता ।

नये हास्यकार

पुरानी पीढ़ी के बाद जो वीच की पीढ़ी आयी, उसने हास्य-व्यंग्य को निश्चित ही वहुत आगे वढ़ाया है । यह कहना तो शायद मुश्किल है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य मे 'परतस' ऐसा एक भी हास्यकार पैदा हुआ है, (यद्यपि उनका प्रभाव कुछ के यहाँ स्पष्ट परिलक्षित है) लेकिन सभी हास्यकारो का मिला-जुला प्रभाव उर्दू के हास्य-रस के मिले-जुले प्रभाव से कही ज्यादा है । यो कभी-कभी इस वात का अफसोस होता है कि हमारे नये हास्यकार, हमारे वहुत से नये कथाकारो की तरह, अपनी रचनाओं पर श्रम नही करते । प्रतिभा उनमें है और लिख भी देते है और हँसा भी देते हैं, पर उनकी रचनाएँ स्थायी रूप से मन पर प्रभाव नही छोडती और वे ज़्यादा-से-ज़्यादा कन्हैयालाल कपूर अथवा शौकत थानवी तक पहुँच पाते है ।

लेकिन कथाकारो ने अजीम वेग चगताई से कहीं वेहतर हास्यरस की कहानियाँ लिखी है—इसमें कोई सन्देह नही ।

केशवचन्द्र वर्मा—नये हास्यकारों में सवसे पहले केशवचन्द्र वर्मा का नाम ज़ेहन में आता है । जव मै इलाहावाद में आया तो वे युनिवर्सिटी ही में पढते थे और अवधी मे हास्यरस की कविताएँ लिखते थे । मुझे उन कविताओ का खुला

हास्य-व्यंग्य इतना अच्छा लगता था कि एक वार मैंने उन कविताओं का संकलन छापने की भी सोची थी, पर तव अनुभव नही था, जव स्क्रिप्ट ले लिया और कुछ चित्र भी बनवा लिये और खर्च का हिसाव लगाया तो लगा कि हमारे बस का नही। शुरू के दिन थे, सरकार से कर्ज ले कर रुपया लगाया था, इसलिए कोई जोखिम उठाना कठिन था। लेकिन मुझे उन हास्य-भरी कविताओं की याद आज भी है।

इसके वाद मैंने केशव की एक-दो हास्य रचनाएँ पढी, जिनमे लगा कि खाहमखाह प्रगतिशीलों का मजाक उड़ाया गया है। उनकी एक रचना 'मीरा-एक प्रगतिशील कवयित्री' की वड़ी तारीफ सुनी। पढ़ी तो मुझे वहुत अच्छी नही लगी। यद्यपि उसका आइडिया अच्छा है, पर उसका हास्य वरवस खिंचा हुआ लगता है। अतिशयोक्ति हास्यरस मे उचित और कही-कही अनिवार्य होती है, पर उतनी नही कि प्रकटत. अस्वाभाविक लगे। फिर किसी ने 'लोमडी का माँस' की प्रशंसा की। जव स्वयं एक हास्यरस के लेखक ने की, तो लगा कि इसे पढना चाहिए। संग्रह मेरी लाइब्रेरी में था, पर केवल नाम की वजह से न पढ़ा था। 'लोमड़ी का माँस' हास्यरस की रचना हो सकती है, इसका विश्वास नही हुआ। बहरलाल, केशव की यह पहली रचना है, जो मुझे अच्छी लगी। फिर तो उनकी रचनाओ मे दिलचस्पी वढ़ी और [illegible]-ढूँढ कर उनकी सोलह-सत्रह कहानियाँ पढ़ गया और यह जान कर मुझे हैरत हुई कि मैं, जो यह समझता था, केशव की हर रचना में कम्यूनिस्ट पार्टी पर या प्रगतिशीलों पर छीटाकशी की गयी है, कितना गलत था। उनकी हास्यरस की कहानियो में 'जो मै ऐसा जानती' का उल्लेख मै अपनी पुस्तक 'हिन्दी कहानियाँ और फ़ैशन' में कर चुका हूँ। उस कहानी के अतिरिक्त मुझे 'काले डिब्बों वाली चर्खी,' 'सही-वटे का चक्कर,' 'प्रमोशन का अर्थशास्त्र,' 'जय जनधारा' और 'मुर्ग छाप हीरो' अच्छी लगी ('मुर्ग छाप हीरो' भी मैंने उसी कारण नही पढ़ी थी, जिस कारण 'लोमड़ी का माँस') उनकी कुछ अन्य कहानियाँ है, जो थोड़ी कल्पना और मेहनत से बेहतर और यादगार वन सकती थी, पर शायद मेहनत करने की आदत केशव को नही। उनकी रचनाएँ पढ़ कर मुझे किसी ऐसे बच्चे का ध्यान आता है, जो बड़े मनोयोग से चित्र मे से देख-देख कर, ब्लाक पर ब्लाक रखते हुए इमारत खड़ी करता है, पर आधे ही मे ऊब जाता है और जल्दी-जल्दी किसी-न-किसी तरह उसे खत्म कर देता है। 'गोभी का फूल,' 'केर बेर को संग,' 'गणेश की

स्टेनोग्राफरी,' 'हड़ताली बाबू' और 'एक गलत साइनबोर्ड का दर्द' ऐसी ही कहानियाँ हैं।

केशव की अधिकांश कहानियों का व्यंग्य नौकरशाही, रिश्वतखोरी, लाल फीता और दफ्तरी जिन्दगी पर है। इस जीवन का उन्हें पर्याप्त अनुभव भी है और अपनी कहानियो में उन्होंने इसका खूब मज़ाक उडाया है।

श्रीलाल शुक्ल—की पहली रचना मैंने कहाँ पढ़ी मुझे याद नहीं। केवल इतना याद है कि मुझे वह अच्छी लगी थी। झीना-झीना, छीलता-सा, मन-ही-मन मुस्कान उपजाता-सा व्यंग्य। फिर मैंने लखनऊ के बारे में उनका संस्मरण पढा और मुझे लगा कि हिन्दी के हास्य व्यंग्य मे मँजाव के जिस अभाव की, फूहडता की मुझे शिकायत रही है, वह श्रीलाल के यहाँ नही है। 'पतरस' की रचनाओं मे जो आनन्द मिलता था, कुछ वैसा ही आनन्द उनकी रचनाओं मे मिलता है। फिर मैं उनका हास्य-व्यंग्य संग्रह 'अंगद का पाँव' खरीद लाया और सारे-के-सारे लेख और तीनो कथाएँ यदि दो बार पढ गया तो शायद इसी कारण कि दोबारा पढ सका। श्रीलाल का व्यंग्य बहुत पैना और गहरी मार करने वाला है। उनका दृष्टि-फलक भी विस्तृत है। संस्कृत-हिन्दी साहित्य, कला-काव्य-संगीत से ले कर राजनीतिक, सामाजिक जीवन के किसी-न-किसी अंग पर उनकी कलम प्रहार करती है। मुझे सारे संग्रह मे कोई भी रचना घटिया नहीं लगी। सिर्फ यही लगा कि संग्रह का नाम 'अंगद का पाँव' के बदले कुछ और होता तो अच्छा था। कहानी वह अच्छी है, पर उसका वह नाम नही जमता। खीच-खाँच कर ही उस पर फिट किया जा सकता है। मुझे 'सुकवि-सदानन्द के संस्मरण,' 'शा का भूमिका भाष्य,' 'बैलगाड़ी से,' 'स्वर्णग्राम और वर्षा' और 'साहब का बाबा' रचनाएँ उत्कृष्ट लगी। 'साहब का बाबा' अपने व्यंग्य से मुस्कान ही नही, हास्य भी उपजाता है; अन्त मे सोचने पर भी विवश करता है और उदास भी कर जाता है, जो कि श्रेष्ठ रचना का गुण है। वर्तमान हास्य-व्यंग्यकारो मे केवल श्रीलाल शुक्ल ऐसे लेखक लगते है, जो अपनी रचनाओं—उनके शिल्प, भाषा, प्रभावान्विति पर ध्यान रखते हैं। शायद इसीलिए कि लेखन उनके लिए आजीविका का साधन नही और वे मन-मुताबिक उस पर श्रम कर सकते है।

परसाई—हिन्दी के वर्तमान व्यंग्य लेखको में हरिशंकर परसाई का स्थान सर्वोपरि है। शायद इसलिए कि वे वेथकान लिखते है, अच्छा लिखते हैं, महज हास्य के लिए और शौक के लिए नही लिखते, सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक कुरीतियो, धूर्तताओं, रियाकारियों का पर्दा ऐन चौराहे पर फ़ाश करते है। उनके

अनुभव गहरे, दृष्टि साफ, वाकविदग्धता (विट) मे कौंधे की लपक और व्यंग्य मे नश्तर की-सी तेजी है। परसाई को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने हास्य व्यंग्य को हिन्दी मे लोकप्रिय बनाया। यह उन्ही के दम से है कि आज हिन्दी का प्रत्येक साप्ताहिक अथवा मासिक हास्य-व्यंग्य का कॉलम रखने को विवश है। अपने व्यंग्य-लेखों और कहानियो के माध्यम से वे हमारे अपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रो की विसंगतियो को उभार कर रख देते है और तर्क का साथ नही छोडते। यों तो जब-जब उनकी रचनाएँ पढ़ी है, मुझे अच्छी लगी है, लेकिन उनकी कहानियो में 'जैसे उनके दिन फिरे,' 'सुदामा के चावल,' 'मेनका का तपोभंग,' 'फैमिली प्लैनिंग,' 'वे सुख से नही रहे' मुझे बहुत अच्छी लगी। उनकी पुस्तक 'सुनो भाई साधो' और 'पगडंडियों का जमाना' में जो लेख मैंने पढे है, उनमे मुझे 'हम, वे और भीड़,' 'प्राइवेट कॉलेज का घोपणापत्र,' 'प्रेम प्रसग मे फादर,' 'प्रजावादी समाजवादी,' 'पगडडियो का जमाना' मुझे बहुत अच्छे लगे। 'नयी कहानियाँ' के किसी अंक मे 'एक गोरक्षक से भेंट,' तथा 'निठल्ले की डायरी,' और 'फरिश्ते की डायरी' के जो अध्याय मैंने पढे वे भी मुझे रुचे।

इस सब के बाद किसी बात की शिकायत करना कुछ अपपटा-सा लगता है। लेकिन परसाई के संग्रहों को पढते हुए लगातार महसूस हुआ है कि चाहे लेख, कॉलम और कहानियाँ उन्होने जल्दी मे पत्र-पत्रिकाओ के लिए लिखी हों, पर पुस्तक रूप मे छापते समय उन्हे उनमे संशोधन, परिवर्त्तन और परिमार्जन करना चाहिए था। एक ही बात या घटना के बारे में यदि आप कुछ पृष्ठ पहले पढ चुके हो और फिर वह सामने पडती है तो मन को बुरा लगता है और कुछ ठगाई का एहसास होता है। फिर जो रचनाएँ किसी कॉलम के अन्तर्गत अच्छी लगती है, इकट्ठी छपने पर बोर करने लगती है, इसलिए पुस्तक रूप मे छपते वक्त उनमें काट-छाँट और उनका परिष्कार करना जरूरी है। परसाई अपने प्रमाद, आलस्य अथवा व्यस्तता का बहाना कर सकते है, लेकिन साहित्य के पाठक को इससे सन्तोप नहीं होता। श्रीलाल शुक्ल के पास परसाई की दृष्टि और परसाई के पास श्रीलाल शुक्ल का मँजाव हो तो हिन्दी साहित्य का हास्य-व्यंग्य अपनी प्रगति के शिखरों को छू ले।

शरद जोशी—का नाम परसाई के साथ ही आता है। उन्होने भी परसाई की तरह अपने व्यंग्य-लेख 'नयी दुनिया' (इन्दौर) से शुरू किये और धीरे-धीरे अपने व्यंग्य को ऐसा सान पर चढाया कि उसमे उस्तरे की-सी तेजी आ गयी।

दुर्भाग्य से उनका कोई संग्रह मेरे पास नही और उनकी कई रचनाओं की याद तो है, पर उनका नाम भूल गया हूँ। 'भोपाल' पर शायद उनका लेख पढ़ा था, जो मुझे बहुत अच्छा लगा था। फिर अकविता को देख कर एक टाइपिस्ट को लगता है कि वह भी कविता कर सकता है और वह टाइप पर ही कविता कर देता है। वह लेख अकविता करने वालों पर गहरा व्यंग्य करता था। 'नयी-कहानियाँ के प्रेम-पत्र विशेषांक में उनकी रचना मुझे सर्वाधिक अच्छी लगी थी। वर्तमान हास्य व्यंग्य-लेखको में जोशी मेरे प्रिय लेखक है।

मनोहर श्याम जोशी—यद्यपि मैंने मनोहर श्याम जोशी की केवल एक कहानी 'एक दुर्लभ व्यक्तित्व' पढ़ी है, लेकिन 'धर्मयुग' में उनकी फिल्मी समीक्षा और 'सारिका' में उनके लेख पढने पर उनका विशेष रूप से उल्लेख करने का लोभ मैं संवरण नही कर सकता। मैं जोशी को व्यक्तिगत रूप से ज्यादा नहीं जानता। यह भी नही जानता कि वे अपने लेखन के प्रति गम्भीर है या नही, पर जो थोडा भी मैंने उनके कलम से पढा है, मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ हूँ और समझता हूँ कि यदि वे अपने समय का कुछ भाग निरन्तर साहित्य—विशेषकर हास्य-व्यंग्य—को देते रहे और उसमे दयानतदारी को हाथ से जाने दें तो हिन्दी हास्य-व्यंग्य को वे कुछ ऐसी रचनाएँ दे जायँगे जो निश्चय ही बाद मे भी याद रखी जायँगी।

रवीन्द्रनाथ त्यागी—इन सब के साथ अथवा कुछ देर बाद हास्य-व्यंग्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ त्यागी आते हैं। कहूँ कि खासी तैयारी से आते है, क्योकि अपने पहले संग्रह के साथ ही जम जाते हैं। मै त्यागी के काव्य का प्रशंसक रहा हूँ। पर इधर हास्य-व्यग्य के बाग को भी उन्होने खासा गुलजार बना दिया है। उनके दो संग्रह 'खुली धूप में नाव पर' और 'भित्ति-चित्र' मैंने पढे है। 'भित्ति-चित्र' कुछ दिन पहले ही पढ़ा है। उसमें त्यागी का व्यंग्य सूक्ष्म हो गया है और कहीं-कही मन हठात मुस्करा उठता है। उसे पढते-पढते निरन्तर मुझे उनके पहले संग्रह 'खुली धूप में नाव पर' की याद आती रही। इसमें कोई सन्देह नही कि 'भित्ति-चित्र' का हास्य पहले की अपेक्षा परिष्कृत, सूक्ष्म, सुरुचि-सम्पन्न और सोद्देश्य है, जबकि 'खुली धूप में नाव पर' की रचनाएँ अधिकांशतः हास्य के लिए हास्य की सृष्टि करती हैं और उनका कोई वैसा सामाजिक उद्देश्य नही है। 'भित्ति-चित्र' के व्यंग्यकार को आँख अपने इर्द-गिर्द के परिवेश पर ज्यादा है और उसके चित्रण में उन्होने कल्पना और अतिशयोक्ति से उतना काम नही लिया। लेकिन व्यक्तिगत रूप से मुझे 'खुली धूप मे नाव पर' की कहानियाँ अपनी अतिशयोक्ति,

कल्पना तथा किंचित अतिरंजना के बावजूद अच्छी लगती हैं। उन कहानियों के पात्र कही-कही हास्यास्पद बन गये है, पर उनकी हास्यास्पदता अच्छी लगती है। जैसा कि मैंने पहले कही लिखा है, अतिशयोक्ति हास्य के लिए कभी-कभी ज़रूरी हो जाती है। उससे पात्रों की सनकों और खामियो को उभार देना सम्भव हो जाता है। इसके अलावा 'भित्ति-चित्र' की रचनाओं में कहानीपन कम है, विचारों की प्रधानता है, जवकि 'खुली धूप में नाव पर' में कहानीपन ज़्यादा है। इस सन्दर्भ मे 'कहानी का प्लॉट,' 'डाक्टर पद्मधर की कविता का विकास,' 'इतवार का दिन,' 'एक अ-साहित्यिक प्रयोग' और 'वकील साहव का ख़त' मुझे विशेष रूप से अच्छी लगी हैं। मैंने ये रचनाएँ दो बार पढ़ी है और 'भित्ति-चित्र' के निवन्ध पढ़ते-पढते मुझे इनकी याद बराबर आयी है। 'भित्ति-चित्र' में मुझे 'युगल-मालती उर्फ द्यूत-परिणाम,' 'यदा-यदा ही धर्मस्य' तथा 'एक और परिवार' अच्छी लगी! इधर त्यागी ने कुछ नये हास्य निवन्ध 'सारिका' और 'धर्मयुग' में लिखे है। जिनमें 'मेरी दक्षिण यात्रा' मुझे वहुत अच्छा लगा है।

हास्य-व्यंग्य की इस शोभायात्रा में दो-चार उत्कृष्ट झाँकियाँ ऐसे कथाकारों की ओर से भी आ कर मिल गयी है जो मूलतः हास्यकार नही, गम्भीर कथाकार हैं। इस संदर्भ में मोहन राकेश, फणीश्वरनाथ रेणु और धर्मवीर भारती के नाम उल्लेखनीय हैं।

राकेश—ने कुछ हास्य निवन्ध भी लिखे हैं, पर उनकी कहानी 'परमात्मा का कुत्ता' हास्य-व्यंग्य का उत्कृष्ट नमूना है। उसमे नौकरशाही और उसे ग़च्चा देने वाले पंजाव के एक यमले जाट की दिलचस्प कहानी है, जो सरकारी दफ़्तर के सामने अपने भाई के वीवी-बच्चों के साथ धरना दे कर बैठ जाता है और वार-वार इस वात की धमकी देता है कि उसकी बात न सुनी जायगी तो वह सारे कपडे उतार कर मादरज़ाद नंगा हो कर अफसर के कमरे में घुस जायगा और आखिर दफ़्तर वाले घवरा कर उसकी वात सुन लेते है। 'मिस्टर भाटिया' और 'पाँचवें माले का फ़्लैट' जैसी राकेश की कुछ अन्य कहानियो मे भी हास्य मिला व्यंग्य है, यद्यपि वह कहानी को गम्भीरता को वढाने का काम देता है। 'परमात्मा का कुत्ता' राकेश की अपनी तरह की अकेली कहानो है और नौकरशाही की निर्ममता और उसके वावजूद उसकी घोर कायरता का उद्घाटन करती है।

रेणु—के यहाँ भी वडा सूक्ष्म हास्य मिलता है। 'मारे गये गुलफाम,' 'तीर्थोदक,' 'लाल पान की वेगम' आदि कहानियो और 'एकलव्य के नोट्स'

रिपोर्ताज में, लेकिन जो खुला हास्य रेणु की कहानी 'विकट संकट' में है, वह उनकी दूसरी कहानियों में नही मिलता। विभिन्न बोलियों से पैदा होने वाली हास्यास्पदता (कुछ नही को 'कौच्छ नहीं'! भाई को 'भाय,' माई को 'माय' आदि देहाती प्रयोग) मूर्खो द्वारा बेसमझी से पैदा होने वाली हास्यास्पदता ('एकलव्य के नोट्स में' थियेटर के बीच से विरोधी टोली द्वारा नाटक का सारा सामान उठा कर ले जाया जाना जिसको दर्शन-नाटक का अंग समझते है, 'मारे गये गुलफाम' में हीराबाई के लिए 'रंडी' का शब्द सुनते ही हीरामन का अपने साथियो को ले कर दर्शको पर पिल पड़ना) हास्यास्पद स्थितियो के उभार से पैदा होने वाली हास्यास्पदता ('तीर्थोदक' में बजरंगी चौधरी के गुस्से से घर में होने वाली प्रतिक्रिया तथा गाड़ी में पंडा के सिपाही का अहं तथा उसकी बोली)—इन तमाम स्थितियो से रेणु गम्भीर-से-गम्भीर वातावरण में भी हंसाते चलते है, लेकिन 'विकट संकट' इस संदर्भ में अद्वितीय है और हास्यास्पदता को पकड़ कर चित्रित करने की जो प्रतिभा रेणु ने इस कहानी में प्रदर्शित की है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

भारती—ने 'ठेले पर हिमालय' में तीन व्यंग्य-लेख दिये है। 'गुलिवर की तीसरी यात्रा,' 'हिन्दी भाषा और बंगाले का जादू' और 'डाकखाना मेघदूत : शहर दिल्ली।' इनमें मुझे दूसरा (हिन्दी भाषा और बंगाले का जादू) बहुत अच्छा लगा। 'गुलिवर की तीसरी यात्रा' यदि विद्वेष-जनित न होती तो रचना बेहतर बनती! लेखक का विद्वेष रचना से झलकता है और उसके व्यंग्य की धार गुट्ठल कर देता है। **मैं उस हास्य-व्यंग्य को उत्तम मानता हूँ, जो उस व्यक्ति से भी दाद पा ले जिस पर उसकी चोट की गयी हो।** ऐसा 'गुलिवर की तीसरी यात्रा' में नही है।

शान्ति मेहरोत्रा—का उल्लेख भी मै कथाकारो के संदर्भ में करना चाहूँगा। बहुत पहले उनकी हास्य-व्यंग्य प्रधान रचनाओ का संग्रह 'सुरखाब के पर' पढ़ा था। उसमें केवल एक कहानी 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र : बीसवी सदी में' की याद है; शेष रचनाओ की सिवा इसके कोई याद नही कि उनमें हास्य-व्यंग्य उपजाने के प्रयास किंचित अपरिपक्व और सायास थे। संग्रह के नाम की जो कहानी थी, वह भी मुझे उतनी पसन्द न आयी थी। उसका हास्य बरबस खीचा हुआ लगता था। लेकिन इस बीच शान्ति मेहरोत्रा ने बडी प्रगति की है और उनकी कलम मे बड़ी पुख्तगी आ गयी है—'कुछ पत्र : एक कहानी,' 'दंतकथा,' 'किस्सा रामरत्न के बेटे कुलदीपक का' और 'पारिवारिक गीता का सार' बहुत

अच्छी रचनाएँ है । इनमें 'दंतकथा' और 'किस्सा रामरत्न के बेटे कुलदीपक का' मन को बेतरह गुदगुदा जाता । शान्ति मेहरोत्रा से उत्तरोत्तर बेहतर कहानियों की आशा है ।

०

हिन्दी हास्य-व्यंग्य की लम्बी शोभायात्रा मे (मैंने उर्दू हास्य-व्यंग्य को भी इसलिए यहाँ ले लिया है कि उसका अधिकांश हिन्दी में आ गया है और कृष्ण कपूर, फिक्र और बेदी पहले हिन्दी में छपते है फिर उर्दू मे) कुछ नाम ऐसे भी है, जिनके हास्य की एकाध झलक मुझे मिली है, पर चूँकि मन पर उस झलक का प्रभाव पड़ा है, इसलिए उसका उल्लेख करना मै उचित समझता हूँ।

मार्कण्डेय—की कहानी 'आदर्श कुक्कुट गृह' की याद सबसे पहले आती है। थोडी-सी अतिशयोक्ति उसमे लगती है, लेकिन देहात में चलने वाली योजनाओं की वास्तविक स्थिति उससे भी भयानक है, और मार्कण्डेय ने उस पर करारा व्यंग्य किया है ।

कई वर्ष पहले आकाशवाणी इलाहाबाद की गप-गोष्ठी में साही (श्री वी० डी० एन० साही) ने गालिब के शेरो के तर्क का अनुसरण करते हुए एक कहानी सुनायी थी—'आख़िरी अदालत का मुकद्दमा'—वह मुझे बहुत अच्छी थी। उसका हास्य-व्यंग्य अत्यन्त सूक्ष्म और परिष्कृत था । उसकी याद आज तक बनी है । सुनता हूँ कि 'सारिका' के पिछले अंक में छपी भी है ।

डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान—कैसे आलोचक हैं, इसके बारे में दो मत हो सकते है, लेखक (जिन पर उनकी आलोचना की चोट हो) उन्हें घटिया आलोचक समझ सकते है, उनके छात्र उन्हें रामचन्द्र शुक्ल से आगे स्थान दे सकते है और उनके समकालीन उपेक्षा से मुँह बिचका सकते है, पर डॉक्टर मदान अच्छे व्यंग्यकार है, इसके सम्बन्ध में अभी दो मत नही । उन्होने इधर हास्य-व्यंग्य की काफी हिस पैदा कर ली है । साधारण पत्र-व्यवहार में भी उनके व्यंग्य वाक्य पढ़ने को मिल जाते है । इधर उनके हास्य-व्यंग्य-लेखों का एक संग्रह 'सुगम और शास्त्रीय संगीत' के नाम से निकला है, जिसके लेख ही नही, भूमिका भी बडी दिलचस्प है । इसी संदर्भ में अपनी पचासवी वर्षगाँठ पर होने वाले अभिनन्दन-समारोह मे उनका भाषण (जो शायद धर्मयुग में छपा था) मुझे बहुत अच्छा लगा था । 'धर्मयुग' के 'बैठे ठाले' कॉलम में उनका कोई-कोई लेख खूब उतरता है—'बहस और वहम' मेरी बात का प्रमाण है ।

श्री विद्यानिवास मिश्र—बडे सुन्दर ललित-निबन्ध लिखते है । मुझे उनके

निबन्ध, भाषा, शैली और भाव तीनो के लिहाज़ से पसन्द है। इधर उनके निवन्धों का एक संग्रह 'मैंने सिल पहुँचाई' छपा है। मिश्र जी ने उसमें हास्य उपजाने का प्रयास किया है। मैं सब निबन्ध तो नहीं पढ़ पाया, पर जो मैंने पढ़े, उनसे मुझे लगा कि उनके निबन्धों मे यदि हास्य है तो किंचित संजीदा ही है, पर वे इस क्षेत्र में पैर रख रहे हैं और कौन जाने उनके अगले संग्रह मे हमे उनका स्वभावोचित स्फटिक हास्य पढ़ने को मिले।

शिक्षार्थी—यो तो अपने कार्टूनों के लिए प्रसिद्ध हैं, पर उनकी एक हास्य-भरी कहानी 'धर्म संकट' मेरी नजर से गुज़री है, जो मुझे अच्छी लगी है।

भीष्म साहनी—के नये कहानी-संग्रह 'भटकती राख' की कई कथाओं में यद्यपि हास्य व्यंग्य झलकता है—विशेष कर संग्रह की सबसे अच्छी कहानी 'कुछ और साल' में, पर 'लेनिन का साथी' का व्यंग्य अचूक है और मन को बेतरह गुदगुदा देता है।

o

लेकिन ये सारे-के-सारे लेखक बीच की पीढी के है। नयी पीढी लगता है बहुत संजोदा है—अकेलापन, कुण्ठा, संत्रास, मृत्युबोध, एब्सर्डिटी—ये सब यो तो बढ़िया हास्य उपजा सकते है, पर युवक इस सब को ओढ़ लेने के कारण अतिरिक्त गम्भीर हो गये हैं। सिवा दो-चार लेखको के उनके यहाँ हास्य का अथवा हास्य लिये हुए व्यंग्य का अभाव है। इसमे ज्ञानरंजन और भीनसेन त्यागी में हास्य मिला व्यंग्य काफी है। ज्ञान की 'पिता,' तथा 'सम्बन्ध' और भीमसेन त्यागी की 'शमशेर' तथा 'शहर में एक और शहर' मे हास्य-व्यग्य पैना है। इसके बाद गिरिराज किशोर की 'पेपरवेट,' 'नया चश्मा,' और 'क्लर्क' में उसकी कुछ झलक मिलती है। दूधनाथ के यहाँ केवल 'स्वर्गवासी' में व्यंग्यपरक स्थितियाँ है और अपने बहनोई के घर आ कर डट जाने वाले एक साले का खूब मजाक उडाया गया है। इन लेखकों के अलावा नयी पीढ़ी बुरी तरह मृत्यु-बोध और संत्रास से पीडित है। हाँ, उनके वक्तव्य घोर संजीदगी से लिखे होने पर भी अपूर्व हास्य की सृष्टि करते है। 'अणिमा' के सातवें दशक मे परेश का वक्तव्य इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

अभी कुछ दिन पहले एक स्थानीय नये कवि-मित्र 'कृति परिचय' (जबलपुर) के 'अकविताक' में कवि सौमित्र मोहन का वक्तव्य सुना रहे थे।

'मेरे पास पिता का कोई अनुभव नहीं है—सिर्फ इसके[1] कि मेरे

---

१. 'सिवा इसके' होना चाहिए।

पिता हैं। एक बार मैंने अपने पिता से टेलीफ़ोन पर बात की थी। उन तीन-चार मिनटों में यही लगता रहा कि मैं किसी अजनबी आदमी से बात कर रहा हूँ। उस दिन मै परेशान और डरा हुआ सड़कों पर घूमता रहा था।...'

वे यहीं तक पहुँचे थे कि मै जोर से ठहाका मार कर हँस पड़ा। कवि-मित्र की आँखों में आश्चर्य देख कर मैंने कहा, "सौमित्र मोहन काव्य लिखने की बजाय ऐसे वक्तव्य लिखें तो इनसे खूब हास्य की सृष्टि हो।"

मित्र रुष्ट हो गये। उनकी समझ मे नही आया कि इसमे हँसी की क्या बात है। सौमित्र मोहन भी नही समझते होंगे, वरना ऐसा क्यो लिखते ?

कुछ प्रश्न

प्रस्तुत लेख को सुन कर कुछ शोध-छात्रों और मित्रों ने कतिपय प्रश्न किये हैं। हिन्दी-उर्दू के हास्य-व्यंग्य का जायज़ा यदि मैंने अपनी व्यक्तिगत रुचि के माध्यम से न लिया होता तो उनमें से कुछ ऐसे आधारभूत प्रश्न हैं, जिन्हे मै शुरू ही में ले लेता। हो सकता है कि लेख पढ कर अन्य पाठकों के मन में भी वैसी ही जिज्ञासाएँ उठें। यद्यपि उनमें से कुछ प्रश्न ऐसे है जो पृथक लेखों की माँग करते है, तो भी मै उनके संक्षिप्त उत्तर यहाँ देता हूँ।

प्रश्न १—आपने अपने लेख मे हास्य-व्यंग्य को एक साथ रखा है। क्या यह बेहतर न था कि आप हास्य-भरी कहानियों को व्यंग्य-भरी कहानियों से अलग कर के जाँचते-परखते ?

उत्तर—यह शोध-छात्रों का काम है। और वे लोग निश्चय ही यह करेंगे। मैंने यह लेख अधिकांशतः याद के बल पर लिखा है। हास्य-भरी कहानियों को व्यंग्य-भरी कहानियो से अलग करने के लिए सभी कहानियों को फिर से पढना ज़रूरी था। इतना समय और सुविधा फिलहाल मेरे पास नही है। फिर जैसे हास्य-भरी कहानियों के कई प्रकार है—खुले और फूहड़-से हास्य-भरी कहानियाँ, सूक्ष्म हास्य-भरी कहानियाँ, व्यंग्य-मिले हास्य-भरी कहानियाँ आदि-आदि—इसी तरह व्यंग्य-कथाओं की भी कई श्रेणियाँ हैं—हास्य-मिले व्यंग्य की कहानियाँ, कटु-यथार्थ-भरे व्यंग्य की कहानियाँ, करुणा-मिले व्यंग्य की कहानियाँ दारुणता (grimness) लिये हुए व्यंग्य-कहानियाँ आदि-आदि। मैंने अपने लेख में प्रायः उन कहानियो को लिया है, जिनमें सभी तरह का हास्य है और

व्यंग्य है तो प्रायः हास्य-भरा है। व्यंग्य-भरी अन्य प्रकार की कहानियो को मैंने लगभग छोड़ दिया है। यही नही, मैंने उपन्यासो को भी नही छुआ, यद्यपि हमारे उपन्यासो मे हास्य-व्यंग्य के प्रकरण कम नही। रेणु का 'मैला आँचल' तो आरम्भ ही खासी हास्यास्पद स्थिति से होता है। यशपाल, अमृतलाल नागर, यादव और मेरे उपन्यासो में ढेरों ऐसी स्थितियाँ हैं, जिन्हे पढ कर होंटो पर मुस्कान ही नही आती, मन-ही-मन हँसी भी आ जाती है।

प्रश्न २—आपने अपने लेख मे जितनी विशदता से नये व्यंग्यकारो का उल्लेख किया है, पुरानो का नहीं किया। अथवा जिस विस्तार से उर्दू के व्यंग्यकारों का उल्लेख किया है, उस काल के हिन्दी व्यंग्यकारो का नही किया। आपने अपने समकालीनो तक के हास्य-व्यंग्य की महज़ एक झलक दी है, जब कि उनमें से अधिकांश ने बहुत अच्छी हास्य-व्यंग्य-भरी कहानियाँ लिखी है। इसका कुछ तो कारण होगा ?

उत्तर—जिस पाठक ने लेखकों को ध्यान से पढा होगा, वह जान लेगा कि प्रस्तुत लेख वास्तव मे नये व्यंग्यकारो को हिन्दी पाठकों के समने रखने के उद्देश्य से ही लिखा गया है। उनसे पहले के हास्य-व्यंग्यकारो का उल्लेख हास्य-व्यंग्य के संदर्भ मे पहले की स्थिति को जानने के लिए ही किया गया है। उर्दू लेखको पर विस्तार से लिखने का यह कारण है कि उन लेखको का प्रभाव इन सभी आधुनिक हिन्दी व्यंग्यकारो पर स्पष्ट परिलक्षित है। फिर एक कारण यह भी है कि जिस प्रकार पतरस, ताज, शौकत थानवी, कन्हैयालाल कपूर, फ़िक्र तौंसवी प्रमुखतः व्यंग्य लेखक हैं, उसी प्रकार आधुनिक युग के ये हिन्दी लेखक भी प्रमुखतः व्यंग्यकार है। प्रेमचन्द्र से ले कर अमृतराय तक सब-के-सब लेखक प्रमुखतः कथाकार रहे, व्यंग्यकार नही। यदि उन्होने हास्य-व्यंग्य की कहानियाँ भी लिखी तो उनसे हास्य की धारा को विशेष गति नही मिली, हास्य-व्यंग्य की जैसी सुनिश्चित धारा इन नये व्यंग्यकारो के साथ हिन्दी साहित्य मे प्रवाहित हुई है, वैसी पहले नही हुई। उर्दू के उन हास्यकारों की तरह, जिन्होने उर्दू साहित्य में हास्य-व्यंग्य को लोकप्रिय बनाया, हिन्दी मे उसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय हरिशंकर परसाई, केशवचन्द्र वर्मा, श्रीलाल शुक्ल और रवीन्द्रनाथ त्यागी आदि को है और इसीलिए उर्दू व्यंग्यकारों की ही तरह मैंने उन पर अपेक्षाकृत विस्तार से लिखा है।

प्रश्न ३—क्या आप इसका कोई कारण बता सकते हैं कि आरम्भिक हास्यकारो और नये हास्यकारों के बीच का इतना सारा समय क्यो हास्य-व्यंग्य से प्रायः

रीता रहा ? क्या ऐसा तो नही कि जिस भाषा में पुराने हास्यकार लिखते थे, वह हास्य-व्यंग्य के लिए नितान्त अनुपयुक्त थी ? क्या आप नही मानते कि नये हास्यकारों ने नयी भाषा भी हिन्दी को दी है ?

उत्तर—बहुत सोचने पर मुझे इस स्थिति के दो-एक कारण समझ में आते हैं और वो ये कि उस समय हमारा देश स्वातंत्र्य-संग्राम मे निरत रहा। देश के नेताओं का मजाक उड़ाया नही जा सकता था (कोई मज़ाक उड़ाने योग्य बात दिखायी भी देती तो उसे नज़र अन्दाज कर दिया जाता) और अंग्रेज़ का मज़ाक उड़ाने का मतलब सीधे जेल में जाना था। इसके अलावा स्वतन्त्रता-संग्राम ने लेखको को—वे प्रसाद हो या प्रेमचन्द—कुछ अतिरिक्त संजीदा बना दिया था। प्रेमचन्द ने तो हास्य की सृष्टि की भी, लेकिन प्रसाद तो विदूषकों तक को गम्भीर बना गये। (उर्दू वाले उस काल में व्यंग्य लिखते रहे, पर वे लगभग सब-के-सब स्वतन्त्रता-संग्राम से कटे थे। यह भी एक कारण है कि उनके यहाँ परसाई या फ़िक्र जैसा एक भी लेखक नही) आज स्थिति दूसरी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मूल्यो का जो विघटन हुआ है, वह हास्य-व्यंग्य की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, असाहित्यिक सभी क्षेत्रों में आज हास्य-व्यंग्य के लिए अपूर्व सामग्री प्रस्तुत है और विघटन को देख कर उस सामग्री का उपयोग करने की इच्छा भी आप-से-आप लेखकों के मन में पैदा हो गयी है।

भाषा की बात भी है, यद्यपि उतनी नही। जिस लेखक के यहाँ हास्य-व्यंग्य की हिस है, वह कठिन भाषा मे भी हास्य की सृष्टि कर सकता है। श्रीलाल शुक्ल का लेखन इसका प्रमाण है। तो भी इसमें सन्देह नही कि हास्य-व्यंग्य चुलबुली, रवाँ-दवाँ, टकसाली, भाषा की अपेक्षा रखता है। प्रसाद, पंत, महादेवी और अज्ञेय की भाषा में हास्य लिखा तो जा सकता है, पर कष्ट-साध्य है। इधर उर्दू रचनाओ के निरन्तर हिन्दी में छपते रहने और क्षेत्रीय भाषाओ और बोलियों के शब्द निरन्तर खड़ी बोली में आते रहने से अपने आप एक प्रवहमान, चुस्त, चुटीली, चुलबुली भाषा रूप पा गयी है और हमारे ये नये हास्यकार उसका खूब प्रयोग कर रहे हैं।

प्रश्न ४—चण्डीगढ विश्वविद्यालय के डॉ० संसारचन्द्र ने कुछ अच्छे हास्य-व्यंग्य के निबन्ध लिखे हैं, लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी हास्य-व्यंग्य लिखा है। क्या आप नहीं मानते कि कुछ हास्यकारों के नाम आप से छूट गये हैं ?

उत्तर—ज़रूर छूट गये होंगे। डॉ० संसारचन्द्र के ज्यादा निबन्ध मेरी नज़र से

नही गुज़रे। उनके निबन्धों का एक संग्रह 'सटक सीताराम' मेरी नजर से गुज़रा है, जिसके कुछ निबन्ध मैंने पढे हैं। डॉ० साहब की भाषा टकसाली और हास्य खुला है। **लक्ष्मीकान्त वर्मा** का एक निबन्ध कही देखा था, पर उसकी कोई याद नहीं। मैंने कई बार 'दिनमान' में उनकी हास्य-व्यंग्य भरी रिपोर्ट पढ़ी है। चूंकि कुछ गोष्ठियो में मै भी उपस्थित रहा हूँ, इसलिए मै जानता हूँ कि ये झूठी, तुड़ी-मुडी, एकांगी और विद्वेषपूर्ण रही हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा की लेखनी मे प्रायः विद्वेष रहता है और विद्वेष उत्कृष्ट हास्य की सृष्टि में बाधक है। मै लक्ष्मीकान्त वर्मा के कवि का प्रशंसक हूँ। उन्होने कुछ सशक्त कविताएँ लिखी हैं, पर इसी विद्वेष के कारण उनका कवि मार खा गया। उनके अलावा बिहार के हरिमोहन झा '**खट्टर काका**' की कुछ रचनाएँ ज़रूर 'नयी कहानियाँ' मे पढ़ी हैं, पर उनकी कोई याद नही। उनका हास्य-व्यंग्य मैथिली में जितना जोरदार है, उतना शायद हिन्दी में नही। यह भी हो सकता है कि उनकी बहुत अच्छी रचनाएँ मेरी दृष्टि से गुज़री ही न हों। यो बिहार के लोग उन्हें विश्व-साहित्य की कोटि का हास्यकार समझते है, लेकिन बिहार वाले अपने लेखको के सन्दर्भ में विश्व-साहित्य से कम की कभी नही सोचते, जब कि यू० पी० वाले अपने किसी लेखक का विश्व-साहित्य के क्षेत्र में चला जाना स्वयं अपना अपमान समझते हैं। **आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी** ने भी कुछ सुन्दर हास्य-व्यंग्य-भरे लेख लिखे हैं। नाम भूल जाने के कारण मै उनका उल्लेख नही कर सका। इधर **श्रीमती सलमा सिद्दीकी** की भी कुछ हास्य-भरी रचनाएँ नज़र से गुज़री है, 'सिकन्दर नामा' की कुछ किस्तें कदाचित 'धर्मयुग' में पढ़ी थी, जो अच्छी लगी थी। **श्रीमती विजय चौहान** ने भी कुछ बड़ी अच्छी हास्य-व्यंग्यपूर्ण कहानियाँ लिखी है। 'बुत शिकन का जन्म' और 'शरत की नायिका'—उनकी दो कहानियों की मुझे आज भी याद है। **रमेश बक्षी** की कहानियों में कही-कही बड़ा सूक्ष्म व्यंग्य है जो हास का पहलू लिये हुए है। 'वही का वही सवाल' और 'वायलन पर तिलक कामोद' इस संदर्भ मे उल्लेखनीय हैं। **नरेन्द्र कोहली** ने भी कुछ हास्य-भरी कहानियाँ लिखी है, लेकिन मैंने उनकी ज़्यादा रचनाएँ नहीं पढ़ी। जो पढ़ी है, उनमें मुझे 'द कॉलेज' (एक एब्सर्ड प्रयोग) अच्छी लगी। उनमें जहाँ होंटो पर मुस्कान उपजाता खासा तीखा व्यंग्य है, वहाँ दृष्टि में धुंधलापन नही है।

प्रश्न ५—आपने हास्य और व्यंग्य मे विभेद नही किया। केवल मनोरंजन के लिए लिखे जाने वाले हास्य और सोद्देश्य अथवा आधुनिक युगबोध को अभिव्यक्ति देने वाले हास्य को आपने एक ही लाठी से हाँक दिया है। क्या समाज की

आलोचना करने वाला, उसकी समस्याओ को, आधुनिक युगबोध को, अभिव्यक्ति देने वाला हास्य-व्यंग्य महज हास्य के लिए लिखे गये हास्य से बेहतर नही होगा ?

उत्तर—यह प्रश्न पेचीदा है और पूरे लेख की अपेक्षा रखता है। पहली बात तो यह है कि महज़ हास्य के लिए प्रस्तुत किया जाने वाला हास्य, यदि वह उच्चकोटि का हो, केवल इसलिए अग्राह्य नही हो सकता कि उसने अपने युग की किसी समस्या को नही छुआ, पतरस की 'सवेरे जो कल आँख मेरी खुली,' ताज की 'चचा छक्कन ने सब के लिए केले खरीदे,' शौकत थानवी की 'छलाँग' ऐसे ही हास्य के उत्तम नमूने है। ये रचनाएँ पढ़ने मे बार-बार रस देती है और उनका महत्व है, उसी तरह जैसे कथा-कहानियो में सर कानन डायल की शर्लाक होम्ज़ नामक जासूसी सीरीज़ का, जो रूस जैसे प्रगतिशील देश मे भी करोडों की संख्या में बिक गयी। हालाँकि साहित्यिक रचनाओ को उन जासूसी किस्सो के मुकाबिले में रखना ज्यादती है। मैंने वैसा केवल रसानुभूति की दृष्टि से किया है। फिर उच्चकोटि का हास्य किसी व्यक्ति विशेष की सनकों, मूर्खताओं, लनतरानियो, दकियानूसीपन, अतिरिक्त अहं अथवा अहं के अभाव या ऐसी ही कमज़ोरियो को ले कर प्रस्तुत किया जाता है। समाज का वह भले ही चित्रण न करे, लेकिन केवल इसीलिए वह अनुपादेय है, मै ऐसा नही मानता। क्योकि हमारे उदास क्षणो को हल्का करने के साथ-साथ वह व्यक्ति विशेष की कमज़ोरियो के माध्यम से हमारी कमजोरियो को बेनक़ाब करके, हमारे सामने रख देता है। और इसीलिए नकारा नही जा सकता। लेकिन यह सब कहने के बाद मै इतना और कहना चाहूँगा कि इसके मुकाबिले में वह हास्य-व्यंग्य निश्चय ही बेहतर है, जो हास्य प्रस्तुत करने के साथ-साथ हमारे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, पारिवारिक अथवा वैयक्तिक जीवन को बेहतर बनाने के उद्देश्य से उस पर व्यंग्य करता है और उसकी त्रुटियो तथा विसंगतियो को हमारे सामने उजागर करके रख देता है।

प्रश्न—६ आधुनिक युगबोध को आधुनिक हास्य-व्यंग्य ने कैसी अभिव्यक्ति दी है ? क्या आप उससे सन्तुष्ट है ?

उत्तर—मै समझता हूँ हमारे हास्यकारो में युगबोध की कमी नही। मै सातवें दशक के कथाकारो की दृष्टि से नही देखता। बहुत से नारे वे पश्चिम की नकल मे लगा रहे है और पूँजीवादी पत्र-पत्रिकाएँ, लेखको और पाठको का मन युग की वास्तविक समस्याओं से भटकाने के लिए ऐसे लेखन को प्रश्रय देती हैं और बडे सूक्ष्म ढंग से उनका प्रचार करती है। बंगाल की भूखी पीढी को बंगाल

में कोई नहीं जानता और उसका वैसा कोई इम्पैक्ट वहाँ नहीं, लेकिन 'धर्मयुग' ने राजकमल चौधरी के लेख छाप-छाप कर उसका खूब प्रचार किया, जिससे न केवल राजकमल चौधरी कुपथ पर जा पड़े, बल्कि हमारे और कितने ही नये कवि उसी पर पथ अग्रसर है। अमरीकी बीटनिकों का, देशीय बीटनिको का जितना प्रचार 'धर्मयुग' और 'दिनमान' ने किया है, और हमारे कवियों और लेखकों को अपनी कुण्ठा गाँजा-भाँग और मदिरा पी कर भुलाने को प्रेरणा दी है, उतनी देश की किसी और पत्रिका ने नहीं दी। अभी कुछ दिन पहले 'दिनमान' ने 'हिप्पीज़' पर भी लेख छापे हैं। और यदि इस प्रचार के कारण हमारे यहाँ भी 'हिप्पीज़' का आन्दोलन शुरू हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। प्रकट ही ये पत्र-पत्रिकाएँ गाँजा, भाँग, एल० एस० डी० ऐसे मादक द्रव्यो का प्रचार परोक्ष रूप से कर रही है। 'अपने-अपने अकेलेपन,' 'मृत्युबोध,' 'संत्रास,' आदि तथा-कथित आधुनिक युग-बोधीय नारों का प्रभाव तो हमारे हास्य-व्यंग्य पर नही है, लेकिन हमारे आधुनिक हास्यकारों ने हमारे युग की यथार्थ समस्याओं को न केवल छुआ है, वरन् उन्हें उघाड़ कर रख दिया है। केशवचन्द्र वर्मा ने नौकर-शाही और दफ़्तरी जिन्दगी को अपने हास्य-व्यंग्य का निशाना बनाया है, हरिशंकर परसाई और शरद जोशी ने और भी बड़े केनवस पर हमारी समसामयिक समस्याओ पर कलम चलाते हुए देश के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक व्रणो पर निश्तर लगाये हैं, श्रीलाल शुक्ल और रवीन्द्रनाथ त्यागी ने सांस्कृतिक और व्यक्तिगत जीवन की खुशफ़हमियों का मजाक उड़ाया है, शान्ति मेहरोत्रा ने पारिवारिक जीवन की विसंगतियों को उरेहा है और यदि इसके साथ हिन्दी के पुराने और बीच के समर्थ कथाकारों की कहानियो और उपन्यासों में परि-लक्षित हास्य-व्यंग्य को भी गिना जाय तो लगेगा कि एक बहुत बड़े फलक पर हास्य-व्यंग्य की कूची ने ऐसे चित्र बनाये है जो जनता के विक्षुब्ध हृदय में दबे भावों को अभिव्यक्ति देते हैं।

प्रश्न ७—क्या आप नहीं समझते कि आज जितना कुछ लिखा जा रहा है, उसमें बहुत कुछ समसामयिक है और समय के साथ, समसामयिक समस्याओं की तरह, ही भुला दिया जायगा ?

उत्तर—शायद! पर इसी में कुछ ऐसा ज़रूर निकलेगा—(जहाँ हास्यकार सक्षम हैं)—जो अपनी समसामयिकता के बावजूद समय की दीवारो को लाँघ जायगा। उदाहरण के लिए परसाई की 'फ़ैमिली प्लैनिंग,' केशवचन्द्र वर्मा की 'लोमड़ी का मांस' अथवा 'प्रमोशन का अर्थशास्त्र,' श्रीलाल शुल्क की 'कवि

सदानन्द के संस्मरण,' रवीन्द्रनाथ त्यागी की 'कहानी का प्लाट,' राकेश की 'परमात्मा का कुत्ता' और रेणु की 'विकट संकट' ऐसी ही रचनाएँ हैं और अपनी समसामयिकता के बावजूद याद रखी जायँगी।

प्रश्न ८—आपने अपने लेख में विद्वेष को हास्य के लिए घातक बताया है, पर क्या आप यह नही मानते कि विद्वेष लेखक की आलोचना-शक्ति को तीव्र कर देता है और उसकी आँखें अपने शत्रु के ऐसे व्रण भी खोज निकालती हैं, जो आम लोगों की निगाहों से छिपे रहते हैं ?

उत्तर—यह तो मैं मानता हूँ कि विद्वेष आदमी की निगाहों को अतिरिक्त तेज़ी प्रदान कर देता है, पर यह नहीं मानता कि रचना उससे अच्छी बनती है। उदाहरण के लिए मैं दो रचनाएँ लूँगा—'गुलिवर की तीसरी यात्रा' तथा 'मीरा : एक प्रगतिशील कवयित्री।' 'गुलिवर की तीसरी यात्रा में' डा० धर्मवीर भारती ने प्रकट ही पंत जी (कवि सुमित्रानन्दन पंत) पर प्रहार किया हैं; उन्हे कोमल, कैरियररिस्ट और राज्याश्रयी बताया है और उनके मुकाबिले निराला की त्रुटियों को भी गुण बना कर पेश किया है, लेकिन इसी प्रयास मे रचना कमज़ोर हो गयी है। अब यदि हास्यकार के मन में विद्वेष न होता तो वह दोनों कवियो की सनको अथवा त्रुटियों का मज़ाक उड़ा सकता था और रचना ऊँची उठ सकती थी। फिर ऐसी विद्वेषपूर्ण रचनाओं का एक दूसरा तर्क है। भारती ने पंत की त्रुटियो और भावुकता की निगाहों से देखे गये निराला के गुणों को दिखाने के लिए 'गुलिवर की तीसरी यात्रा' लिखी। कल यदि कोई नया व्यंग्यकार 'गुलिवर की चौथी यात्रा' लिखे और भारती तथा मुक्तिबोध को एक दूसरे के मुकाबिले में रख कर इसी तरह परखे तो क्या वह भारती की रचना से कही ज़्यादा हास्य-व्यंग्य तथा विद्वेष भरी रचना न सृज सकेगा ? क्योकि भारती ने पंत में जो कमज़ोरियाँ दिखायी है, वे तो भारती मे हैं ही, उनसे ज़्यादा कुछ ऐसी कमजोरियाँ भी है, जिन्हें देखते हुए पंत तो देवता ही मालूम होगे। यदि राज्याश्रय के विरुद्ध आन्दोलन चलाते हुए और पंत को कोसते हुए भारती ३००) मासिक की अध्यापकी छोड़ कर एकदम हज़ार-बारह सौ की कुर्सी पर जा बैठे (विशेष कर उस वक्त जब उन्होने पंत ऐसी ख्याति अर्जित नही की थी) तो किन्ही खास गुणों ही के कारण ही; और जिस कुर्सी पर राकेश साल भर नही टिक सके, उस पर यदि भारती की पकड़ दृढ़ से दृढ़तर होती गयी है तो भी किसी खास गुण के ही कारण—गुलिवर अपनी चौथी यात्रा में वह सब देख सकता है और 'फीरोज़ी होटो' के गीत लिखने और सेठों के दर पर सजदे करने

वाले कोमल, रूमानी कवि की कोमलता, भावुकता, क्षुद्रता, समय-साधकता, स्वार्थपरता, अवसरवादिता और न जाने किस-किस और गुण का उद्घाटन (किंचित उत्युक्ति तो हास्य-व्यंग्य में जायज़ होती ही है) कर सकता है।

लेकिन मेरा केवल यही निवेदन है कि विद्वेष से लिखी गयी वह रचना भी उतनी ही कमज़ोर होगी।

यही स्थिति 'मीरा : एक प्रगतिशील कवयित्री' की है। आइडिया उसका भी अच्छा है। प्रगतिशील आलोचक जैसे अपनी सुविधा के अनुसार किसी घोर प्रतिक्रियावादी को कभी-कभी प्रगतिशील घोषित कर देते हैं, वह प्रवृत्ति हास्य-व्यंग्य के लिए उपयुक्त है, पर जैसे बिना पूरी तैयारी किये केशवचन्द्र वर्मा ने वह लेख धर घसीटा है, वह उनके व्यंग्य की धार को कुन्द कर देता है। अब यदि यही दोनों रचनाएँ श्रीलाल शुक्ल ने लिखी होतीं तो वे उनके साथ पर्याप्त न्याय कर सकते। पंत पर उन्होंने भी अपने निबन्ध 'स्वर्णग्राम और वर्षा' मे व्यंग्य किया है, पर उसमें विद्वेष नही झलकता, इसलिए वह रचना रस दे जाती है।

प्रश्न ६—आपने शुरू में लिखा है कि हास्य दुख और परेशानी में लिखा जा सकता है और ट्रेजिडी सुख और शान्ति में। क्या इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि गम्भीर आदमी सशक्त हास्य लिख सकता है और अगम्भीर कमज़ोर ?

उत्तर—ऐसा गम्भीर आदमी भी हो सकता है, जो हास्य का विषय चाहे बन जाय, स्वयं कभी हास्य न लिख सके! जिन लोगो ने अपने ऊपर गाम्भीर्य का चोला ओढ़ रखा है, वे हास्य-व्यंग्य का विषय तो बन सकते हैं, हास्य की सृष्टि नहीं कर सकते। जैनेन्द्र और अज्ञेय इसके उदाहरण है। हास्य-व्यंग्य के लिए लेखक में विनोद-वृत्ति खूब होनी चाहिए, लेकिन यह भी ठीक है कि फ़िवोलस (ओछा और हल्का) आदमी उत्कृष्ट व्यंग्यकार नही हो सकता। मेरे सामने कई व्यंग्यकारों के चित्र आते है और मैं समझता हूँ कि वे लेखक, जो ऊपर से गम्भीर और मन के खिलन्दरे हैं, बेहतर हास्य की सृष्टि कर सकते हैं—'पतरस' लम्बे-तगडे, खूबसूरत व्यक्ति थे, बड़े अफ़सर थे, मित्रों की मजलिस में प्रायः व्यंग्य-बाण छोड़ा करते थे और जब दूसरे लोग खूब हँस रहे होते, वे प्रायः गम्भीर बने रहते। यही हाल 'ताज' और हरिचन्द 'अख्तर' का था। 'मजाज़' के यहाँ भी यही कैफ़ियत थी, उनके व्यंग्य मजलिस को कहकहाज़ार बना देते, पर वे स्वयं मुस्कराते भी न थे। अपने यहाँ रेणु, परसाई, श्रीलाल शुक्ल इसके उदाहरण है। परसाई, जिनका हास्य-व्यंग्य मन को बेतरह प्रभावित करता है, बड़ी मुश्किल से मुस्कराते हैं। श्रीलाल शुक्ल को तो मैंने आम मजलिस मे

मुस्कराते भी नहीं देखा। रेणु से मिलिए तो कल्पना नहीं होती कि इसी गम्भीर व्यक्ति ने 'विकट संकट' लिखा है। यशपाल जितने गम्भीर हैं, हास्य-व्यंग्य उतना ही गहरा लिखते हैं। लेकिन केशवचन्द्र वर्मा बात पीछे करते है, ठहाका पहले मार देते है। फिर ऐसा हास्यकार भी हो सकता है, जो मित्रों की मजलिस मे हठाके मारता हुआ अपने व्यक्तित्व के एक संजीदा अंग से उनकी और अपनी मूर्खताओ का जायजा भी लेता जाय। मै व्यक्तिगत रूप से ऐसे लेखक को अत्यन्त सक्षम मानता हूँ। जो भी हो, रचना पर लेखक के व्यक्तित्व की छाप रहती है। और अन्दर से व्यक्ति जितना ठोस होगा, रचना उतनी ही सशक्त उतरेगी। महज गम्भीरता हास्य-व्यंग्य के संदर्भ में कोई महत्व नही रखती और न केवल हल्का और छिछलापन। हास्य रस की उत्कृष्ट रचना भी प्रतिभा, सूझ-बूझ और श्रम की माँग गम्भीर रचना की अपेक्षा कम नहीं करती।

१७ जुलाई '६७

●

एक आत्म-स्वीकृति | कटघरे में

प्रस्तुत लेख अश्क जी ने 'नयी कहानियाँ' के कालम 'कोई गुनाह नहीं' के लिए जल्दी में लिखवाया था और वहीं छपा भी था। जब इसका चयन इस पुस्तक के अंतिम लेख के रूप में किया गया और उन्होंने इसे एक बार फिर पढ़ा तो यह उन्हें कमजोर और विरस लगा। तब उन्होंने इसे फिर से लिखना शुरू किया। जिस प्रक्रिया में दस फ़ुलस्केप पृष्ठों का वह लेख लगभग तिगुने पृष्ठ ले गया।

अपने नये रूप में यह और चाहे जो हो, फीका और सीठा नहीं रहा। वर्तमान रूप में लेख की थीम तो वही है, पर जहाँ पहले अश्क जी ने इसमें केवल एक अभियोग का उत्तर दिया था, वहाँ अब कई अन्य अभियोगों के सम्बन्ध में भी निर्भीक और निर्व्याज रूप से अपने विचार रखे हैं और अपनी सफ़ाई देते-देते दूसरों की आलोचना भी की है।

कटघरे में

●

जब किसी लेखक को लिखते हुए चार दशक हो जायँ, उसके बाल पक जायँ और उसके सामने उसका जवान बेटा—उसकी जवानी का प्रतीक—लम्बे-लम्बे बाल बिखराये अथवा दाढ़ी बढ़ाये, पूरे विश्वास के साथ कलम हाथ में ले कर नये भाव-बोध को व्यक्त करने का दावा करता हुआ, उस पर तथा उसकी सारी पीढ़ी पर फतवे दे तो सहसा उस लेखक के सामने, अपने उस युवा बेटे के माध्यम से, अपने सारे जीवन का कौंध जाना अस्वाभाविक नही। वह जब भी नयी पीढ़ी के उस युवा प्रतिनिधि से आँखें मिलायेगा, अपने आप को कटघरे में खड़ा पायेगा....यह भी हो सकता है कि उसका बेटा शालीनतावश उसे कुछ न कहे, पर उसकी पीढ़ी के किसी अन्य लेखक को, उसी के सामने, लतियाना शुरू कर दे और एलान करे कि पुराने लेखक चुक गये हैं; उनके पास मौलिकता का नितान्त अभाव है; उनके विचार बोसीदा, उनके पात्र बेजान और उनके आदर्श फ़रसूदा[1] हैं। तब उसे लगेगा कि उसका बेटा शायद उसी को सुना कर वह सब कह रहा है और उसका अपना सारा कृतित्व उसके सामने आ जायगा और वह अपने आप को कटघरे में खड़ा, अपने गुनाहों का हिसाब देता पायेगा....

●

मैं आज के अधिकांश युवक लेखकों से अपने उन दिनों का मुकाबिला करता हूँ, जब मैं भी उन्ही की उम्र का था तो चन्द बातें स्पष्ट रूप से मेरे सामने आती है :

पहली बात तो यह है कि जब हमने साहित्य-क्षेत्र में कदम रखा था तो आदर्शवाद का युग था। ज़िन्दगी के दुख-दर्द, गन्दगी-गलाज़त, सील और सड़न में भी हमारे पूर्ववर्त्तियो की आँखें आदर्श पर टिकी रहती थीं।—उस दौर के उन खुले आसमानो में चमकते-दमकते शिखर थे और मन में उन तक पहुँचने की ललक थी। फिर जब दस-पन्द्रह वर्ष लिखते रहने के बाद पता चला कि बिना ज़िन्दगी के यथार्थ को जाने, बिना अपनी मिट्टी, अपनी धरती और अपने परवेश को पहचाने, उन शिखरों पर पहुँचना कठिन है तो हमने ज़िन्दगी की उन घाटियो को, जहाँ हम रहते थे, देखा, मापा और उनका चित्रण किया। लेकिन इसमे भी कोई सन्देह नही कि इस सब प्रक्रिया में हमारी एक चोर आँख उन शिखरों पर भी लगी रही।

---

१. जीर्ण-शीर्ण

पर आज के युवकों ने जब आँखें खोली तो न उनके ऊपर खुला आसमान था, न सामने वे चमकते शिखर! उनमें से अधिकांश को इस बात का विश्वास ही नही होता कि महात्मा गाँधी के संकेत पर इन्ही लोगो ने, जो आज गद्दियों से चिमटे हुए हैं, बड़ी-बड़ी नौकरियों पर लात मार दी थी; कि युवकों ने, जिनके सामने आज कैरियर ही प्रमुख रहता है और जो उसके लिए हर तरह की खुशामद और दन्द-फन्द करते है, महात्मा गाँधी के आह्वान पर क्षण भर में कॉलेजों और कैरियरो को छोड़ दिया था; ऐसी शादियाँ भी हुई थी, जिनमें विवाहित जोड़ों ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक आज़ादी नही मिलती, वे एक दूसरे के निकट नहीं जायँगे; कि शारीरिक प्रेम के बदले आत्मिक प्रेम ही उस ज़माने का आदर्श था....

'ह्वाट नानसेंस!' आज का युवक लेखक यह सब सुन कर उपेक्षा से मुँह बिचकाता है और किसी ऐसे युवक का चित्रण करने से इनकार कर देता है, जो किसी आदर्श के पीछे पागल हो अथवा जो इस तरह के आत्मिक प्रेम को महत्व देता हो।....हो सकता है दो-एक गम्भीर लेखको के सामने आज भी कुछ आदर्श हो, पर अधिकांश की रचनाएँ पढ़ कर लगता है कि उनके सत्य दूसरे हैं।—किसी के प्रेम में ज़िन्दगी भर मरते रहना, पर सामने पड़ने पर निगाहें बचा जाना, सत्य होते हुए भी उनके निकट सत्य नही है। उनका सत्य है प्रेमिका को येन-केन प्रकारेण पकड कर बिस्तर पर ले जाना और शरीर की किताब के सारे वरक पढ़ डालना, या उन्हें फाड़ डालना या ज़िन्दगी को नितान्त एब्सर्ड मान, हर तरह की नैतिकता को तज, मौत जैसी ज़िन्दगी जीने में सुख पाना—राजकमल चौधरी, केशनीप्रसाद चौरसिया, जगदीश चतुर्वेदी, सुदर्शन चोपड़ा, महेन्द्र भल्ला, गंगाप्रसाद विमल और न जाने कितने ही ऐसे युवकों की रचनाएँ इसकी साक्षी हैं—लगता है कि आदर्शो के हिम-शिखरों से अपरिचित आज के अधिकांश युवक लेखकों ने यथार्थ की घाटी मे आँखें खोली तो ऊपर जाने की बजाय वे नीचे को उतरते चले गये—यहाँ तक कि वे उन घने जंगलो में पहुँच गये, जहाँ सूरज की किरण तक का प्रवेश नही; जहाँ भयानक सील सड़न और अँधेरा है और उन्हे शिखरों की धवलता ही नहीं, जिनका ज़िक्र वे पुराने कथाकारो से सुनते आये है, घाटी की हिमविहीन यथार्थता भी बेकार लगती है।—वह यथार्थता जिसे देखने में, जिसका अन्वेषण करने में हमने ज़िन्दगी के इतने वर्ष गुज़ार दिये। ज़िन्दगी की घाटी में धुर नीचे पहुँच कर, वहाँ की सड़न और क्षय के साथ एकाकार हो कर ख़त्म हो जाना ही युवक पीढ़ी के इन विद्रोही कथाकारों

में से अधिकांश को प्रिय है। क्षय, मृत्यु तथा एब्सर्डिटी के इस एहसास ही को वे आधुनिक भाव-बोध की संज्ञा देते हैं।

मुझे उस व्यर्थता (एब्सर्डिटी) का चित्रण अप्रिय नहीं, यदि वह मुझे उन चमकती, स्वच्छ चोटियों की याद भी दिलाये, जहाँ पहुँचने के लिए हम लालायित थे (या कहूँ कि जहाँ पहुँचने के प्रयास में आदमी आदि काल से लालायित रहा है और जिस प्रयास में वह पशु से मानव बना है।) और चालीस-बयालीस वर्ष तक लिखते रहने के बावजूद—नये साथियो के साथ घने जंगलों में घूमने, वहाँ की सील और सड़न और क्षयोन्मुख वातावरण का नज़ारा करने और कभी-कभी स्वयं भी उसका चित्रण करने के बावजूद—जिन चोटियो की याद हमें नही भूली। मुझे पूरा विश्वास है कि जब नये लेखक उन नीचाइयो को भरसक माप लेंगे, उस सील और सड़न और क्षय का जी भर रस पा लेंगे तो उनमे से कुछ का ध्यान फिर ज़िन्दगी की अमीक[1] घाटियों के सिरों पर चमकती चोटियों की ओर जायगा (जिनकी ओर पहले प्रकट और बाद में—यथार्थता के निर्मम चित्रण के माध्यम से—हम परोक्ष रूप से संकेत करते रहे है।) तब वे फिर कुछ वैसे ही विद्रोह भरे नारों के साथ ऊपर की ओर को चल देंगे, जिनका उद्घोष करते हुए वे आज नीचे की ओर जा रहे हैं। और तब वे पायेंगे कि हमारे विचार कुछ वैसे बेकार और पिछड़े हुए और जीर्ण-शीर्ण नही थे और हमारी आदर्शवादी कहानियो में ही नही, यथार्थवादी कहानियो मे भी बहुत कुछ ऐसा था, जिसे वे अपना पाथेय बना सकें और तभी उन्हे उन कहानियों में नया रस भी मिलेगा।

'सभ्य-असभ्य' का यथार्थ हो या 'पिंजरा' का, 'डाची' का हो या 'काकड़ाँ का तेली' का, 'अंकुर' अथवा 'चट्टान' का, 'उबाल' अथवा 'बेबसी' का, 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' अथवा 'दालिए' का, 'पलँग' अथवा 'झाग और मुकान' का, 'फितने' अथवा 'एक उदासीन शाम' का या फिर 'आकाशचारी' अथवा मेरी नवीनतम और अति विवादग्रस्त कहानी 'मरना और मरना' का—मैंने यथार्थ की कटुता अथवा कलुष, गन्दगी, गलाजत या वीभत्सता का भी चित्रण किया तो सदा इस बात का खयाल रखा कि पाठक कहानी खत्म करे तो उस यथार्थ को देख कर अपनी ज़िन्दगी को जीने के आदर्श बनाये। ज़िन्दगी के कीच-काँदों को जानना इसलिए ज़रूरी है कि हम उससे निकल सकें, न कि

१. गहरी

उसी में रमे रहें और जी भर लोटनियाँ लगायें।....जो लोग बेहतर ज़िन्दगी के लिए प्रयत्नशील है, उन्हें यदि मेरी रचनाओ के माध्यम से कुछ भी सूत्र हाथ आते है तो मैं अपने लिखने में ही नहीं, जीने में भी कुछ अर्थ पाता हूँ। **सिद्धान्त अथवा आदर्शहीन ज़िन्दगी मुझे नितान्त निरर्थक और व्यर्थ लगती है।....**

मैं यह माने लेता हूँ कि इस प्रक्रिया मे मैने अपने आपको, अपने बन्धु-बाधवों, आत्मीयों अथवा परिचितों और मित्रों को (और यदि ज़रूरत पड़ी तो) अपने सहयोगी लेखकों को भी अपनी रचनाओ में उतारने से परहेज़ नही किया। (और एक नये लेखक ने जो मुझ पर यह अभियोग लगाया है कि मैं अपनी विषय-वस्तु के लिए बहुत दूर नही जाता, वह गलत नही है।) लेकिन शायद ही कभी ऐसा हुआ हो कि कोई पात्र जस-का-तस मेरी कहानी में उतरा हो। कई अन्य पात्रो का अथवा लेखक का बहुत कुछ— विचार या सपना या आदर्श या भंगिमा या ग्रन्थि या कुछ और—आप-से-आप उसमे आ जाता है। शायद ही कोई ऐसी कहानी हो, जिसे लेखक का कुछ भी अंश न मिला हो, **क्योंकि लेखन-कार्य अन्ततः अपने ही मन के आईने में दुनिया को देखना अथवा दुनिया के आईने में अपने को देखने से भिन्न कुछ नहीं है।....**

०

दूसरी बात जो आज के युवक लेखको, उनके आक्रोश, विद्रोह और पुराने गद्दीधारियों को उखाड़ फेंकने के जोश को देख कर मेरे सामने आती है, वह यह है कि वे बहुत जल्दी में है....हमने जब साहित्य-क्षेत्र मे कदम रखा था तो प्रचार-प्रसार के साधन बहुत कम थे और लेखन-कार्य से धन अथवा यश मिलने की सम्भावना उतनी नही थी और अपने से पहले लिखने वालो के प्रति कुछ अजीब-सा आतंक मिला श्रद्धा-भाव हमारे दिलो में था। उनसे कुछ सीख कर आगे बढ़ने की तमन्ना तो मन में थी, पर उन्हे उखाड़ फेंकने का खयाल कभी नही आता था।

१९२६ में मेरी पहली रचना एक दैनिक पत्र के साप्ताहिक संस्करण मे छपी और उसके बाद मै लगभग पाँच वर्ष तक बड़े सब्र के साथ दैनिक पत्रों के साप्ताहिक संस्करणो में ही लिखता रहा और फिर प्रसिद्ध साप्ताहिको से हो कर मशहूर माहनामों तक पहुँचने में मुझे और पाँच बरस लग गये और इस सारे श्रम का आर्थिक लाभ मुझे लगभग कुछ भी नही हुआ।....आज मेरा बेटा या उसके समवयस्क रचना करते ही देश के प्रसिद्धतम साप्ताहिको या मासिको में छपवाना चाहते है। सिर्फ छपवाना ही नही चाहते, वरन् बड़े-से-बड़े लेखक को

जो पारिश्रमिक मिलता है, वह भी चाहते है। लेकिन वे नही जानते कि पारिश्रमिक का एक तर्क है। यदि वह मिलने लगता है तो प्राय: लेखक अपने लिए कम और पारिश्रमिक के लिए ज़्यादा लिखने लगता है। मुसीबत यह है कि अपने उस रवारवी में लिखे हुए के लिए वह दाद भी चाहता है।

मेरे एक युवक मित्र हैं। कभी एक पत्रिका निकालते थे और आग भरे नोट लिखते थे। फिर मेरे सम्पर्क मे आये और उन्हें कहानी लिखने का शौक हुआ। मैंने यथासम्भव उनकी सहायता की। कहानी वे 'साधारणतया अच्छी' लिखने लगे। वे छपने लगें, और सभी पत्र-पत्रिकाओ में छपें, इसकी व्यवस्था की गयी और जिस स्तर की पत्र-पत्रिकाओं तक पहुँचने मे मुझे दस-बारह वर्ष लग गये थे, उन तक बरस-दो-बरस ही मे उनकी रसाई हो गयी। नतीजा यह है कि इस वक्त कोई भी पत्र-पत्रिका ऐसी नही, जिसमें उनकी रचना न छपती हो, लेकिन 'साधारणतया अच्छी' से बढ़ कर 'अच्छी' कहानी वे नहीं लिख पाये। डेढ़ सौ रुपया कहानियों से कमाने का टार्गेट उन्होने बना रखा है। तीन-साढ़े तीन सौ उनका वेतन है और अपने कथनानुसार वे मज़े से है। अब यदि वे अपने मित्रो और आलोचको से यह भी चाहें कि वे उनको उन 'साधारणतया अच्छी' कहानियो को उच्चकोटि की घोषित करें तो अन्ततोगत्वा उनका कुण्ठित होना और मेरे जैसे स्पष्टवादी से, जो कई बार मित्र की हितचिन्ता ही से कटु बात कह देता है, नाराज़ हो जाना अनिवार्य्य है।....

....एक दूसरे युवा मित्र हैं जिन्हें इस बात का गुर्रा है कि वे दिल्ली में स्वतंत्र लेखन से आठ सौ रुपया महीना कमा लेते हैं। सचेतन हैं। धड़ाधड़ कहानियाँ और उपन्यास लिखते हैं और जमने-जमाने के सारे हथकण्डे इस्तेमाल करते हैं। मेरा सिर्फ यह कहना है कि यदि उन्हें कथाकार के रूप में कुछ स्थायी यश भी पाना है तो उस वक्त के लिए साहित्य से ज़्यादा पैसा कमाने का ख़याल छोड़ देना चाहिए, जब तक एक कहानी से इतना न मिल जाय कि दो-तीन महीनो का खर्च निकल जाय....! पिछले दिनों इलाहाबाद में एक बीच के लेखक साथियो के मजाक से परेशान हो कर चिल्लाने लगे—'ऐसी की तैसी हिन्दी साहित्य की—मेरा अमुक उपन्यास दिल्ली से छप गया है, मुझे एक हज़ार रुपया मिला है। दूसरा उपन्यास मैंने लिख लिया है, एक हज़ार मैं उसका ले रहा हूँ। डेढ़ सौ रुपया महीना मैं सामाजिक कहानियो से कमाऊँगा और डेढ़ सौ जासूसी कहानियो से। सालो, रखो तुम हिन्दी साहित्य को अपने पास !....

दो-एक वर्ष पहले, जब अभी श्री बाँकेबिहारी भटनागर साप्ताहिक

हिन्दुस्तान में थे, मैं एक बार दिल्ली गया। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं उनके लिए एक लघु उपन्यास लिख दूँ, जो 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के एक ही अंक मे छप जाय। हालांकि कई लघु उपन्यासो के आधारभूत-विचार मन में पक चुके है, पर मैं पहले 'गिरती दीवारें' के शेष खण्ड पूरा करना चाहता हूँ, इसलिए मैंने अपनी मजबूरी उन्हें बता दी। तब उन्होने इच्छा प्रकट की कि मै नयी कहानी का आन्दोलन चलाने वाले अपने मित्रों से कहूँ। मै राकेश से मिला। उनसे बात की। उन्होंने कहा कि 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' वाले पैसे कम देते है। खैर मैंने पैसे की बात भी कुछ तय करा दी। लेकिन उपन्यास राकेश ने नही लिखा। तीन साथियो में से कमलेश्वर ने उपन्यास धर घसीटा और यादव ने एक लेख-माला ले ली।....अब यदि राकेश को प्रशंसा होती है और रवारवी में लिखे उस उपन्यास अथवा लेख-माला की प्रशंसा नही होती तो राकेश के उन दोनों मित्रों को गुस्सा नही करना चाहिए। आलोचकों की राय का बुरा नही मानना चाहिए। व्यावसायिक लेखन से धन कमाने पर सन्तोष कर लेना चाहिए और यश के लिए अन्तःप्रेरणा के बिना लिखने से इनकार कर देना चाहिए। ज़रूरत-में यदि आदमी लिख भी ले तो उसे पुस्तक रूप मे कभी छापने को न दे। लेकिन नये लेखक की यह मजबूरी है कि वह अपने उन अधकचरे प्रयासो को छपवाता भी है। इसमे बुराई नही, क्योंकि सभी नये लेखक अपनी रचनाओ को पुस्तक रूप में देखना चाहते है। (आज चाहे मेरी फाइलो मे आठ-दस पुस्तको का मैटर अप्रकाशित पड़ा है—इस बात के बावजूद कि मेरे लड़के प्रकाशक है,—लेकिन जब मैं नया लेखक था तो अपनी अधकचरी रचनाओं को मैंने भी छपवाया था।) बुराई तब पैदा होती है, जब नये लेखक अपनी उन अधकचरी रचनाओं के बल पर पुराने जमे हुए लेखकों को उखाड़ने का प्रयास करते है और फल-स्वरूप मुंह की खाते है और कुण्ठित होते है। (और यह काम मैंने नही किया। लगभग तीस वर्ष तक मैंने इस संदर्भ में कलम नही उठायी।)

यश और धन पाने की इस त्वरा में नया लेखक किसी मत या सिद्धान्त या आदर्श से अपने आप को जोड़ना कोई ज़रूरी नही समझता। चूंकि उसका उद्देश्य अच्छा लिखना उतना नही है, जितना अच्छे लेखक के रूप में जमना, धन और यश कमाना और अपने से आगे जमे हुए लेखको अथवा अपने समकालीनों को उखाड़ना, इसलिए उसने लेखक होते हुए भी कैरियरिस्ट के तमाम गुण अपना लिये हैं। गत बीस वर्षों से (याने जब से मैं इलाहाबाद में आया हूँ) मैं नये

तथा और भी नये लेखकों के सम्पर्क मे रहा हूँ और मैंने देखा है कि पिछली दो पीढ़ियों में केवल दो-चार लेखक सिर्फ अच्छा लिखने के उद्देश्य से लिख रहे है। उनके आदर्श है; सिद्धान्त भी है; वे पढ़ते भी है और अपनी रचनाओ पर श्रम भी करते हैं। शेप बस लिख रहे है—कुछ धन के लिए, कुछ यश के लिए और कुछ इसलिए कि दूसरा कोई बेहतर काम फ़िलहाल उनके हाथ मे नही है। (इन कैरियरिस्ट लेखको मे से कुछ की रचनाएँ अच्छी भी बन जाती है, पर यह भी ठीक है, कि पुरानी पीढ़ी की तरह लेखको की इस भीड़ में दो-तीन नाम ही रह जायँगे।) कमलेश्वर और श्रीकान्त वर्मा की बात मै नहीं करूँगा कि उन्होने वक्त की ज़रूरत और मसलहत के मुताबिक कैसे अपने सिद्धान्त बदले और कैसे साहित्य उनके लिए महज़ कैरियर की सीढी रहा। इसे सभी जानते है, भले ही कोई इसलिए न कहे कि आज वे ऐसे पदों पर आसीन है, जहाँ से किसी युवा लेखक को कुछ लाभ-हानि पहुँचा सकते है। मै ऐसे तीन बीच के लेखको की बात करूँगा, जो प्रकटत: लेखन के लिए समर्पित हैं, पर यदि उनके गत पन्द्रह वर्ष के जीवन को देखा जाय तो मालूम होगा कि वे लेखन को महज़ एक कैरियर बनाये हुए है। उनका कोई सिद्धान्त नहीं—न साहित्य को ले कर और न व्यक्तिगत जीवन को ले कर—वे जब जैसी मसलहत होती है, अपने विचार अथवा वफादारियाँ वदल लेते है।

इनमें से पहले इलाहाबाद में एक स्थानीय कॉलेज में पढाते थे। 'परिमल' के सदस्य थे। एकांकी नाटक और उपन्यास लिखते थे। फिर जब इलाहाबाद में हिन्दी नाटक रंगमंच पर होने लगे तो उन्होंने एक नाट्य-संस्था खोल डाली; धड़ाधड़ नाटक लिखे और खेले-खिलवाये। 'संगीत नाटक अकादेमी' से सम्पर्क बढ़ाया और यद्यपि उन्होने एक भी अच्छा नाटक न लिखा था, अनुदान के लालच में नाट्य-विधा तक सिखाने लगे 'और संगीत नाटक अकादेमी' के कुछ अपने ही जैसे मिडियाकर साथियों के बल पर उन्होने खूब करतब दिखाये और विलायत तक घूम आये। इस बीच में 'नयी-कहानी-आन्दोलन' ने ज़ोर पकड़ा। कहानियो से अच्छे पैसे मिलने लगे तो वे उसी त्वरा से धड़ाधड कहानियाँ लिखने लगे। इसमे भी प्रकटत: कोई बुराई नही—लेखक में प्रतिभा हो तो वह दस विधाओ में लिख सकता है, पर अन्त:प्रेरणा से। लेकिन उनके यहाँ अन्त:प्रेरणा का कभी प्रश्न नहीं रहा। जिस माल का दाम बढा, उन्होने तैयार करना शुरू कर दिया—विधाएँ ही नहीं, अपने सिद्धान्त भी उन्होने इसी त्वरा से बदले। 'परिमल' इलाहाबाद की पुरानी संस्था है। उसके सदस्यों के सिद्धान्त भी सब को मालूम है। अन्य बातों

के अलावा प्रमुख बात यह है कि वे लोग कम्युनिस्ट-विरोधी हैं। उनमें से अधिकांश समाज के मुकाविले में व्यक्ति को और सोद्देश्यता के मुकाबिले में कला को महत्व देते है और प्रगतिशील उपेक्षा से उन्हे प्रतिक्रियावादी कहते हैं। संस्था में ज्यादातर लोग कवि और आलोचक हैं। वे भी यथा-सम्भव प्रगतिशीलों को अपना निशाना वनाते रहते है और नाटक लिखें या कविता या महज़ लेख—एकाध छींटा उन पर कसना नहीं भूलते। जब हमारे मित्र कहानियाँ लिखने लगे (और सभी जानते है कि कुछ वर्ष पहले तक कहानीकारो में अधिकांश लोग प्रगतिशील थे) तो कहानी-क्षेत्र मे ख्याति पाने को ये मित्र 'परिमल' छोड़ कर प्रगतिशीलों में मिल गये और पिछले दिनों प्रगतिशीलों में भी 'परम प्रगतिशील' श्री भैरवप्रसाद गुप्त के साथ मिल कर उन्होने इलाहाबाद में एक प्रगतिशील संस्था खोल डाली और बात-बात मे मार्क्स और लेनिन की दुहाई देने लगे—इन कुछ वर्षों में उन्होने वेतहाशा आंचलिक कहानियाँ लिखी। आजकल दिल्ली चले गये है और मार्डन हो गये है तो उसी त्वरा से वैसी शहरी कहानियाँ घर घसीट रहे हैं और प्रगतिशीलों में राह न पा कर अज्ञेय जी के यहाँ हाज़िरी देने लगे है। अब सभी जानते हैं कि अज्ञेय जी और 'परिमल' में कोई अंतर नहीं।....यो प्रकटतः इस सब में भी कोई बुराई दिखायी नही देती। अज्ञेय जी और 'परिमल' वालों के अपने सिद्धान्त हैं और गत बीस वर्षों मे उन सिद्धान्तों में कोई अंतर नही आया। प्रगतिशीलों में से भी प्रमुख लोगो के सिद्धान्त वैसे ही अटूट रहे है। इसलिए इन दोनो पक्षो के लेखकों के यहाँ किसी तरह का विभ्रम नही, पर केवल साहित्य के कैरियर को दृष्टि में रख कर जब कोई लेखक अपने सिद्धान्त, दिलचस्पियाँ और वफ़ादारियाँ बदलता है तो उसके साहित्य पर उसका असर पड़ना लाजिमी हैं। जब इतना ढेर-का-ढेर साहित्य लिखने पर भी लेखक को गम्भीरता से नही लिया जाता तो उसे दुख होता है। पर उसका दुख करना वेजा है, क्योकि वह अपने साहित्य से जो मूलतः चाहता है, उसे मिल जाता है। शेष की उसे आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।

कुछ ऐसी ही स्थिति आगरे के उन तथाकथित नये कथाकार की है, जो पिछले दिनो नयी कथा के तीन तिलंगो मे से एक गिने जाते थे और आज 'लेफ्ट आऊट' कहलाते हैं। वे जब आगरे से चले तो डा० रामविलास शर्मा के चेले थे और नये मुसलमान की तरह प्रगतिशीलता के गुण गाते थे। कलकत्ता में जा कर उन्हें कुछ सेठों का आश्रय ग्रहण करना पड़ा और फलस्वरूप धीरे-धीरे उनकी प्रगतिशीलता हल्की गुलावी हो गयी और उन्होने प्रयोगशील कविता की

नकल में प्रयोगशील कहानियाँ लिखनी शुरू की। तभी कुछ वर्ष पहले व्यक्ति-परक कहानियों का, अपने 'भोगे' और 'झेले' को व्यक्त करने का फैशन चला और मित्र ने अपने ऊपर अकेलापन ओढ लिया। कल यदि वे भी हमारे इलाहावादी दोस्त की तरह अज्ञेय जी की शरण चले जायँ तो कम-से-कम मुझे हैरत नही होगी। उनके मन में 'दिग-दिगान्तरो' मे झंडे गाडने की प्रबल छटपटाहट है—क्या न ऐसा लिखें, क्या न ऐसा करें, जिससे उनका नाम हो जाय!—और उनकी इस छटपटाहट को देख कर खुशी भी होती है और आशा भी बँधती है, पर वे नही जानते कि 'इन्टेग्रिटी' के बिना, दूसरो का ओढ़ा या उधार लिया नहीं, अपनी अनुभूति की भट्टी से निकला कुछ दिये बिना, दिग-दिगन्तर तो दूर, अपने देश-प्रदेश तक में झंडे नहीं गड़ सकते। गड़ भी जायँ तो आने वाली पीढ़ियाँ उन्हें उखाड़ कर फेंक देती हैं।

एक तीसरे मित्र इलाहाबाद में मेरे पड़ोस ही में रहते हैं। गत पन्द्रह वर्षों से मैंने उन्हें कई रंग वदलते देखा है। किसी ज़माने में सरकारी नौकरी करते थे और कविताएँ लिखते थे। प्रगतिशीलता का जमाना था। मित्र बड़े ज़ोरों से प्रगतिशील थे। इलाहाबाद में भी कुछ दिन रहे। फिर नागपुर चले गये। तभी मुक्तिबोध के सम्पर्क में आये और सुना कि पार्टी के मेम्वर भी हो गये। मैंने नागपुर में उन्हें देखा—एक दम उग्र कम्युनिस्ट—जल्दी ख्याति पाने के लिए उन्होने कुछ वड़ी उग्र कविताएँ लिखी, जिनमें एक प्रदेश के मुख्यमंत्री स्व० रवि शंकर शुक्ल की मूँछों पर भी थी। फलतः पाँच वर्ष की सरकारी नौकरी से निकाल दिये गये। तव वे सरे आम 'परिमल' वालों को गालियाँ देने लगे, क्योकि उनका खयाल था कि 'परिमल' वालो ने ही उनकी शिकायत की है। साथ ही सरकारी विभाग के उन सेक्रेटरी महोदय को भी गालियाँ देते थे, जो स्वयं भी कवि थे और दुर्भाग्य या सौभाग्य से रिटायर हो कर इलाहाबाद में आ गये थे और जिनके कार्यकाल में मित्र उस विभाग से हटाये गये थे। मुझे याद है उन दिनों मैंने एक शाम उन सेक्रेटरी महोदय को चाय पर वुलाया। मित्र भी दिल्ली से आ कर मेरे यहाँ ठहरे हुए थे। तव उन्होने पार्टी में उन साहव के साथ वैठना अस्वीकार कर दिया और आतिथेय के रूप में मेरे मान-सम्मान की परवाह किये विना, अपनी वचकानी हेकडी में उनको गाली देते हुए कहीं बाहर चले गये और मेरी पार्टी में शामिल नही हुए। मेरा खयाल था कि वे कभी उन साहव की सूरत न देखेंगे।....लेकिन मेरी हैरत की इन्तहा न रही, जव छै महीना-साल वाद मैंने उन्हें उन्ही सेक्रेटरी महोदय के दर पर सजदा करते देखा।

यही नही; उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी से त्याग-पत्र दे दिया। धीरे-धीरे अपने सब पापो का प्रायश्चित किया और एक अर्द्ध-सरकारी पत्रिका मे टिक गये। वहीं एक प्रेस वाले से, जिसे उनके विभाग से लाभ होता था, साँठ-गाँठ कर एक साहित्यिक पत्रिका भी निकालने लगे। उस नौकरी से हटे तो उन्होंने अपनी पुरानी सरकारी नौकरी पाने की सरतोड़ कोशिश की। हिन्दी के एक बड़े कवि उस विभाग के सलाहकार थे और मित्र के हाथ से पत्रिका अभी नहीं छूटी थी। उन्होंने कवि के जन्म-दिवस पर उस पत्रिका का विशेषांक निकाला। लेकिन उन्हे नौकरी नही मिली। तब वे उन कवि को सरेआम गालियाँ देने लगे और उनकी कविता को अत्यन्त निकृष्ट बताने लगे।....इलाहाबाद में आ कर कुछ वर्ष उन्होंने अपनी अलग आइडेंटिटी बनाने की भरसक कोशिश की, बड़े तेवर दिखाये, बड़े पोज बनाये, पर काम न चला तो लगभग गत साल-डेढ़-साल की अथक साधना के बाद रूठे हुए परिमलियनों को मना कर आखिरकार 'परिमल' की गोद में जा बैठे।....

कोई प्रतिक्रियावादी प्रगतिशील नहीं हो सकता और कोई प्रगतिशील प्रतिक्रियावादी नही, यह बात नही है। वर्षों कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य रह कर लोगो ने उसे तिलांजलि दे दी और वर्षों दूसरी व्यवस्थाओ में रह कर लोग कम्युनिस्ट हो गये। जब यह परिवर्तन अन्तःप्रेरणा से होता है, सोच-विचार के बाद होता है, तो यदि व्यक्ति साहित्यकार है, उसके यहाँ विभ्रम (कन्फ्यूजन) नही होता; पर ये मित्र, मैं उन्हें अत्यन्त निकट से जानता हूँ, केवल धन अथवा यश अथवा कोरी मसलहत के लिए चोला बदल लेते रहे हैं। कल अगर फिर प्रगतिशीलता की लहर उठे तो इनमें से हरेक को प्रगतिशील होते देर न लगेगी। ....अब यदि कोई यह कहे कि इस तरह सिद्धान्त बदलने का किसी के लेखन पर कोई प्रभाव नही पड़ता, तो मै इसे नहीं मानता। मैंने इन तीनों की कहानियाँ पढ़ी हैं और मै जानता हूँ कि उनकी इस गिरगटी प्रवृत्ति का प्रभाव उनकी रचनाओ पर स्पष्ट पड़ा है।....मैं सातवें दशक के उन मित्रो से सहमत नही, जो इन तीनो को नितान्त प्रतिभाहीन मानते हैं। मै पहले मित्र की तो बात नही करता, यद्यपि उन्होने भी दो-तीन अच्छी कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन शेष दो तो निश्चय ही प्रतिभाशाली हैं। दुर्भाग्य यह है कि उन्होंने साहित्य को एक मिशन के रूप मे नही, एक कैरियर के रूप में स्वीकार किया है; साध्य नही, साधन माना है और इसीलिए उनकी रचनाओ में जबरदस्त कन्फ़्यूजन है। यदि ये मित्र ज़िन्दगी भर इसी तरह ढुलमुल आचरण करते रहे, नही सम्हले और इन्होने

अपनी निजी राह नही निकाली तो, वे लाख कोशिश करें, स्थायी यश के भागी बनना उनके भाग्य में नही, इस या उस हथकण्डे से अस्थायी यश अथवा धन वे चाहे जितना कमा लें।....ये तीनो मित्र राकेश से चिढ़ते है। राकेश ने साहित्य को कैरियर नही बनाया। उसमें अपार सेन्सिटिविटी है, वह बड़ी से बड़ी नौकरी क्षण भर में छोड़ सकता है और पेशगी मिल सकने के बावजूद रचना नही देता और वर्षो तक मन के मुताबिक उसे बनाता-सँवारता है। राकेश को यदि नुकसान होगा तो इस कारण नही कि उसके यहाँ कही कन्फ़यूज़न अथवा विभ्रम है या वह ज़िन्दगी में कैरियरिस्ट है, बल्कि इसलिए कि वह केवल लेखन के सहारे शान से रहना चाहता है, जब कि अच्छे लेखन के बल पर अभी तक ऐसा करना कठिन है (और यही डर है कि वह लेखन के सोने को छोड़ कर शान-शौकत के पीतल के पीछे न पड़ जाय और मन को ग़लत तसल्ली न दे ले।) यशपाल कोरे लेखन के सहारे वैसा नहीं कर सके। प्रकाशन के आलावा उनका प्रेस है और उनकी पत्नी पूरा वक्त देती है। मैं भी नही कर सका। चूंकि महज़ प्रकाशक बनना मुझे स्वीकार नही, इसलिए घोर परिश्रम करना पड़ता है। मैंने तय किया था कि मैं कभी अनुवाद नही करूँगा। चालीस वर्ष तक मैं उस काम से बचता रहा, लेकिन जब चीनी और पाक आक्रमण के कारण प्रकाशन घाटे में जाने लगा तो घर का खर्च चलाने को मुझे पिछले दो वर्षों में, प्रति वर्ष एक-एक अनुवाद करना पड़ा (और यह इतने वर्ष साहित्य-सेवा करने और अपना प्रकाशन रखने के बाद) मै अनुवाद न करता तो मुझे जल्दी में लिख कर उपन्यास कही देना पड़ता, जो मुझे स्वीकार न था। मैंने इसकी अपेक्षा में अनुवाद करना अच्छा समझा।....हाँ, कृष्णचन्द्र की तरह लिख कर शान से जिया जा सकता है। (और शायद राकेश पर कृष्ण का कुछ प्रभाव है भी) पर पहली तो बात यह है कि कृष्ण जीनियस है और दूसरी यह कि वह ढेरो कूड़ा भी लिखता है।

नयी पीढ़ी के युवक मेरी बात सुन कर क्रोध से पूछते है—क्या आपकी पीढी में कैरियरिस्ट नहीं थे? क्या भगवतीचरण वर्मा ने जवाहरलाल के विरुद्ध लिखा अपना खण्ड काव्य महज़ आठ सौ की नौकरी के बदले कोल्ड स्टोरेज में नही डाल दिया? क्या अंचल और बच्चन ने कैरियर पर अपने साहित्य की कुर्बानी नही दी? और क्या अज्ञेय ही परम कैरियरिस्ट नही है? उन्होने दद्दा के पैर नही दबाये या सेठ गोविन्ददास के निकृष्ट उपन्यास की प्रशंसा नही की या कभी प्रगतिशीलो का साथ देने के बावजूद अपने लेखन को

छोड़, 'कांग्रेस फ़ार कलचरल-फ़्रीडम' वालों के साथ मिल कर जन-विरोधी साहित्यिक आन्दोलन नही चलाये और यो गद्देदार कुर्सी और विदेशों की सैरों का प्रबन्ध नही किया ? क्या आज की अधिकाश कैरियरिस्ट पीढ़ी उनको ही अपना आदर्श नही मानती और अज्ञेय की प्रशंसा के साथ नये युवक लेखको को उनके तुफैलियो की भी प्रशंसा नही करनी पड़ती ? और क्या जैनेन्द्र स्वतंत्र रूप से साहित्य-सृजन करने का ढोग रच कर अन्ततः कैरियरिस्ट ही नही हैं और उनकी कहानियो में सेक्स के लटके इस ओर संकेत नही करते और आप भी क्या व्यवसायिक नही है ?—आप हो, जैनेन्द्र हो या यशपाल, कवि शमशेर ने आप सब को व्यावसायिक कहा है....

कभी दबी जबान से और कभी जोश-भरे शब्दो मे, मै नये युवको के ये अभियोग सुनता हूँ। मै सब की तरफ से जवाब नही दे सकता। अपनी पूरी सफाई तो वे लेखक ही दे सकते हैं। मै अपनी ओर से कह सकता हूँ कि 'व्यावसाय मेरी पत्नी या लड़के करते है और यदि कोई दूसरा धंधा करने के बदले वे प्रकाशन करते है और मेरी कितावों के साथ दूसरो की पुस्तकें भी छापते है और मै दूसरे प्रकाशको को पुस्तकें देने के बदले उन्हे देता हूँ तो क्या बुरा करता हूँ ? यदि प्रकाशन का पेट भरने के लिए मैं कूड़ा-कचरा लिख रहा हूँ तो यकीनन बुरा करता हूँ। और कंडम करार दिये जाने योग्य हूँ। मेरा यही निवेदन है कि मै ऐसा नही करता और गत बीस वर्ष का मेरा साहित्य इसका गवाह है।.... दूसरो की ओर से ज़्यादा नही,:इतना तो कह ही सकता हूँ कि यदि मेरी पीढी में भी कुछ कैरियरिस्ट है और यदि मैं मान लूँ कि मैं भी वैसा हूँ, तो हम सब का हश्र भी कैरियरिस्टो ही का-सा होगा। इसके बाद इतना तो सब मानेंगे कि आज की पीढ़ी के अधिकांश लेखकों की तरह हम साहित्य-क्षेत्र मे पैर रखते ही कैरियरिस्ट नहीं हो गये। 'शेखर' का अज्ञेय शायद कैरियरिस्ट नही था, 'चित्रलेखा' का उपन्यासकार कैरियरिस्ट नही था और न 'मधुबाला,' 'मधु कलश' और 'निशा निमंत्रण' का कवि ही कैरियरिस्ट था। मै भी अपने प्रकाशन का सहारा लेने के पहले लगभग एक चौथाई सदी तक साहित्य-सेवा कर चुका था। अपना उपन्यास 'गिरती दीवारें' और लगभग सारे महत्वपूर्ण नाटक लिख चुका था। यदि बाद के मेरे साहित्य को इसलिए भी नकार दिया जाय कि वह मेरी पत्नी या लडके छापते हैं, तो पहले के साहित्य को कैसे इस दलील से नकारा जायगा ? और यदि शमशेर के खयाल से यशपाल और अश्क व्यावसायिक है तो प्रेमचन्द क्या थे ? क्योकि प्रकाशन तो अन्ततः उनका भी अपना

था।....हो सकता है मेरी पीढ़ी में भी कैरियरिस्ट हों, तब जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, मेरी बातें उन पर भी वैसे ही लागू होगी, जैसी नयी पीढ़ी के लेखको पर। हम लोगो में जो भी कैरियरिस्ट होगा, अन्ततोगत्वा उसके साहित्य मे विभ्रम भी होगा और वह मार भी खा जायगा।

०

जब मैं कभी मित्र-शत्रुओं की आलोचना करता हूँ तो मेरे एक घनिष्ट मित्र, जो मेरे हित-चिन्तक है, मुझसे कहते है—'तुम क्या खुदाई फ़ौजदार हो? तुम्हें दूसरों की आलोचना कर के क्या लेना है? तुम चुपचाप अपने लिखो। बेकार मे क्यो शत्रु बनाते हो?' मुझे कभी-कभी लगता है कि वे सच कहते है! अपनी इस स्पष्टवादिता से मैंने धीरे-धीरे सभी को शत्रु बना लिया है। लेकिन मेरी मुसीबत यह है कि लेखक के नाते मैंने लगभग ३० वर्ष तक अपने अथवा साहित्य के बारे में कुछ ज्यादा नहीं लिखा—यहाँ तक एक बार श्री इलाचन्द्र जोशी ने इस बात का ताना भी दिया कि मेरा कोई दर्शन अथवा मत ही नही है। मैं लिखता सिर्फ इसलिए नही था कि मै झूठ नही लिख सकता था, इसलिए जब मैंने पहले सम्पादक 'नया साहित्य' के ज़ोर देने पर १६५५ में और फिर भैरव और श्रीपत के कहने पर १६५८ मे कलम उठायी तो जो मेरे मन में था, निर्भीक हो कर लिख दिया और फिर उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया-स्वरूप मुझे कुछ-न-कुछ लिखते रहना पड़ा। मै यह माने लेता हूँ कि मेरे लिए यह सब लिखना कोई वैसा जरूरी नही था, लेकिन लिखा है तो मुझे अफ़सोस नही। क्योंकि जितनी धाँधली पिछले दिनो कहानी-क्षेत्र में हुई है, और जिस तरह हमारी नयी पौध उखड़ी है, किसी-न-किसी को तो उसका उल्लेख करना ही था।

फिर मैं यह भी मानता हूँ कि जब तक हमारे साथी अच्छा नही लिखते, हम स्वयं भी अच्छा नही लिख सकते। मैं अपने उस पड़ोसी मित्र की बात नही कहता, जिनका शत्रुनाशक योग आज कल ज़ोरो पर है, और जो सबेरे उठ कर पूजा पर बैठते हैं और प्रार्थना करते है कि उनके सारे शत्रु नष्ट हो जायँ—याने लिखना बन्द कर दें—और उनका रास्ता साफ़ हो जाय!—मैं अपनी बात कहता हूँ। मेरा यह मत ही नही, मेरा अनुभव भी है कि साथी अच्छा लिखते है, तभी हमें अच्छा लिखने की प्रेरणा होती है। १६३६ में जब नयी कहानी का आन्दोलन उर्दू में शुरू हुआ, बहुत अच्छी कहानियाँ लिखी गयी। फिर जब १६४१ में प्रमुख उर्दू कथाकार ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली में आ गये तो बहुत अच्छे एकांकी और कहानियाँ लिखी गयी। अभी कुछ वर्ष पहले नय-कहानी-

आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा तो यद्यपि फ़ैशन के तौर पर काफी कूड़ा-कचरा भी लिखा गया, पर इसमें कोई सन्देह नही कि स्पर्धा मे कुछ बहुत अच्छी रचनाएँ भी सामने आयीं !....मैं स्पर्धा को बहुत जरूरी समझता हूँ। वह हमारी प्रतिभा को सान पर चढ़ाती है।

इसके अलावा मैं मित्र का यह गुण मानता हूँ कि वह मुँह-देखी अथवा दुमुँही बात न कहे। जो मित्र अपने मित्र को उसके दोष नही बता सकता, वह मित्र कहाने योग्य नहीं है। मै अपने घनिष्टतम मित्रों की इसलिए आलोचना करता हूँ, उन्हें कोचता हूँ कि वे अच्छा लिखें। वे नाराज़ हो जाते है तो मैं क्या कर सकता हूँ ? मैंने यह देखा है कि साहित्य में 'अहो रूपम अहो ध्वनि' वाली नोति ही मित्रो का पसन्द है। जब तक मित्र की रचनाओं की प्रशंसा करते रहो, वह खुश रहता है और बदले मे आपकी भी तारीफ करता है, जिस दिन आप उसकी आलोचना करें, वह अपने मित्रो की सूची से आपका नाम काट देता है। यादव की कुछ रचनाओं की मैंने खूब प्रशंसा की है, लेकिन जब उन्होने 'एक कटी हुई कहानो' लिखी और मैने उसकी आलोचना की तो उन्होने फिर कितने ही लेख लिखे और उनमें कहानीकार के नाते मेरा नाम काट दिया।....और यादव अकेले नही, बहुत दूसरों ने ऐसा किया है और मै मित्रों की इस उपेक्षा का अभ्यस्त हूँ। एक मित्र ने तो जब अश्क को काटते हुए पुराने लेखकों की कहानियाँ गिनायी तो यशपाल की डेढ़-दो सौ कहानियों में केवल 'फूलो का कुर्ता' ही का नाम लिया, जो कि वास्तव में भूमिका है कहानी नही। वे यशपाल का नाम ही न लेते, यदि अश्क को उन्हें कहानी-क्षेत्र से मिटाना न होता, क्योंकि यशपाल उनकी रुचि से मेल नही खाते और इसीलिए शायद उन्होने यशपाल का कुछ ज़्यादा नहीं पढ़ा। मुझ पर इन प्रतिक्रियाओ का कोई प्रभाव नही पड़ता और मैं मसलहतों के कारण झूठी बात लिखने ने असमर्थ हूँ। अपने कृतित्व के प्रति मुझे कभी शंका नही रही, इसलिए मैं आलोचकों और लेखको ही की नही, कई बार पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों की नाराज़गी भी मोल ले लेता हूँ, क्योकि मैं जानता हूँ कि किसी को जमाना या मिटाना उनके वश में नही। फिर ऐसे लेखक को काटना तो और भी मुश्किल है, जिसकी रचनाएँ एकागी नही और जिस वर्ग को उसने लिया है, उसका पूरा चित्रण करती है और जब वर्तमान आन्दोलनो की धूल-गर्द बैठ जायगी और इन चालीस-पचास वर्षों का लेखा-जोखा लिया जायगा तो इस युग की समन्वित निम्न-मध्यवर्गीय संवेदना आने वाले पाठक को उसी की रचनाओ में मिलेगी।

लेकिन यदि ऐसा न भी हो और लेखक के नाते (कि सभी लेखक अपने आप को महान समझते है) यह महज़ मेरा भ्रम हो, तो भी जब मै अपने साथियों की कहानियाँ पढता हूँ (और इस बात की अपेक्षा नही रखता कि वे मुझे भेंट-स्वरूप पुस्तकें भेजें तभी मै पढ़ूँ, बल्कि खरीद कर भी पढ़ता हूँ) और कई रचनाएँ दोबारा-सहबारा पढता हूँ, तो पाठक के नाते मुझे क्या यह अधिकार नही कि जिन रचनाओ पर मैंने वक्त लगाया है, उनके बारे में अपनी राय व्यक्त करूँ ? पाठक प्राय: प्रशंसा भरे पत्र लिखते है, लेकिन कभी-कभी उनके बडे रोष भरे पत्र भी आते है। मै कभी उनका बुरा नहीं मानता। जो पाठक पुस्तक खरीद कर पढता है (वह लाइब्रेरी में जा कर पढता है तो भी इससे फर्क नही पडता) उसका पूरा अधिकार है कि वह अपने मन की बात कहे। चूंकि लेखक-गण पाठक का कुछ भी नही बिगाड सकते, इसलिए वे उसे मूर्ख समझकर अपने अहं को संतोप दे लेते हैं, पर जब मेरे जैसा कोई लेखक आलोचना करता है तो उन आलोचनाओं से लाभ उठाने के बदले, वे नाराज़ हो जाते है; दस तरह से हानि पहुँचाने का प्रयास करते है अथवा दल-बद्ध हो कर मुकाबिले पर आ जाते है। वे नही जानते कि कोई लेखक किसी दूसरे को नुकसान नहीं पहुँचा सकता—उसे सिर्फ़ उसका बुरा लिखना ही नुकसान पहुँचा सकता है। यदि उनकी रचनाएँ बहुत अच्छी हैं तो मेरी आलोचना उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती और यदि मैं अच्छा लिखता हूँ, तो साहित्यिक सम्पादकों की सचेत उपेक्षा और रुष्ट मित्रों की दलबन्दी मुझे कोई हानि नहीं पहुँचा सकती।...एक बार मैंने हँसी-हँसी में अपने एक घनिष्ट मित्र के नव-प्रकाशित उपन्यास के बारे में नयी दिल्ली के टी-हाउस में एक आलोचनात्मक जुमला कह दिया। बहुत दिनो बाद मित्र ने शिकायत की कि अपने उस वाक्य से मैंने उस उपन्यास को मार दिया। मैंने कहा कि यदि वह उपन्यास मेरे एक जुमले से मर सकता है तो वह इसी योग्य था कि मर जाय—एक जुमला तो दूर रहा, विरोध में लिखी गयी पूरी-की-पूरी पुस्तक भी किसी अच्छी रचना का कुछ नही बिगाड़ सकती।

इस सन्दर्भ में मैंने एक उसूल बना रखा है। जो लोग मेरी रचनाओं को इसलिए पसन्द नही करते कि उनकी रुचि मुझसे भिन्न है और जैसा साहित्य में लिखता हूँ, वह उन्हें प्रिय नही, मै उनकी इज़्ज़त करता हूँ। उनकी लिखित अथवा अलिखित आलोचनाओ के बावजूद उनके मेरे सम्बन्ध कभी खराब नही होते। गत अप्रैल के 'माध्यम' में डा० देवराज उपाध्याय ने दो तरह के उपन्यासो की सूची दी है, पहली में वे उपन्यास हैं, जो उन्हे नही 'खीचते,' दूसरी

मे वे, जिन्हे वे बार-बार पढते हैं। पहली सूची मे मेरे उपन्यासो के साथ यशपाल का 'झूठा सच' और श्री नागर का 'बूँद और समुद्र' और दूसरे में डा० देवराज, श्री माचवे, डा० रघुवंश और अज्ञेय के उपन्यास है। इसमें कोई सन्देह नही कि यह रुचि का प्रश्न है। क्योंकि जिन लोगो को पहली सूची के उपन्यास पसन्द है और जो उन्हे पढ सकते है, वे दूसरी तरह के उपन्यासों को नहीं पढ़ पाते। यह दो धाराएँ तो प्रेमचन्द और प्रसाद के समय से चली आ रही हैं। प्रकट है कि मेरी रचनाओ में तमाम मनोवैज्ञानिकता, सूक्ष्मता और प्रतीकात्मकता के बावजूद प्रेमचन्द का प्रभाव है और जो रुचि-वैभिन्य के कारण उन्हे पसन्द नही करते, (स्व० नलिन विलोचन शर्मा भी उनमे से एक थे) मै उनका बुरा नही मानता। लेकिन जो साथी पहले मेरी प्रशंसा करते है, मेरे साहित्य अथवा मेरे व्यक्तित्व के बारे मे लिखते है और जब मै उनकी किसी रचना की आलोचना कर देता हूँ, तो मेरे शत्रु हो जाते हैं, मेरा नाम हिन्दी-साहित्य से काट देते है, मै उनकी इज़्जत नही कर पाता। मै उन्हें महज़ कायर और कैरियरिस्ट मानता हूँ।.... एक बार ऐसे ही एक मित्र, जो कुछ वर्ष पहले इलाहाबाद से दिल्ली चले गये हैं, मुझे राष्ट्रपति-भवन में मिल गये। हाल के ऐन बीच एक खाली पंक्ति में बैठे थे। हम लोग समय से पहले पहुँच गये थे। मै उनके पास जा बैठा। उन्होंने बहुत जगह मेरी प्रशंसा कर रखी है। मेरा दुर्भाग्य कि मै उस अनुपात मे उनकी प्रशंसा नही कर सका। जब मैंने कहानी पर लिखने को कलम उठाया तो जैसा मुझे ठीक लगा उनकी कहानियो के बारे में मैंने लिखा। सो मित्र बेहद रुष्ट है। इधर उन्होने श्री यादव और नरेश मेहता की तरह मेरा नाम कहानी और नाटक साहित्य से काट दिया है। राष्ट्रपति-भवन में जब फंक्शन खत्म हो गया तो मैंने उनसे कहा, 'यार, इधर तुम मुझे काटने पर तुले हो, पर साहित्य-कोश मे तुमने जो मेरी इतनी प्रशंसा कर रखी है, उसे कैसे काटोगे ?' ऊपर की ओर उँगली उठा कर, अत्यन्त दयनीय भाव से बोले—'भगवान काटेगा !'

मुझे सचमुच दया हो आयी। लगा कि मै भगवान होता तो तत्काल इनकी बात मान लेता। इतना छोटा-सा दिल ले कर वे साहित्य में आ गये है, और सब को पीछे हटा कर एकदम शिखर पर जा बैठना चाहते हैं।—मेरे पडोसी मित्र की तरह सुबह भगवान की पूजा भी करते होगे (तभी उन्हें विश्वास है कि भगवान जरूर मेरा नाम साहित्य से काट देगा) पर उन्हें कौन बताये कि भगवान यह सब नही करता। वह केवल प्रतिभा देता है, उसका उचित व

अनुचित प्रयोग हमीं करते है और हमी अपनी प्रतिभा का गलत इस्तेमाल कर, अपने साहित्य का गला अपने हाथो रेतते है।

फिर एक और बात है, जिसकी वजह से अपने हितचिन्तक मित्र के समझाने के बावजूद, मे जब कलम उठाता हूँ तो सच्ची बात लिखने से बाज़ नही आता। मेरी उम्र बढ गयी है। मैं साठ का होने को आया हूँ। मेरी पत्नी और बच्चो ने मेरी रचनाओ के छपने की समस्या हल कर दी है। राज-दरबार में इनाम-इकराम की मुझे चाह नही। मिल जाय तो इनकार भी नही, पर उसके लिए कुछ ऐसा करना, जिसे मेरी आत्मा स्वीकार नहीं करती, मुझे मंजूर नही। यह हो सकता था कि जैसे मैं तीस वर्ष तक चुप रहा हूँ, वैसे ही अब भी चुप रहता, क्योकि यह तो ठीक है कि यह सब लेख-वेख लिखना द्वितीय श्रेणी का काम है और मेरे जैसे सृजनरत कथाकार को अपना समय उसमे बर्बाद नही करना चाहिए। लेकिन जब मैं लिखूँ तो झूठ लिखूँ, यह मुझे स्वीकार नही। **द्वितीय कोटि का काम करो और उसे भी घटिया तरीके से करो, इसे मैं सरा सर ग़लत मानता हूँ।**

०

उम्र के बढ जाने के कारण एक और बात भी हुई है। यदि नये भाव-बोध का झण्डाबरदार कोई तथाकथित 'नया' कथाकार, अथवा सातवें दशक का मेरा कोई साथी मेरे पुराने साथियों के साथ मुझ पर पिछड़े होने या चुक जाने का अभियोग न भी लगाये, तो भी इतनी उम्र पार कर लेने के बाद, अपने अतीत का जायज़ा लेने वाले किसी क्षण में, मेरे जैसे पुराने लेखक को अपने ही सामने जवाबदेह होना पड़ता है—ऐसे किसी क्षण में जब वह देखता है कि आदर्श-भरे जिन साथियों के साथ उसने साहित्य-क्षेत्र में कदम रखा था, वे तो कब के उन आदर्शों को छोड़ बैठे है और जिस ज़मीन को वह पक्की समझता था, वह तो नितान्त पोली और दलदली है तो वह सोचता है कि यदि गले तक वह उस दलदल में डूब नही जाना चाहता, तो उसे मज़बूत ज़मीन की तलाश करनी होगी।

पिछले दिनो मे बम्बई गया। वहाँ मै ऐसे मित्रो की एक पार्टी में शामिल हुआ, जो सब-के-सब कभी बड़े-बडे आदर्शों को ले कर चले थे। उन्हें पानी की तरह शराब बहाते और नशे में मख़मूर जूत-पैज़ार करते अथवा गन्दी फ़ोहश गालियाँ बकते देख कर मेरी अन्तरात्मा काँप गयी—'क्या इनमें से कोई ऐसा महसूस नही करता,' मैं सोचने लगा, 'कि यदि ये बेहतर और पक्की ज़मीन

की तलाश न करेंगे तो उस पोली और दलदली जमीन में दिन-ब-दिन और गहरे धँसते जायँगे।—यहाँ तक कि फिर निकलना उनके लिए असम्भव हो जायगा !'

और मुझे उन चन्द लेखकों की याद आयी, जिन्होंने उस दलदल में भी धरती के एक-दो पक्के टुकड़े खोज रखे थे।

'इनके वे आदर्श कहाँ गये ?' मै सोचता रहा, 'क्या यही लोग शोषण को मिटाने और क्रान्ति लाने चले थे ?—ये टूटे, खण्डित, कुंठित शराबी लोग !'.... और रात भर मे सो नही पाया—असंस्कृत प्रोडयूसरों, अनपढ अभिनेताओ, मूर्ख तुक्कड़ों, इधर-उधर से चुरा कर फ़िल्मी कहानियाँ बनाने वाले कथाकारो, देशी संगीत की दरियाई मे विदेशी संगीत के नायलन का पैवन्द लगा कर ट्यूनों के पैटर्न बनाने वाले संगीतकारो को अपनी आँखों के सामने सफल होते और लाखों पीटते देख कर, वे स्वयं अपने साधनारत कलाकार की आधारभूत प्रतिज्ञा भूल गये — वे लोग जो कभी जंगल को दानवों से मुक्त कर, रहने लायक बनाने के लिए घर से निकले थे, स्वयं दानवो की तरह शराब के नशे में धुत्त थे और उन्हें नही मालूम था कि वे क्या बक-बोल रहे है। दूसरे दिन मुझे मालूम हुआ कि वे नित्य ऐसा करते है। जिससे वे मन में नाराज़ होते है। शराब पी कर वे उसका अपमान करते है; कि वे दरअस्ल मर चुके है; यद्यपि उन्हें इसका एसहास नही। दिन भर सेठों की खुशामद में भाग-दौड़ करते हुए, वे मसलहतो और समझौतो के दलदल में गले तक डूब गये है और शराब पी कर अपना गम ग़लत करते है।

पिछले दिनो अलीगढ से उर्दू के एक अध्यापक और नक्काद (आलोचक) श्री अतहर परवेज़ आये। उन बम्बइया मित्रो का ज़िक्र चला तो कहने लगे, 'अब वे सभाओ में बोलने, गोष्ठियों मे रचनाएँ सुनाने, बहस-मुबाहिसों में भाग लेने से कतराते है। बस छोटी-सी निजी मजलिस हो, जिसमें शाम के शगल का प्रबन्ध हो, इससे ज्यादा उन्हे कुछ नही चाहिए।....'

और ऐसे में मुझे राजधानी के कुछ मित्रो की याद आती है, जिनके साहित्यिक भविष्य के बारे में हिन्दी पाठक के नाते कभी मेरे मन में बडी-बड़ी आशाएँ थी। एक के बारे में तो मै समझता था कि वह हिन्दी का सबसे बडा क्रान्तिकारी कवि होगा और दूसरे के बारे में समझता था कि भगवान ने उसे इतनी प्रतिभा दी है, टैगोर और तालस्ताय से तो वह कम क्या बनेगा ! लेकिन जिस प्रकार ज़िन्दगी भर त्याग करने के बाद पदारूढ़ होने पर राजनीतिक नेता

भूल जाते हैं कि वे किस लिए त्याग कर रहे थे और बडे ठस्से से शक्ति-लोलुपता और भ्रष्टाचार मे योग देते है, इसी प्रकार मध्यवर्गीय कलाकार कठिनाइयों का सामना करते-करते अपने साहित्य के बल पर जब पद या प्रतिष्ठा पा लेते है तो साहित्य को भूल उसी में रम जाते है—पिछले दिनों दिल्लीवासी साहित्यकारों में से एक इस बात पर प्रसन्न थे कि उन्हें अब पन्द्रह सौ मिलने लगा है, गाड़ी ले रहे हैं, फ्रिज है, एयर कंडीशनर है, विदेशी दूतावासो की पार्टियो से उन्हें निमंत्रण मिलते है और वे शीघ्र ही विदेश जाने वाले है और वे परम सन्तुष्ट थे। और जो उनकी स्थिति थी वही लगभग दूसरों की है। किसी उत्कृष्ट रचना पर शान करने के बदले खाम चीज़ों पर वे फूले नही समाते और जब दिल्ली के दूसरे छुटभइये उनसे ईर्ष्या करते हैं, किसी छोटे पद के लिए उनके यहाँ हाज़िरी देते है तो उनके अहं को बड़ा संतोष मिलता है। और चूँकि वे स्वयं कुछ ज्यादा नही कर सकते, इसलिए जो अब भी बेहतर लिखते है, उन्हें नकारने अथवा उनका विरोध करने ही में वे सुख पाते है।

और मैं सोचता हूँ कि १९४८ में यक्ष्मा की लम्बी बीमारी के बाद पंचगनी छोड़ने पर पुनवास की समस्या सामने आयी, तो बम्बई और दिल्ली को (जहाँ उस वक्त सेटल होने की सुविधा थी) छोड़ कर, इलाहाबाद चुनने मे मैंने गलती नही की। इलाहाबाद में मैंने तकलीफ तो बहुत पायी है, पर साहित्यकार के लिए इससे बेहतर दूसरी जगह नही। यो तो प्रबल इच्छा-शक्ति का स्वामी साहित्यकार कही भी साधना कर सकता है, लेकिन बम्बई और दिल्ली और कलकत्ता मे उसके अनजाने और अनचाहे भी ऐसी स्थितियाँ आ सकती है कि उसकी साधना छूट जाय और जब वह चेते तो उसे मालूम हो कि वह बहुत दूर निकल आया है और पलटना उसके लिए मुश्किल हो हो जाय!

०

और आज जब मैं अपने अन्तर में झाँकता हूँ और पाता हूँ कि मेरे अन्तर का कलाकार अब भी पुराने आदर्शों से चिमटा, हर तरह के संघर्ष का मुकाबिला करते हुए भी अपनी दयानत और निष्ठा और आस्था को बनाये रखने का प्रयास कर रहा है, तब मैं इस बात की परवाह नही करता, यदि कोई यह अभियोग लगाता है कि आधुनिक भावबोध को मैं नही छू पाता और मैं आज से पचास वर्ष पीछे के आदर्शों से चिमटा हुआ हूँ। (क्योंकि तथाकथित आधुनिक भावबोध वाले लोग आजकल दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता ही में रहते है।)

मेरी स्पष्टवादिता प्रायः लोगो को नाराज़ कर देती है। मेरे एक अन्य

हितचिन्तक ने एक दिन कई मित्रो का नाम लेते हुए कहा कि अमुक और अमुक और अमुक तुमसे क्यों नाराज़ है ? आखिर'यों मित्रो को नाराज़ करने में क्यों मे क्या नैतिकता है ?

मै इस नैतिकता के प्रश्न पर विचार करता चला आया। मैंने किसी का कुछ बिगाडा नही था, हाँ कुछ साहित्यिक प्रश्नो पर अपने विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त किये थे और समझौतों और मसलहतो की इस दुनिया में, जब किसी रचना अथवा किसी प्रश्न के बारे में अपने विचार भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नही किये जा सकते; जब लोग किसी रचना के बारे में कमिट करने से घबराते हैं; जब लिखते समय पत्र-पत्रिकाओं की गद्दियो पर जमे हुए साहित्यकार-सम्पादकों का ध्यान बना रहता है, मसलहत के पेशे-नजर चरण-रज ले लेना और काम निकल जाने पर मित्र की पीठ में छुरा भोंक देना, अपने आप को सच्चा अथवा प्रगतिशील साहित्यकार कहने वाले भी बुरा नहीं समझते और चन्द टकों की सिक्योरिटी के लिए विभागाध्यक्षों के दर पर हाजिरी देना बुरा नही समझा जाता, तो मेरे जैसे आदमी से लोगों का नाराज हो जाना स्वाभाविक है—(विशेष कर उनका, साहित्य को जिन्होंने फैशन की तरह ओढ रखा है या जो इसे किसी गद्देदार कुर्सी पर चढने के लिए सीढी-मात्र समझते है।).... जिन लोगो की आस्थाओ के फूल मुरझा चुके है; जिनके उद्देश्य अंधी गलियों में जा कर सिर पर हाथ रख कर बैठ गये हैं, जिनके सपने अपाहिज हो चुके है और जिनके अन्तर का लावा धुआँ वनकर सुविधाओं के आसमानो में खो गया है—वे लोग यदि मुझ पर नाराज़ है तो मै अपने को गुनहगार नही समझता। कल यदि वे मुझ पर प्रसन्न हो जायँ तो मुझे लगेगा कि मुझसे सचमुच कोई गुनाह हो रहा है।

और आज साहित्यिक जीवन के चालीस वर्ष पार कर आने के वाद मैं पाता हूँ कि न ज़िन्दगी की ललक में, न संघर्ष करने की शक्ति में, न आस्था और विश्वास में, न श्रम और निष्ठा मे, मैं कही भी पीछे नही हटा। मै वही खड़ा हूँ, जहाँ कि उस वक्त खड़ा था, जव जवानी के जोश में मैने मन में उठने वाले ववंडरो को कलम की नोक पर रखने की वात सोची थी। यदि आज के मसलहत-पसन्द युग में मेरी साफगोई और निष्ठा पुराने ज़माने की है तो मै इस अभियोग से इनकार नही करूँगा। मै केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि मै इसे गुनाह नही मानता। हाँ, यदि मै अपने आदर्श से च्युत हो जाता, मुझे पत्र-कारिता, रेडियो, फिल्म या प्रकाशन खा जाता, मेरी रचनाओं का स्तर गिर जाता तो मै अपने को गुनहगार मानता। किसी दूसरे की तरह लिखना तो मेरे

वस की बात नहीं, अपने ही कायम किये हुए स्तर से मै अपनी नयी रचनाओं को माप सकता हूँ और यथासम्भव मैं स्तर को गिरने नही देता। किसी विधा में रास्ता रुक जाता है तो मै विधा वदल लेता हूँ।

०

दो वर्ष पहले इलाहाबाद मे नये कथाकारो की एक परिगोष्ठी हुई। दिल्ली, कलकत्ता से भी लोग आये। उस सिलसिले में मेरे यहाँ भी कुछ कथाकार इकट्ठा हुए। तब तथाकथित नये कथाकारों में मूर्धन्य एक मित्र ने मुझसे कहा कि अश्क जी आप आज से पन्द्रह-बीस वर्ष पहले के जीवन पर बड़े-बड़े उपन्यास (वे पोथे कहना चाहते थे, पर शालीनतावश उन्होंने नही कहा) लिख रहे हैं। आप वह सब छोड़िए, नये भाव-बोध को स्पर्श करने वाले, नयी समस्याओ को अपने में समोने वाले छोटे-छोटे उपन्यास लिखिए।

और वे मित्र नये लेखक के एकाकीपन, उसके बावजूद ज़िन्दगी से उसके सम्पर्क, सामाजिक तथा राजनीतिक हलचलों में योग देने के सिलसिले में उसकी प्रतिवद्धता आदि की बातें करते रहे।

उस समय तो मैंने यही कहा कि भाई, तुम नये लेखक आखिर किस मर्ज की दवा हो ? तुम क्यो इन सब समस्याओ पर कही लिखते ? लेकिन बाद में मैंने उनकी वातों पर विचार किया। उनके हाथ मे मैंने 'पेलिकन गाइड टू इंग्लिश लिट्रेचर' का 'माडर्न एज' नामक खण्ड देखा था (जिसके बल पर भाई नामवर सिंह ने भी नयी कहानियो पर दो-एक लेख लिखे हैं।) वह उन्ही दिनो बाज़ार मे आया था। ख़रीद मै भी लाया था, पर देखने का अवसर न मिला था। एक दिन यो ही बैठा मैं उसका पहला लेख पढने लगा। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि वे बातें तो मैंने कहीं सुनी या पढी है। मुझे याद आया कि कुछ ही दिन पहले गोष्ठी में सुनी थीं, जब मेरे मित्र ने लेखक की प्रतिवद्धता पर मेरी राहनुमाई की थी। तभी मेरी दृष्टि फॉरेस्टर के एक कथन पर गयी जो भिन्न टाइप में पृष्ठ के बीच सेट था :

"उपन्यास लिखना छोड़ने के कारणों पर सोचता हूँ तो मुझे एक कारण यह सुझाई देता है कि इस बीच में सामाजिक परिपार्श्व बहुत वदल गया है। मैं पुराने ज़माने की दुनिया के बारे में लिखने का अभ्यासी था— उस ज़माने में घरों के, गृहस्थी के अपेक्षाकृत शान्त वातावरण का चित्रण मैं करता था। वह सव बदल गया तो मैंने भी लिखना छोड़ दिया। नयी

दुनिया के बारे में मैं सोच सकता हूँ, पर उसे कलम की नोक पर नहीं रख सकता।"

'तो मेरे मित्र ने ये पंक्तियाँ पढ़ कर मुझे वह सद्परामर्श दिया था !' मैंने मन-ही-मन सोचा और मुझे हँसी आ गयी। क्योंकि पहली बात यह कि अनुभूत सत्य कभी पुराना नही पड़ता। यदि आज अस्सी वर्ष की उम्र का कोई सशक्त लेखक (उसमें लिखने की शक्ति हो तो) आज से सत्तर वर्ष पहले की जिन्दगी के बारे में अपनी अनुभूतियाँ रचनाबद्ध करे, तो वे आज भी ताजा लगेंगी। हो सकता है, फॉरेस्टर की अनुभूतियाँ चुक गयी हों और उन्होंने यह लिख कर अपनी चुप्पी के लिए छुट्टी पा ली हो।....फिर गत पन्द्रह-बीस वर्षों में हमारे यहाँ निम्न-मध्यवर्ग की ज़िन्दगी आधारभूत रूप से ज्यादा नही बदली। 'गिरती दीवारें' के सारे पात्र आज भी निम्न-मध्यवर्ग के गली-मुहल्लों मे मिल जायँगे। यही नही मेरी पुरानी कहानियो के पात्र भी वहाँ दिखायी दे जायँगे। ज़मीदारियाँ टूट गयी है, पर पुराने ज़मीदार सरपंच बन गये हैं और धरती-विहीन किसानों का शोषण पूर्ववत जारी है। दफ्तरो में 'केप्टन रशीद' की समस्या न केवल वैसी ही है, वरन् और भी व्यापक रूप ले गयी है। 'काकड़ाँ का तेली' का मौलू या 'अंकुर' की सेंकरी या 'उबाल' का चन्दन या 'पिंजरा' की शान्ति अथवा 'मनुष्य-यह !' का परसराम—सब-के-सब पात्र आज के निम्न-मध्यवर्गीय जीवन में जस-के-तस हैं....। हाँ, इधर जिन्दगी मे कुछ अधिक गति आ गयी है। लड़कियाँ पढ गयी है और नौकरियाँ करने लगी है और उनके आर्थिक बन्धन टूट रहे हैं। सेक्स कुछ खुल कर सामने आ गया है और उसमें नयी कुण्ठाएँ और पेचीदगियाँ पैदा हो गयी है। दो-एक कवयित्रियाँ नंगी कविताएँ भरी मजलिस में पढने लगी है। महँगाई; दफ्तरो में वढ़ती रिश्वत; ब्लैक मार्केट और नेताओ के आदर्श-च्युत होने से कुछ नयी समस्याएँ पैदा हो गयी हैं। पर वे आज से पन्द्रह-बीस वर्ष पहले एकदम नही थी, ऐसी वात नहीं। (इस्मत की कहानी 'लिहाफ' तो १९४१ के करीव छपी थी।) नये लेखकों को चाहिए कि पश्चिम से आने वाली आलोचनात्मक पुस्तको को पढ़ कर नारे न वनायें—न नारे, न पोज़, न दृष्टि !—ज़िन्दगी को खुली आँखो देखें, उससे कंधा रगडें, खुल कर जियें और जो वातें, चित्र या पात्र या समस्याएँ या घटनाएँ उन्हें झकझोर जायँ, हॉण्ट करती रहें, उन्हें कलम की नोक पर कलापूर्ण ढंग से उतारें—आधुनिक भाव-वोध उनमें अपने-आप आ जायगा।....रही एव्सर्डिटी, तो वह हर काल, देश और स्थिति में रहती है। ज़रूरत इस वात की होती है

कि लेखक अपने परिवेश की एब्सर्डिटी को पहचाने। यदि वह ऐसा करता है और अपनी अनुभूतियो के माध्यम से उस एब्सर्डिटी का चित्रण करता है, तो वह उन लोगो की अपेक्षा ज़्यादा आधुनिक होगा; जो केवल दूसरों की नकल मे आरोपित एब्सर्डिटी का चित्रण करते हैं। अमरकान्त और रेणु ने अपनी कहानियों मे और परसाई ने अपने कहानी-जैसे निबन्धो में इसी एब्सर्डिटी का चित्रण किया है और वे तथाकथित आधुनिको से ज़्यादा आधुनिक है।—रहे वे लेखक जो पूरी जिन्दगी को एब्सर्ड मान कर मृत्यु-बोध की बात करते हैं, तो उनसे मैं पूछता हूँ कि यदि जीना ही एब्सर्ड है तो लिखना भी एब्सर्ड कैसे नही है ? यदि वे एब्सर्डिटी से जूझ कर बेहतर जीवन के लिए नही लिख सकते तो उन्हें मरने से कौन रोकता है ? प्रकृति ने एक ही चीज़ तो आदमी को दे रखी है कि वह जब चाहे इस ज़िन्दगी का खात्मा कर सकता है।

०

मैं अपने आपको प्रगतिशील समझता हूँ, लेकिन वैसा प्रगतिशील नही जो पार्टी की परिभाषा पर पूरा उतरे, इसीलिए मैं कभी किसी पार्टी का सदस्य नही बना और न प्रगतिशीलता की डा० रामविलास शर्मा वाली परिभाषा से मै सहमत ही हूँ। मार्क्स का अध्ययन भी मैंने विधिवत नही किया। जो साहित्य मानव को इस योग्य बनाता है कि वह अपने आपको और अपने समाज को समझे और यथार्थता को देख कर अपने आदर्श और उन पर पहुँचने का रास्ता बनाये, उसे मैं प्रगतिशील मानता हूँ। व्यक्ति को एकदम नकारा जा सकता है, इसमे मुझे सन्देह है। मै व्यक्ति के आईने में समाज और समाज के आईने में व्यक्ति को देखना-दिखाना चाहता हूँ। केवल व्यक्ति को नज़र में रख कर लिखना भी मुझे एकांगी लगता है। जब समाज है, भले ही व्यक्तियो से बना है तो उसे अदेखा कर जाना एक ऐसे बडे सत्य से आँखें मूंद लेना है, जो चण-चण हमारी ज़िन्दगी पर असर-अन्दाज़ होता है— और मैं ऐसा नही कर सकता।

चार दशकों से लिखते और अपने वर्ग की समस्याओ का यथाशक्य यथार्थ चित्रण करते हुए, एक बात मुझे हमेशा महसूस होती रही है। वह यह कि आदमी की बनावट में कुछ ऐसा ज़रूर है, जो जल्दी नही बदलता। आदमी का बाह्य बदल जाता है, वातावरण बदल जाता है, उसके तौर-अतवार, आचार-विचार बदल जाते है, पर अपरिवर्तनशील-सा वह 'कुछ' वैसा ही रहता है। और ऐसा आदमी के साथ ही नही प्रकृति के साथ भी है। जब-जब मैं किसी ऐसी वस्तु-स्थिति से दो-चार हुआ हूँ, इस बात के बावजूद कि वह स्थिति बहुत पुरानी

लगी है, नये सन्दर्भों मे फिर से उसका चित्रण करने को मन हुआ है। नये लेखक मुझ पर पुरानी रौंदी हुई थीम अथवा स्थिति को लेने का अभियोग लगा सकते हैं, पर क्या किया जाय कि वह वस्तुस्थिति नयी परिस्थितियो में अभिव्यक्ति की माँग करती है, परेशान करती है, हॉण्ट करती है....

'गिरती दीवारें' के दूसरे संस्करण की भूमिका में वर्षों पहले मैने लिखा था : 'प्रकृति मानव के सुख-दुख से नितान्त उदासीन अपनी आभा और अपरूपता बिखेरती रहती है। आदमी अपने ही सुख-दुख के चश्मे से उसे देखता है। वह सुखी होता है तो प्रकृति की भयावहता भी उसे सुन्दर लगती है, दुखी होता है तो उसका अनुपम सौंदर्य भी उसे वीभत्स दिखाई देता है।'....प्रकृति की यह निरपेक्षता मुझे हमेशा आकर्षित करती रही है और 'गिरती दीवारें' के नायक चेतन की विभिन्न मन:स्थितियो में प्रकृति के चित्रण द्वारा मैंने इस वस्तुस्थिति का संकेत किया है।....लेकिन कभी-कभी मुझे मानव मे भी प्रकृति जैसी कुछ वैसी ही निरपेक्षता के दर्शन होते हैं, जब मानव मानव नही रहता—हस्सास, भावप्रवण, सम्वेदनशील मानव—वह प्रकृति जैसा ही जड़ और निरपेक्ष हो जाता है।....मई, १९६५ की 'नयी कहानियाँ' में छपने वाली अपनी कहानी—एक उदासीन शाम—में मैंने इसी स्थिति का चित्रण किया हैं। टैरिस पर बैठी हुई लड़की और क्षितिज में रँग उठने वाली शाम की उदासीनता मे कोई अंतर नहीं—वह लड़की जैसे उस शाम ही का प्रतीक बन गयी है। उसकी एक गलत-अन्दाज़ निगाह किसी अधेड़ व्यक्ति को अपनी जान दे देने पर विवश कर देती है, इस ओर से नितान्त उदासीन वह अपने सौदर्य में मस्त है।

जिन पाठको ने कहानी के शीर्षक पर ध्यान नहीं दिया और केवल प्रोफेसर कानेतकर की लोलुपता को ही देखा, वे कहानी के मर्म को नही पकड़ पाये।.... जैसे प्रकृति इस बात से नितान्त उदासीन रहती है कि उसके बदलते रंगों को देख कर किसी को कैसा लगता है, उसी तरह टैरिस पर बैठी वह लड़की अपने सौंदर्य से प्रभावित प्रोफ़ेसर कानेतकर की भावनाओ, उनके आवेग, यहाँ तक कि उनकी मृत्यु तक से नितान्त उदासीन रहती है—और वह प्रकृति की उस निरपेक्षता का ही प्रतीक नही, हमारी उदासीनता का भी प्रतीक बन जाती है, क्योकि दूसरी स्थितियों में हम भी कभी-कभी वैसे ही जड़, निर्मम और उदासीन हो जाते है।....लेकिन क्या हममें से कोई कानेतकर की तरह आचरण नही कर सकता ? कर सकता है। हम सब मे एक कानेतकर छिपा बैठा है। मध्य प्रदेश

१. अश्क जी के नये कथा संग्रह 'आकाशचारी' की तीसरी कहानी।

के युवा आलोचक श्री धनंजय वर्मा ने इस कहानी की प्रशंसा करते हुए इसकी बड़ी दिलचस्प व्याख्या की—कि पुराने कथाकार कानेतकर की तरह नयी कहानी के पीछे जान पर खेल रहे हैं, पर नयी कहानी उनको ओर से नितान्त उदासीन है।—हालाकि व्यंग्य मुझ पर भी था, मुझे यह व्याख्या वडी अच्छी लगी। यदि यह फ़िनामिना सच भी हो तो उससे कहानी के मूल-विचार में कोई अंतर नहीं पड़ता। मुझे खुशी है कि उन्होने इसके मर्म के एक अंग को पकड़ा। मैंने शाम की उस उदासीनता से प्रभावित होकर ही कहानी लिखी थी, पर कहानी के कई कोण है। कानेतकर उसका एक कोण है, टैरिस पर बैठी लड़की दूसरा और उदासीन शाम तीसरा। पाठक उससे अपने-अपने अर्थ निकाल सकते है।

लेकिन यदि नयी पीढ़ी का कोई युवा लेखक इस कहानी को पढ कर मुझ पर यह इल्ज़ाम लगाये कि मैंने सदियो पुरानी थीम पर कहानी लिखी है (बासी कढी का उबाल तो उसमें है ही) और आधुनिक भाव-बोध मुझे छू नही गया तो मै अपना गुनाह स्वीकार कर लूँगा। नयी पीढी के उस असन्तुष्ट प्रतिनिधि से मै केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि प्रोफ़ेसर कानेतकर की लोलुपता और टैरिस पर बैठी हुई लड़की की उदासीनता उतनी ही पुरानी और नयी है, जितनी कि प्रकृति और जितना कि मानव। ...और जहाँ तात्कालिक समस्याएँ और स्थितियाँ मेरा ध्यान अपनी ओर खीचती है, वहाँ यह आदिम (और कहूँ कि शाश्वत) समस्याएं और स्थितियाँ भी बराबर मुझे कोचतो है और जब कोई ऐसी स्थिति मुझे परेशान कर देती है तो उसका चित्रण करना मै गुनाह नही समझता। मेरे दूसरे हिन्दी कहानी संग्रह 'अंकुर' की 'अकुर;' आठवें कथा-संग्रह 'पलँग' की 'बेवसी;' मेरे और नवीनतम संग्रह 'आकाशचारी' की 'मरना और मरना' ऐसी ही कहानियाँ है। जो पाठक अथवा आलोचक उनमें केवल अश्लीलता अथवा वीभत्सता पाते है, उनसे मुझे कुछ नही कहना, पर जिन्दगी को देखने और जानने की इच्छा रखने वाले उन्हें ध्यान से पढ़ेंगे तो पायेंगे कि 'अंकुर' में यद्यपि अनमिल विवाह की थीम पुरानी है, पर सँकरी के मन में (वच्ची की माँ बन जाने के बावजूद) सेक्स के अंकुर का प्रस्फुटन और उसका चित्रण नया है। 'बेबसो' में मैंने मानव की उस स्थिति को लिया है, जब उसके पेट के लिए रोटी, तन के लिए कपड़ा और सिर के लिए छत मिल जाती है और परोक्ष रूप से प्रश्न उठाया है—क्या इतना ही पर्याप्त है ? और दिखाया है कि इसके वाद उसमें ऐसी भूख जग सकती है, जिसके लिए वह तीनो को नकार दे। 'मरना और मरना' में मैंने जवानी के उत्तप्त सेक्स को बुढापे और मृत्यु के सेक्स की

तुलना मे रख कर वताने का प्रयास किया है कि मौत को जान-समझ कर ही ठीक से जिया जा सकता है, वरना आदमी जीते जी मर जाता है।....जिन पाठकों ने मेरी ऐसी कहानियों को पुरानी अथवा उद्देश्यहीन वताया है, उनसे निवेदन है कि ऐसी कहानियाँ लिखना मै गुनाह नही समझता।

१७-६-६५

●

अनुक्रमणिका-१

●

• • •

अश्क का कथा साहित्य

अश्क जी गत चालीस वर्षों से कथा-साहित्य में योग देते आ रहे हैं। अपने चालीस वर्षों के कथा-लेखन में उन्होंने सभी मुख्य प्रवृत्तियों को आत्मसात किया है और इसीलिए वे ही एकमात्र ऐसे कथाकार हैं जो आज भी नये-से-नये कथाकारों के साथ हैं।

सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ
१५ : ००
छींटे
५ : ००
काले साहब
३ : ५०
दो धारा
३ : ५०
पिंजरा
३ : ५०
बैंगन का पौधा
३ : ५०
लेखिका और जेहलम के सात पुल
३ : ५०
अश्क की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ
३ : ००
पलँग
३ : ७५
और अब १९६६ में प्रकाशित
अश्क जी का सर्वथा नया
कहानी संग्रह
आकाशचारी
३ : ५०